भाव केवलज्ञान आदि रूप है। सिद्धो मे किसी प्रकार का भेद नही होने के कारण यह भेद एक ही प्रकार का है।

पचसयोगी सान्निपातिक भाव सिर्फ उपशम श्रेणि वाले मनुष्यो मे होता है—'नराण पणजोगुवसमसेढीए' अतएव यह एक ही प्रकार का है। इस पचसयोगी भेद में से उपशम श्रेणि वाले मनुष्या मे क्षायिक भाव सम्यक्त्व रूप, औपशमिक भाव चारित्र रूप, क्षायोपशमिक भाव भावेन्द्रिय आदि रूप, पारिणामिक भाव जीवत्व आदि रूप और औदयिक भाव लेश्या आदि रूप है।

इस प्रकार छह सान्निपातिक भाव जीवो मे सम्भव हैं। इनके स्थानभेद से पन्द्रह भेद हो जाते है। यहा जिज्ञासु शका प्रस्तुत करता है कि पहले तो सान्निपातिक भाव के छब्बीस भेद बताये व यहाँ पन्द्रह भेद और बतलाये अतएव इन पन्द्रह भेदो को बीस भेदो मे मिलाने पर पतीस भेद हो जाते हैं। इस भिन्नता का कारण क्या है? इसका समाधान यह है कि मूल मे तो द्विसयोगी आदि छह भेद है। एक द्विसयोगी, दो त्रिसयोगी, दो चतुसयोगी, एक पचसयोगी, किन्तु गतिया की अपेक्षा उनका विचार करने पर स्थानभेद से पन्द्रह भेद हो जाते हैं। इसलिए मूल छह भेदो को बीस भेदो के साथ जोडने पर सान्निपातिक भाव के कुल छब्बीस भेद होते है। इसम किसी प्रकार का विरोध नही है।

इस प्रकार से औपशमिक आदि भावो का वर्णन करने के पश्चात् अब आगे की गाथा म कर्म व धर्मास्तिकाय आदि अजीव द्रव्यो मे भावो का विचार करते हैं।

कर्म व अजीव द्रव्यों मे भाव

मोहेव समो मीसो चउघाइसु अट्ठकम्मसु य सेसा।
धम्माइ पारिणामिय भावे खधा उदइए वि ॥६९॥

शब्दार्थ—मोहेव—मोहनीय मे ही, समो—उपशम, मीसो—क्षयोपशम, चउघाइसु—चार घाति कर्मों मे, अट्ठकम्मसु—आठ कर्मों मे, य—और, सेसा—बाकी के, धम्माइ—धर्मास्तिकाय आदि, पारिणामिय—पारिणामिक, भावे—भाव, खंधा—स्कन्ध (पुद्गल), उदइए—औदयिक भाव, वि—भी।

गाथार्थ—मोहनीय कर्म में ही उपशम भाव होता है। चार घाति कर्मों मे क्षायोपशमिक भाव और आठ कर्मों मे शेष (औदयिक, क्षायिक और पारिणामिक) भाव होते हैं। धर्मास्तिकाय आदि पाँच अजीव द्रव्यों मे पारिणामिक भाव होता है किन्तु पुद्गल स्कन्ध मे औदयिक भाव भी पाया जाता है।

विशेषार्थ—गाथा में आठ कर्मों और धर्मास्तिकाय आदि पाँच द्रव्यो मे औपशमिक आदि भावो मे से कौन-कौन से भाव पाये जाते हैं, उनको बतलाया है।

सर्वप्रथम मोहनीय कर्म मे पाये जाने वाले भाव का संकेत करते हुए कहा है कि 'मोहेव समो' मोहनीय कर्म मे सिर्फ औपशमिक भाव पाया जाता है। क्योंकि मोहनीय कर्म के सिवाय अन्य कर्मों की उपशम अवस्था नही होती है। इसीलिये औपशमिक भाव[1] मोहनीय कर्म मे कहा गया है। क्षायोपशमिक भाव चार घाति कर्मों में पाया जाता है—'मीसो चउघाइसु।' लेकिन इतनी विशेषता है कि केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण इन दो घाति कर्मों के विपाकोदय का निरोध नही होने के कारण क्षयोपशम नही होता है। शेष

---

१ औपशमिक शब्द के दो अर्थ है—(१) कर्म की उपशम आदि अवस्थाये औपशमिक भाव है, यह अर्थ कर्म के भावो पर लागू पड़ता है। (२) कर्म की उपशम आदि अवस्थाओ से होने वाली पर्याय औपशमिक आदि भाव है, यह अर्थ जीव के भावो पर लागू पडता है।

तीनो भाव—क्षायिक, पारिणामिक और औदयिक आठो कर्मों के हैं। क्योंकि क्षय, परिणमन और उदय यह तीनो अवस्थाये आठो कर्मों की होती हैं।[1] साराश यह है कि मोहनीय कर्म के पाचो भाव, मोहनीय के सिवाय तीन घाति कर्मों के चार भाव और चार अघाति कर्मों के तीन भाव है।

कर्मों मे भावो का कथन करने के बाद अब धर्मास्तिकाय आदि पाँच अजीव द्रव्यो मे भावो को बतलाते हैं।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और पुद्गलास्तिकाय ये पाच अजीव द्रव्य हैं।[2] इन सभी मे सामान्यतया पारिणामिक भाव[3] तो पाया ही जाता है, लेकिन पुद्गलास्तिकाय की यह विशेषता है कि उसमे औदयिक भाव भी है। अर्थात् धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल इन चार अजीव द्रव्यो मे पारिणामिक भाव ही पाया जाता है और पुद्गलास्तिकाय मे पारिणामिक और औदयिक यह दो भाव हैं। जिसका स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है।

---

१ पचसग्रह ३।२५ मे भी कर्मों के भावो के लिये इसी प्रकार बताया है—

मोहस्सेव उवसमो खाओवसमो चउण्ह घाईण।
खय परिणामिय उदया अट्ठण्हवि होति कम्माण ॥

२ अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला। कालश्चेत्येके।

—तत्त्वार्थसूत्र ५।१, ३८

३ पारिणामिक शब्द का अर्थ स्वरूप परिणमन है। यह अर्थ सब द्रव्यो मे घटित होता है। जैसे कर्म का जीव प्रदेशो के साथ सम्बन्ध होना, द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव आदि भिन्न भिन्न निमित्त पाकर अनेक रूप मे परिवर्तित होते रहना कर्म का पारिणामिक भाव है। जीव का परिणमन जीवत्व रूप मे होना धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यो का गति सहायक आदि रूप मे होना।

धर्मास्तिकाय जीव, पुद्‌गलों की गति में सहायक बनने रूप अपने कार्य में अनादि काल से परिणत हुआ करता है। इसीलिये उसमें सिर्फ पारिणामिक भाव माना है। इसी प्रकार से अधर्मास्तिकाय स्थिति में सहायक बनने के रूप कार्य में, आकाशास्तिकाय अवकाश देने रूप कार्य में और काल समयपर्याय रूप स्वकार्य में अनादि काल से परिणमन करता आ रहा है। ये चारों द्रव्य स्वकार्य-मर्यादा के अलावा अन्य कोई कार्य नहीं करते हैं।

पुद्‌गलास्तिकाय में पारिणामिक और औदयिक, यह दो भाव हैं। सो पुद्‌गल के परमाणु और स्कंध रूप पर्यायों के होने की अपेक्षा से हैं। परमाणु पुद्‌गल में तो केवल पारिणामिक भाव होता है किन्तु स्कंध रूप पुद्‌गल पारिणामिक और औदयिक ये दो भाव वाले हैं। स्कन्धों में भी द्व्यणुक आदि स्कंध स्व-स्वरूप में परिणत होते रहने के कारण पारिणामिक भाव वाले हैं और औदारिक आदि शरीर रूप स्कंध पारिणामिक, औदयिक दो भाव युक्त हैं। औदारिक आदि शरीर औदारिक आदि शरीर नामकर्म के उदयजन्य होने के कारण औदयिक भाव वाले हैं।

पुद्‌गल द्रव्य में जो दो भाव कहे हैं सो कर्म-पुद्‌गल से भिन्न पुद्‌गल के समझना चाहिए। क्योंकि यह पूर्व में बताया जा चुका है कि—कर्म-पुद्‌गल के तो औपशमिक आदि पांचों भाव होते हैं।

अजीव द्रव्यों में भावों के सम्बन्ध में उक्त कथन का सारांश यह है कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्‌गलास्तिकाय और काल ये पांच अजीव द्रव्य हैं। पुद्‌गलास्तिकाय के सिवाय शेष चार अजीव द्रव्यों में पारिणामिक भाव इस प्रकार होता है—धर्मास्तिकाय जीव और पुद्‌गलों की गति में, अधर्मास्तिकाय जीव और पुद्‌गल की स्थिति में सहायक होने का कार्य अनादि काल से कर रहा है। आकाशास्तिकाय जीव और पुद्‌गल द्रव्य को अवकाश देने रूप

काय मे और काल समयपर्याय रूप स्वकाय मे परिणमन कर रहे हैं। इसीलिये इन चारो मे अनादि पारिणामिक भाव है।

पुद्गल मे पारिणामिक और औदयिक ये दो भाव हैं। पारिणामिक भाव के दो भेद हैं—सादि पारिणामिक और अनादि पारिणामिक। द्वयणुक आदि स्कध मे सादि काल से उस उस भाव म परिणत होन से सादि पारिणामिक भाव जबकि मेरु आदि, शाश्वत पदार्थों म अनादि काल स उस भाव म परिणत होते रहने के कारण अनादि पारिणामिक भाव होता है। औदारिक आदि शरीर नामकर्म आदि के उदय ये ग्रहण किये हुए अन त पुद्गल परमाणु वाले स्कन्धा तथा उनमे होन वाले अगोपाग आदि आकार और वर्णादि मे औदयिक और पारिणामिक भाव है। क्याकि ये स्व-स्वभाव मे परिणत होन से पारिणामिक भाव और औदारिक आदि शरीर नामकर्मजन्य होने से औदयिक भाव वाले हैं। जीव जिन्हे ग्रहण नही कर सकता ऐसे द्वि अणुक आदि स्कधा मे जो वृद्धि ह्रास होता है उसमे तो सादि पारिणामिक भाव घटता है। जीव जिसको ग्रहण कर सकता है ऐस स्कधा म ही औदयिक भाव है। कार्मण वर्गणा के पुद्गल स्कधा म औपशमिक आदि भाव पाये जाते हैं, अन उनकी यहाँ विवक्षा नही की है।

इस प्रकार से कर्म और अजीव द्रव्या म भावा का कथन करन के बाद गुणस्थानो म भावा का निरूपण करते हैं।

सम्माइचउसु तिग चउ भावा चउ पणुवसामगुवसते।
चउ खीणापुव्वि तिन्नि सेसगुणट्ठाणगेगजिए ॥७०॥

शब्दार्थ—सम्माइ—अविरति सम्यग्दृष्टि आदि, चउसु—चार गुणस्थाना म तिग चउभावा—तीन अथवा चार भाव, चउपण—चार या पाँच उवसामग—उपशमक म (नोवें दसवें गुणस्थान म), उवसत—उपशान्तमोह म, चउ—चार, खीणा—क्षीणमोह म



पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव आशुकविरत्न
मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमल जी महाराज



सम्पादकीय

जनदर्शन को समझने की कुंजी है—कर्मसिद्धान्त। यह निश्चित है कि समग्र दर्शन एवं तत्त्वज्ञान का आधार है आत्मा की विविध दशाओं स्वरूपों का विवेचन एवं उसके परिवर्तनों का रहस्य उद्घाटित करता है 'कर्मसिद्धान्त'। इसलिये जनदर्शन को समझने के लिए कर्मसिद्धान्त को समझना अनिवार्य है।

कर्मसिद्धान्त का विवेचन करने वाले प्रमुख ग्रन्थों में 'श्रीमद् देवेन्द्रसूरि रचित' कर्मग्रन्थ अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। जन साहित्य में इनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। तत्त्वजिज्ञासु भी कर्मग्रन्थों को आगम की तरह प्रतिदिन अध्ययन एवं स्वाध्याय की वस्तु मानते हैं।

कर्मग्रन्थों की संस्कृत टीकाएं बडी महत्त्वपूर्ण हैं। इनके कई गुजराती अनुवाद भी हो चुके हैं। हिन्दी में कर्मग्रन्थों का सर्वप्रथम विवेचन प्रस्तुत किया था विद्वद्वरेण्य मनीषी प्रवर महाप्राज्ञ प० सुखलालजी ने। उनकी शैली तुलनात्मक एवं विद्वत्ताप्रधान है। प० सुखलालजी का विवेचन आज प्रायः दुष्प्राप्य सा है। कुछ समय से आशुकविरत्न गुरुदेव श्री मरुधर केसरीजी महाराज की प्रेरणा मिल रही थी कि कर्मग्रन्थों का आधुनिक शैली में विवेचन प्रस्तुत करना चाहिए। उनकी प्रेरणा एवं निर्देशन से यह सम्पादन प्रारम्भ हुआ। विद्याविनोदी श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा से यह कार्य बडी गति के साथ आगे बढ़ता गया। श्री देवकुमार जी जन का सहयोग मिला और कार्य कुछ ही समय में आकार धारण करने योग्य बन गया।

इस संपादन कार्य में जिन प्राचीन ग्रन्थ लेखकों, टीकाकारों विवेचन कर्ताओं तथा विशेषत प० सुखलाल जी के ग्रन्थों का सहयोग प्राप्त हुआ

और इतने गहन ग्रन्थ का विवेचन सहजगम्य बन सका। मैं उक्त सभी विद्वानो का असीम कृतज्ञता के साथ आभार मानता हूँ।

श्रद्धेय श्री मरुधरकेसरी जी महाराज का समय-समय पर मार्गदर्शन, श्री रजत-मुनिजी एव श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा एव साहित्यसमिति के अधिकारियो का सहयोग, विशेषकर समिति के व्यवस्थापक श्री सुजानमल जी सेठिया की सहृदयता पूर्ण प्रेरणा व सहकार से ग्रन्थ के सपादन-प्रकाशन मे गतिशीलता आई है, मै हृदय से आभार स्वीकार करूँ—यह सर्वथा योग्य ही होगा।

विवेचन मे कही त्रुटि, सैद्धान्तिक भूल, अस्पष्टता तथा मुद्रण आदि मे अशुद्धि रही हो तो उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ और, हस-बुद्धि पाठको से अपेक्षा है कि वे स्नेहपूर्वक सूचित कर अनुगृहीत करेंगे। भूल सुधार एवं प्रमाद-परिहार मे सहयोगी बनने वाले अभिनन्दनीय होते है। बस इसी अनुरोध के साथ—

विनीत

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'



आ मु ख

जैनदर्शन के सम्पूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र शक्ति है। अपने सुख-दुःख का निर्माता भी वही है और उसका फल भोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वयं में अमूर्त है, परम विशुद्ध है, किन्तु वह शरीर के साथ मूर्तिमान बनकर अशुद्ध दशा में संसार में परिभ्रमण कर रहा है। स्वयं परम आनन्दस्वरूप होने पर भी सुख-दुःख के चक्र में पिस रहा है। अजर अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रवाह में बह रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्तिसम्पन्न है वही दीन-हीन, दुःखी दरिद्र के रूप में संसार में यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है?

जैनदर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को संसार में भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है; कम्मं च जाई मरणस्स मूलं—भगवान श्री महावीर का यह कथन अक्षरशः सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटनाचक्रों में प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनों ने इस विश्ववैचित्र्य एवं सुख-दुःख का कारण जहाँ ईश्वर को माना है, वहाँ जैनदर्शन ने समस्त सुख-दुःख एवं विश्ववैचित्र्य का कारण मूलतः जीव एवं उसका मुख्य सहायक कर्म माना है। कर्म स्वतन्त्र रूप से कोई शक्ति नहीं है, वह स्वयं में पुद्गल है, जड़ है। किन्तु राग-द्वेष वशवर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने बलवान और शक्तिसम्पन्न बन जाते हैं कि कर्ता को भी अपने बंधन में बाँध लेते हैं। मालिक को भी नौकर की तरह नचाते हैं। यह कर्म की बड़ी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त परिवर्तनों का यह मुख्य बीज कर्म क्या है? इसका स्वरूप क्या है? इसके विविध परिणाम कैसे होते हैं? यह बड़ा ही गम्भीर विषय है।

जैनदर्शन मे कर्म का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यन्त गहन विवेचन जैन आगमो मे और उत्तरवर्ती ग्रन्थो मे प्राप्त होता है। वह प्राकृत एव सस्कृत भाषा मे होने के कारण विद्वद्भोग्य तो है, पर साधारण जिज्ञासु के लिए दुर्बोध है। थोकडो मे कर्मसिद्धान्त के विविध स्वरूप का वर्णन प्राचीन आचार्यो ने गूथा है, कठस्थ करने पर साधारण तत्त्व-जिज्ञासु के लिए अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है।

कर्मसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थो मे कर्मग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रीमद् देवेन्द्रसूरि रचित इसके पाच भाग अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। इनमे जैनदर्शन-सम्मत समस्त कर्मवाद, गुणस्थान, मार्गणा, जीव, अजीव के भेद-प्रभेद आदि समस्त जैनदर्शन का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है। ग्रन्थ जटिल प्राकृत भाषा मे है और इसकी सस्कृत मे अनेक टीकाएँ भी प्रसिद्ध है। गुजराती मे भी इसका विवेचन काफी प्रसिद्ध है। हिन्दी भाषा मे इस पर विवेचन प्रसिद्ध विद्वान् मनीषी प० सुखलाल जी ने लगभग ४० वर्ष पूर्व तैयार किया था।

वर्तमान मे कर्मग्रन्थ का हिन्दी विवेचन दुष्प्राप्य हो रहा था, फिर इस समय तक विवेचन की शैली मे भी काफी परिवर्तन आ गया। अनेक तत्त्व-जिज्ञासु मुनिवर एव श्रद्धालु श्रावक परमश्रद्धेय गुरुदेव मरुधर केसरी जी महाराज साहब से कई वर्षो से प्रार्थना कर रहे थे कि कर्मग्रन्थ जैसे विशाल और गम्भीर ग्रन्थ का नये ढग से विवेचन एव प्रकाशन होना चाहिए। आप जैसे समर्थ शास्त्रज्ञ विद्वान एव महास्थविर सत ही इस अत्यन्त श्रमसाध्य एव व्यय-साध्य कार्य को सम्पन्न करा सकते है। गुरुदेव श्री का भी इस ओर आकर्षण था। शरीर काफी वृद्ध हो चुका है। इसमे भी लम्बे-लम्बे विहार और अनेक संस्थाओ व कार्यक्रमो का आयोजन। व्यस्त जीवन मे आप १०-१२ घटा से अधिक समय तक आज भी शास्त्रस्वाध्याय, साहित्य-सर्जन आदि मे लीन रहते है। गत वर्ष गुरुदेव श्री ने इस कार्य को आगे बढाने का सकल्प किया। विवेचन लिखना प्रारम्भ किया। विवेचन को भाषा-शैली आदि दृष्टियो से सुन्दर एव रुचिकर बनाने तथा फुटनोट, आगमो के उद्धरण सकलन, भूमिका लेखन आदि कार्यो का दायित्व प्रसिद्ध विद्वान श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को सौंपा गया। श्री सुराना जी गुरुदेव श्री के साहित्य एव विचारो से अतिनिकट सम्पर्क मे है। गुरुदेव के निर्देशन मे उन्होने अत्यधिक श्रम करके यह विद्वत्तापूर्ण तथा सर्व-साधारण जन के लिए उपयोगी विवेचन तैयार किया है। इस विवेचन मे एक

दीपवालो? अभाव की पूर्ति हो रही है। साथ ही समाज को एक सास्कृतिक एव दार्शनिक निधि उस रूप म मिल रही है, यह अत्यधिक प्रसन्नता की बात है।

मुझे इस विषय म विशेष रुचि है। मैं गुरुजन को तथा सपादक बधुओ को इसकी सपूर्ति के लिए समय-समय पर प्रेरित करता रहा। प्रथम द्वितीय व तृतीय भाग के पश्चात् यह चतुर्थ भाग आज जनता के समक्ष आ रहा है। इसको मुझे हार्दिक प्रसन्नता है।

पहले के तीन भाग जिज्ञासु पाठको न पसन्द किय है उनक तत्त्वज्ञान-वृद्धि म व सहायक बने हैं, ऐसी सूचनाए मिली हैं। यह चतुर्थ भाग पहले क तीन भागो से भी अधिक विस्तृत बना है, विषय गहन है, गहन विषय की स्पष्टता के लिए विस्तार भी आवश्यक हो जाता है विद्वान् सपादक बधुओ ने काफी श्रम और अनेक ग्रन्थो के पर्यालोचन से विषय का तलस्पर्शी विवेचन किया है। आशा है, यह जिज्ञासु पाठको की ज्ञानवृद्धि का हेतुभूत बनेगा।

—मुकन मुनि

प्रकाशकीय

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति के विभिन्न उद्देश्यो मे एक प्रमुख एव रचनात्मक उद्देश्य है—जैनधर्म एव दर्शन से सम्बन्धित साहित्य का प्रकाशन करना। सस्था के मार्गदर्शक परमश्रद्धेय श्री मरुधरकेसरीजी महाराज स्वय एक महान विद्वान्, आशुकवि तथा जैन आगम तथा दर्शन के मर्मज्ञ है और उन्ही के मार्गदर्शन मे सस्था की विभिन्न लोकोपकारी प्रवृत्तियां चल रही है। गुरुदेवश्री साहित्य के मर्मज्ञ भी हैं, अनुरागी भी है। उनकी प्रेरणा से अब तक हमने प्रवचन, जीवनचरित्र, काव्य, आगम तथा गम्भीर विवेचनात्मक ग्रन्थो का प्रकाशन किया है। अब विद्वानो एव तत्त्वजिज्ञासु पाठको के सामने हम उनका चिर प्रतीक्षित ग्रन्थ 'कर्मग्रन्थ' विवेचन युक्त प्रस्तुत कर रहे है।

कर्मग्रन्थ जैनदर्शन का एक महान ग्रन्थ है। इसमे जैन तत्त्वज्ञान का सर्वांग विवेचन समाया हुआ है। पूज्य गुरुदेव श्री के निर्देशन मे प्रसिद्ध लेखक-सपादक श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना एव उनके सहयोगी श्री देवकुमार जी जैन ने मिलकर इसका सुन्दर सम्पादन किया है। तपस्वीवर श्री रजतमुनि जी एव विद्याविनोदी श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा से यह विराट कार्य समय पर सुन्दर ढग से सम्पन्न हो रहा है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन रायचूर निवासी श्रीमान् पारसमलजी के अर्थसौजन्य से किया जा रहा है। हम सभी विद्वानो, मुनिवरो एव सहयोगी उदार गृहस्थो के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हुए आशा करते है कि अतिशीघ्र क्रमश अन्य भागो मे हम सम्पूर्ण कर्मग्रन्थ विवेचन युक्त पाठको की सेवा मे प्रस्तुत करेंगे। प्रथम, द्वितीय व तृतीय भाग कुछ समय पूर्व ही पाठको के हाथो मे पहुँच चुके है। विद्वानो एव जिज्ञासु पाठको ने उनका स्वागत किया है। अब यह चतुर्थ भाग पाठको के समक्ष प्रस्तुत है।

विनीत, मन्त्री—

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

आभार दर्शन

ग्रन्थ के प्रस्तुत चतुर्थ भाग के प्रकाशन कार्य में उदार अर्थसहयोग के रूप में श्रीमान् पारसमलजी मूथा एवं उनकी धर्मशीला मातेश्वरी श्रीमती सीरेकुंवरबाई ने जो हमारा उत्साहवर्धन किया है उसके लिए हम संस्था की तरफ से आपका आभार मानते हैं। आपका परिवार श्रद्धेय गुरुदेव श्री मरुधर केसरी जी महाराज साहब के प्रति अत्यन्त श्रद्धाशील है। दोनों—माता एवं पुत्र का जीवन समाज के लिए आदर्श एवं प्रेरक है। संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत है।

श्रीमती सीरेकुंवरबाई धर्मपत्नी श्रीमान् कालूरामजी मूथा रायचूर

श्रीमती सीरेकुंवर जी का जन्म पीपाड़ सीटी में श्रीमान् फूलचन्दजी बोथरा के सम्पन्न परिवार में हुआ। आपकी शिक्षा घर में हुई। बचपन से ही आप बड़ी ही दयालु व सरल स्वभावी हैं। धार्मिक प्रवृत्तियों में आपकी विशेष रुचि है। आपका विवाह श्रीमान् कालूराम जी मूथा, मालिया निवासी के साथ सम्पन्न हुआ।

प्राचीनकाल से राजस्थान के व्यापारी अपना व्यवसाय करने के लिए दक्षिण भारत में आये। श्रीमान् कालूराम जी साहब के पूर्वज भी अपना व्यवसाय करते दक्षिण भारत आये। उन्होंने हैदराबाद राज्य के प्रसिद्ध रायचूर जिले के कमलापुर में अपना व्यवसाय शुरू किया। व्यापारिक कुशलता के कारण आपको व्यापार में आशातीत सफलता मिली। संवत् २००४ में आपके सुपात्र सुपुत्र पारसमल जी मूथा ने कालूराम हस्तीमल के नाम से रायचूर नगर में स्थापित की। तब से आप रायचूर में ही स्थायीरूप से निवास कर रहे हैं।

श्रीमान् कालूराम जी का जब स्वर्गवास हुआ था उस समय श्रीमती सीरेकुंवर जी की आयु २५ वर्ष के करीब थी। आपने अपना सम्पूर्ण जीवन

धार्मिक निष्ठा एव अत्यन्त सादगी व सयम के साथ व्यतीत करना शुरु किया। आपके जीवन पर श्रीमद् राजचन्द जी के प्रवचनो का विशेष प्रभाव पडा है। अपना दैनिक जीवन चिन्तन-मनन और धर्म-चर्चाओ मे ही व्यतीत करते है। प्रतिवर्ष आप "अगास" भी जाया करते है। वहाँ रहकर तप, त्याग व धार्मिक चिन्तन-मनन के द्वारा अपनी आत्मा को उत्कृष्ट बनाने के लिए प्रयत्नशील रहते है।

अठाई, ग्यारह व पन्द्रह आदि की तपस्या आपने की है। वर्षीतप भी आपने सम्पन्न किया है। दान देने के लिए हमेशा तत्पर रहते है। आपने हजारो रुपये सुकृत कार्यों के लिए दान मे दिये है। आपने एक मकान पीपाड सिटी मे स्वाध्याय करने के लिए प्रदान किया है।

रायचूर की जैन महिलाओ मे आपका प्रमुख स्थान है। महिलाओ द्वारा आयोजित सभी धार्मिक प्रवृत्तियो मे बडी श्रद्धा व उमग के साथ भाग लेते है। आपका दैनिक जीवन सुव्यवस्थित व धर्ममय है। प्रतिदिन सामायिक करना, प्रवचन सुनने के लिए स्थानक मे जाना व मन्दिर मे दर्शनार्थ जाने मे ही अपना समय व्यतीत करते है। अभी आपकी उम्र ८० वर्ष की है। इस वृद्धावस्था मे भी आप नियमित रूप से अपनी सभी धार्मिक क्रियाएँ सम्पन्न करते है। धर्म पर आपकी अगाध व अटूट श्रद्धा है। आपने अनेक श्रद्धेय सत सतियो के दर्शनार्थ देश के विभिन्न प्रान्तो की यात्राएँ की है। प्रमुख तीर्थस्थानो की यात्राएँ भी आपने सम्पन्न की है। □

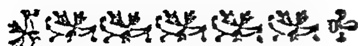
श्रीमान् सेठ पारसमल जी साहब मूथा

[सक्षिप्त परिचय]

श्रीमान् सेठ साहब के नाम से स्थानकवासी समाज परिचित ही है। आपका जन्म मादलिया मे हुआ। आपकी शिक्षा भी मादलिया मे ही सम्पन्न हुई। श्रद्धेय कालूराम जी साहब के कोई सन्तान न थी। उन्होने श्रीमान् हस्तीमल जी साहब को गोद लिया। श्री हस्तीमलजी ने श्रीमान् पारसमल जी साहब को गोद लिया। आप १५ वर्ष की उम्र मे ही बलगानूर आ गये। यहाँ अपनी व्यापारिक कुशलता से सफलता प्राप्त की। आपने ही रायचूर नगर मे २८ वर्ष पूर्व 'कालूराम हस्तीमल' नामक फर्म स्थापित की। तभी से आप स्थायी रूप से रायचूर मे निवास व व्यापार करते है।



धर्मप्रेमी उदारमना
श्रीमान पारसमल जी मुथा रायपुर



श्रीमान पारसमलजी मुथा की मातेश्वरी
धर्मशीला श्रीमती मीरेकवर बाई
[धर्मपत्नी स्व० सेठ श्रीकालूरामजी मुथा]



आप उत्साही और सुलझे हुए विचारों के श्रावक हैं। सामाजिक कार्यों को सम्पन्न कराने में आपकी विशेष रुचि है। समाज सेवा के कार्यों में हमेशा तत्पर रहते हैं। आप दक्षिण भारत में स्थानकवासी समाज के प्रतिष्ठित प्रतिनिधि हैं। अखिल भारतीय कान्फ्रेंस की वर्किंग कमेटी के आप सदस्य रहे हैं। कान्फ्रेंस को सक्रिय बनाने में आपकी विशेष रुचि है।

आपका व्यक्तिगत जीवन बहुत सादगी पूर्ण है। आप बड़े हसमुख और मिलनसार हैं। प्रतिदिन आप नियमित रूप से सामायिक करते हैं। समाज में विशेष अवसरों पर धार्मिक प्रवृत्तियों और क्रियाओं को सम्पन्न कराने में हमेशा तत्पर रहते हैं। समाज द्वारा सचालित संस्थाओं के आप सक्रिय सदस्य हैं। आप श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन एज्युकेशनल सोसायटी के मानद मंत्री हैं। आपके कार्यकाल में सोसायटी द्वारा संचालित श्री वर्धमान हिन्दी हाईस्कूल व मिडिल स्कूल ने आशातीत उन्नति की है।

आप प्रतिवर्ष हजारों रुपये सुकृत कार्यों के लिए व्यय करते रहते हैं। आप अपनी उदारता के लिए इस क्षेत्र में प्रसिद्ध हैं। रायचूर में जब अकाल पड़ा उस समय आपने नियमित रूप से गरीबों को भोजन कराया था।

गो-सेवा में आपकी विशेष रुचि है। स्थानीय गो-सदन के आप अध्यक्ष हैं। स्वधर्मी वात्सल्य के कार्यों में भी आप सक्रिय भाग लेते हैं। आपके सत्प्रयत्न से ही उपाध्याय प्यारचन्द जी स्वधर्मी-वात्सल्य फण्ड की स्थापना की गई है। उसके द्वारा प्रतिवर्ष स्वधर्मी भाइयों का आर्थिक सहयोग प्रदान किया जाता है।

आपका पारिवारिक जीवन बहुत सुखमय है। आपका विवाह श्रीमान अगरचन्द जी बोहरा की सुपुत्री सौ० कौ० श्रीमती चाँदबाई के साथ सम्पन्न हुआ। आपके तीन पुत्र व तीन पुत्रियाँ हैं। बड़ी सुपुत्री का विवाह बंगलोर निवासी श्रीमान सेठ मागीलाल जी गोटावत के पौत्र के साथ सम्पन्न हुआ है। समाज में प्रचलित कुक्रियाओं को बन्द कराने के लिए आप हमेशा तत्पर रहते हैं। समाज सुधार के कार्यों में सोत्साह भाग लेते हैं।

आपकी धर्म के प्रति अगाध व अटूट श्रद्धा है। आप प्रतिमास छः उपवास करते हैं। आप-आपी का जीवनपर्यन्त त्याग कर रखे हैं। इस प्रकार आप अपने जीवन में धार्मिक नियमों का नियमित रूप से पालन करते हैं। □

अनुक्रमणिका

मार्गणास्थान अधिकार

गुणस्थान अधिकार

प्रस्तावना

कमसाहित्य का उद्गम स्थान

जनदशन की तरह वदिक और बौद्ध दशन के साहित्य म कम सम्बन्धी विचार है पर वह इतना अल्प है कि उसका कोई मुख्य ग्रन्थ या साहित्य दृष्टिगोचर नही होता है। लकिन इसके विपरीत जनदशन म कम-सम्बन्धी विचार सूक्ष्म व्यवस्थित और अतिविस्तृत है और उन विचारो के प्रतिपादक शास्त्र को कमशास्त्र या कमविषयक साहित्य कहते हैं। उसने जन वाङमय के बहुत बडे भाग को रोक रखा है। यो तो जन वाङमय के सभी अगो म यथावकाश यत्किचित् न्यूनाधिक रूप म कम की चर्चा पाई जाती है, किन्तु उसके स्वतत्र ग्रन्थ भी अनेक हैं जिनम भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट कम सिद्धात का ही वणन किया गया है।

जन वाङमय म इस समय जो भी कमशास्त्र विद्यमान है। उसका साक्षात सम्बन्ध श्वताम्बर और दिगम्बर दोनो ही परम्परायें अग्रायणीय पूव के साथ बतलाती हैं। दोनो ही अग्रायणीय पूव का दृष्टिवाद नामक बारहवें अगान्तगत चौदह पूर्वों म से दूसरा पूव कहती हैं और साथ ही यह भी समान रूप से मानती है कि सारे अग और चौदह पूव, यह सब भगवान महावीर की सवज्ञ वाणी के आधार पर गणधरो द्वारा रचित है यानी ये सब उनकी वाणी के साक्षात फल हैं। इस मान्यता के अनुसार विद्यमान समस्त जन कमसाहित्य शब्द रूप से न सही, किन्तु भाव रूप म भगवान महावीर के उपदेश म प्राप्त सार है।

इसके साथ एक दूसरी यह भी मान्यता है कि वस्तुत सारे अग विषयें भाव रूप से कवल भगवान महावीर की पूवकालीन नहीं है अपितु पूव-पूव म हुए अन्यान्य तीर्थंकरो से भी पूवकाल की हैं। अतएव एक तरह से अनादि हैं और प्रवाह रूप म अनादि होने पर भी समय-समय पर होने वाले तीथकरो द्वारा उस पूव-पूव की अग विषयें नया-नया रूप धारण करती हैं।

कर्मसिद्धांत के अस्तित्व संबंधी उक्त श्रद्धामान्य स्थिति को जब तर्क की कसौटी पर परखते हैं तो इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जैन वाङ्मय में कर्म-शास्त्र का चिरकाल से स्थान है। इस शास्त्र में जो विचारों की गम्भीरता, शृंखलाबद्धता तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों के निरूपण की असाधारण पद्धति है, उसे देखते हुए यह माने बिना काम नहीं चलता है कि जैन वाङ्मय की विशिष्ट कर्मविद्या भगवान पार्श्वनाथ के भी पहले स्थिर हो चुकी थी और अग्रायणीय पूर्व तथा कर्मप्रवाद पूर्व के नाम से प्रसिद्ध हुई। पूर्व शब्द का मतलब भगवान महावीर के पहले से चले आने वाले शास्त्रविशेष हैं और ये शास्त्रविशेष—पूर्व-भगवान पार्श्वनाथ के पहले से भी एक या दूसरे रूप में प्रचलित रहे हैं।

यह तो निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि वर्तमान में जो भी जैन साहित्य है, वह सब भगवान महावीर की देन है। ऐतिहासिकों को भी यह मान्य है कि वर्तमान जैन आगमों के सभी विशिष्ट और मुख्य वाद भगवान महावीर के विचारों का कोष हैं। जैन शास्त्र के नयवाद, निक्षेपवाद, तत्त्ववाद आदि सिद्धांतों की तरह कर्मसिद्धांत का वार्तमानिक आविर्भाव भगवान महावीर की देशना द्वारा हुआ है। भगवान महावीर को निर्वाण प्राप्त किये आज २५०० वर्ष हो गये हैं, इसलिये जैनदर्शन के सिद्धांतों के आविर्भाव के होने के बारे में और इस समय में तो किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता है।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि भगवान महावीर की तरह उनसे भी पूर्व भगवान पार्श्वनाथ, नेमिनाथ आदि और तेईस तीर्थंकर इस अवसर्पिणीकाल में हो चुके हैं। वे भी जैनधर्म के प्रवर्तक थे। ऐतिहासिक भी इसको स्वीकार करते हैं। फिर जैनदर्शन के सिद्धांतों को सिर्फ भगवान महावीर की देन कहना और उसके समय प्रमाण को फिलहाल २५०० वर्ष की सीमा में सीमित करने का क्या कारण है? लेकिन उक्त तर्क के संदर्भ में यह भी नहीं भूलना चाहिए कि भगवान पार्श्वनाथ आदि जैनधर्म के मुख्य प्रवर्तक हुए हैं और उन्होंने जैन-शासन प्रवर्तित किया है। परन्तु जब हम अपने विचार अपने वर्तमान तक सीमित करते हैं और उसी से कालगणना की अवधि निर्धारित करना चाहते हैं तब यह तो मानना ही पड़ेगा कि वर्तमान जैन आगम जिन पर इस समय जैन शासन अवलंबित है, वे भगवान महावीर की देशना की संपत्ति हैं। इसीलिये जैनधर्म के आविर्भाव का काल भगवान महावीर के साथ संबद्ध कर लिया

गया है, लेकिन परम्परा की दृष्टि से प्रवाह रूप में उसका संबंध दूरातिदूर अतीत काल में हुए तीर्थंकरों से भी है।

जैनधर्म के जितने भी सिद्धांत, आचार विचार के सूत्र हैं, उनका मूल रूप में संकेत भगवान महावीर की देशना में हुआ है जिसे गणधरों ने शब्द संयोजना द्वारा सुरक्षित किया। इसके आधार से उत्तरवर्ती आचार्यों ने पल्लवित करके देशना के प्रत्येक अंग को समृद्धिशाली बनाया। जीवमात्र के लिये उपयोगी प्रत्येक विषय का दिग्दर्शन ग्रन्थों में किया गया है। समय के प्रभाव से एवं शाब्दिक संयोजना धारणा शक्ति, प्रतिपादन की शैली आदि के कारण मूल प्रवचन की भाषा व शैली से भिन्नता भी प्रतीत होती है, परन्तु इतना सुनिश्चित है कि मूल तत्त्वों और तत्त्वव्यवस्था में मूल देशना व उत्तरवर्ती आचार्यों की दृष्टि में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ा है।

हम यहाँ भगवान महावीर की देशना के सभी सिद्धांतों की पर्यालोचना न करके अभिप्रेत कर्मसिद्धांत के बारे में अपने विचारों को केन्द्रित करते हैं।

कर्मसिद्धांत का प्रयोजन

प्रायः सभी आस्तिकवादी दार्शनिकों ने कर्म के अस्तित्व को स्वीकार करके उसकी बध्यमान सत और उदयमान ये तीन अवस्थायें मानी हैं। इनके नामों में अन्तर भी हो सकता है लेकिन कर्म के बंध उदय व सत्ता के विषय में किसी प्रकार का विवाद नहीं है। लेकिन विवाद है कर्म के स्वयं जीव द्वारा फल भोगने में या दूसरे के द्वारा भोग कराये जाने में, जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व में और उसके सनातन रूप से बने रहने के विषय में।

कुछ तत्त्वचिन्तकों का मन्तव्य है कि जीव कर्म करने में तो स्वतन्त्र है लेकिन उसका फलभोग अन्य महाप्रभु ईश्वर द्वारा कराया जाता है। ईश्वर की आज्ञा से आत्मा अपने सुख-दुःख का वेदन करती है। इस ईश्वरकर्तृत्व की भावना से जन साधारण में भी यही धारणा बैठ गई थी कि जगत का उत्पादक ईश्वर है वही अच्छे-बुरे कर्मों का फल जीवों से भोगवाता है और कर्मों के जड़ होने से वे ईश्वर की प्रेरणा के बिना अपना फल नहीं दे सकते हैं आदि। दूसरे प्रकार के जो तत्त्वचिन्तक थे वे ईश्वर को तो कर्मभोग कराने में सहायक नहीं मानते थे किन्तु वे जीव को त्रिकालस्थायी तत्त्व न मानकर क्षणिक मानते हैं। तीसरे प्रकार के चिन्तकों द्वारा तो जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व

को भी अस्वीकार किया जाता है। उनकी दृष्टि मे पृथ्वी आदि पच भूतो के सयोग से उत्पन्न होने वाली विशिष्ट शक्ति का ही नाम जीव, आत्मा है। इसलिये न तो कर्म का भोग करने वाला कोई स्वतत्र जीव तत्त्व है और न कोई उसका भोग कराने वाला।

उक्त दृष्टिया एकागी थी और है। क्योकि कृतकृत्य ईश्वर को सृष्टि मे हस्तक्षेप करने से उसकी स्वतन्त्रता एव निष्पक्षता मे बाधा पडती है। स्वय जीव के आत्मस्वातत्र्य की हानि होती है। जीव को सिर्फ वर्तमान क्षणस्थायी मानने से कर्मविपाक की उपपत्ति नही बन सकती है कि जिस क्षण वाली आत्मा ने कर्म किया है, उसी क्षण वाली आत्मा को यह कर्म का फल मिल रहा है। जड पदार्थ बौद्धिक चेतना के अभाव मे फल भोग कर नही सकते है। यह कार्य तो कृतकर्मभोगी पुनर्जन्मवान स्थायीतत्त्व ही करता है।

इस प्रकार से त्रिकालस्थायी स्वतत्र जीव तत्त्व का अस्तित्व और उसे ही अपने सुख-दुःख का कर्ता-भोक्ता बताना ही कर्मसिद्धान्त का प्रयोजन है। जब यह निश्चित हो गया कि जीव कर्म का कर्ता-भोक्ता है तो वह कर्म का कर्ता कैसे है, कर्मफल का भोग कब होता है आदि का विचार किया गया। यह विचार ही कर्मसिद्धात मानने का मूल आधार है तथा विशेषताओ को प्रगट करता है।

कर्मतत्त्व सम्बन्धी विशेषताएँ

जैनदर्शन मे कर्म सिद्धात मानने के साथ उसके अथ से लेकर इति तक उठने वाले प्रश्नो का समाधान किया है। कुछ प्रश्न इस प्रकार है—

कर्म के साथ आत्मा का बध कैसे होता है ? किन कारणो से होता है ? किस कारण से कर्म मे कैसी शक्ति उत्पन्न होती है ? कर्म आत्मा के साथ कम-से-कम और अधिक-से-अधिक कितने समय तक लगा रहता है। आत्मा के साथ सबद्ध कर्म कितने समय तक फल देने मे असमर्थ है। कर्म का विपाकसमय बदला भी जा सकता है या नही। यदि बदला जा सकता है तो उसके लिये आत्मा के कैसे परिणाम आवश्यक है। कर्म की तीव्र शक्ति को मद शक्ति और मन्द शक्ति को तीव्र शक्ति मे रूपान्तरित करने वाले कौन से आत्मपरिणाम होते है, किस कर्म का विपाक किस हालत तक नियत और किस हालत मे अनियत है, आदि-आदि सख्यातीत प्रश्न जो कर्म से सम्बन्ध रखते है, उनका

सयुक्तिक, विस्तृत व विशद् खुलासा जैन कर्मसाहित्य में किया गया है। यही कर्म तत्त्व के सम्बन्ध में जैनदर्शन की विशेषताएँ हैं जो अन्य किसी भी साहित्य में देखने को नहीं मिलती हैं।

कर्मतत्त्व सम्बन्धी उक्त विशेषताओं का वर्णन करना जैन कर्मग्रन्थों का साध्य होने पर भी भगवान महावीर के समय से अब तक कर्मशास्त्र की जो उत्तरोत्तर संकलना होती आई है, उसके तीन विभाग किये जा सकते हैं—१ पूर्वात्मक कर्मसाहित्य, २ आकर रूप कर्मशास्त्र, ३ प्राकरणिक कर्मशास्त्र।

१ पूर्वात्मक कर्मशास्त्र—यह भाग सब से बड़ा और पहला तथा क्रमबद्ध व्यवस्थित है। क्योंकि इसका अस्तित्व तब तक माना जाता है जब तक कि पूर्व विद्या विच्छिन्न नहीं हुई थी। भगवान महावीर के बाद करीब ९०० या १००० वर्ष तक क्रमिक ह्रास के रूप में पूर्व विद्या का अस्तित्व रहा है। चौदह में से आठवां पूर्व—कर्मप्रवाद तो मुख्य रूप से कर्म विषयक ही था, परन्तु उसके सिवाय दूसरे अग्रायणीय पूर्व में भी कर्म का विचार करने के लिए कर्म प्राभृत नामक भाग था। लेकिन वर्तमान में उक्त पूर्वात्मक कर्मशास्त्र का मूल अंश विद्यमान नहीं है।

२ आकर कर्मशास्त्र—यह प्रथम विभाग से बहुत छोटा है किन्तु वर्तमान अभ्यासियों के लिये यह इतना बड़ा है कि उसे आकर कर्मशास्त्र कहना पड़ता है। इसमें पूर्व से उद्धृत अंश सुरक्षित है।

३ प्राकरणिक कर्मशास्त्र—यह तीसरी संकलना का फल है। इसमें कर्म विषयक छोटे-बड़े अनेक प्रकरण कर्मग्रन्थ सम्मिलित हैं। आजकल इन्हीं प्रकरण ग्रन्थों का अध्ययन—अध्यापन विशेषतया प्रचलित है। इन प्रकरण ग्रन्थों को पढ़ने के बाद जिज्ञासु अभ्यासी आकर ग्रन्थों को पढ़ते हैं। आकर ग्रन्थों में प्रवेश कराने की दृष्टि से प्राकरणिक ग्रन्थों का अपना महत्त्व है। यह विभाग विक्रम की आठवीं-नौवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी तक में पल्लवित हुआ। इन संकलनाओं में यह तो सम्भव है कि प्रयत्नलाघव और प्रतिपाद्य विषय के सभी अंशों को न लेकर कुछ एक अंशों को ग्रहण करने आदि के कारण कर्मशास्त्र का सर्वांग रूप अवयवों के रूप में पृथक्-पृथक् भागों में विभाजित हो गया। इस विभाजन से जहाँ पाठकों को कर्मशास्त्र के अभ्यास में सरलता हो गई वहीं समग्र शास्त्र का पूर्वापर सम्बन्धसूत्र खंडित हो गया। विषय की कुछ जानकारी हो जाने से ऊपरी तौर पर कर्मसिद्धान्त के स्थूल

अगों का ज्ञान करना पर्याप्त समझ लिया गया। जिससे कर्मसिद्धान्त के अध्ययन-अध्यापन मे व्यवधान आ गया।

सकलना के उक्त वर्गीकरण की तरह सम्प्रदायभेद के कारण भी जैन कर्मशास्त्र विभाजित-सा हो गया। भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् उनका शासन श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो शाखाओ मे बँट गया। सम्प्रदायभेद की नीव इतनी सुदृढ पडी कि भगवान महावीर का अनुयायी मानने मे गौरव का अनुभव करने वाले दोनो सम्प्रदाय के विद्वान, आचार्य आदि कर्मतत्त्व के बारे मे मिल-बैठकर विचार करने का भी अवसर न पा सके। दोनो ने इस ओर दृष्टि ही नही डाली। इसका परिणाम यह हुआ कि मूलविषय मे कुछ भी मतभेद न होने पर भी कुछ पारिभाषिक शब्दो, उनकी व्याख्याओ और कही-कही तात्पर्य मे भी थोडा-बहुत अतर आ गया। इसके साथ ही पूर्वगत कर्मसाहित्य के विलुप्त हो जाने तथा आकर ग्रथो मे क्रमबद्ध धारा का अभाव अथवा कही-कही विच्छिन्न हो जाने से भी चिन्तन मे मतभिन्नता आ गई।

यहाँ कुछ एक विषयो के बारे मे समान-असमान मतव्यो का तुलनात्मक विहगावलोकन करते है और उससे इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि साप्रदायिक भेद हो जाने तथा शास्त्रीय परम्परा का क्रम विच्छिन्न हो जाने जो दूरी और मतभिन्नता प्रतीत होती है, उसको यदि कर्मशास्त्र मे पारगत विद्वान अनुसधान करके शृंखलाबद्ध करें तो सभी मतभेद आपेक्षिक कथन जैसे प्रतीत होगे तथा ये आपेक्षिक कथन पूरक बनकर कर्मसाहित्य को व्यवस्थित और प्रौढ बनायेंगे। कर्मसाहित्य को व्यवस्थित करने के लिये आज का विद्वद्-वर्ग सहयोगी बने यही अपेक्षा है।

कर्मशास्त्रगत समान-असमान मंतव्य

जैन कर्मसाहित्य का मूलबिंदु एक होने पर भी कालप्रवाह से वैचारिक दृष्टिकोण की भिन्नता तथा पूर्वापर प्रवाहधारा मे से कुछ भाग के विच्छिन्न हो जाने से बहुत-सी बातें ऊपरी तौर पर भिन्न-सी प्रतीत होने लगी हैं। इन भिन्नताओ को श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदाय सम्बन्धी, विभिन्न आचार्यो के दृष्टिकोण सम्बन्धी तथा सिद्धात व कार्मग्रन्थिक—इन तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है। विस्तृत रूप मे विचार करने का यह अवसर न होने से

यहाँ इन तीनों पर संक्षेप में विचार करते हैं। सर्वप्रथम श्वेताम्बर दिगम्बर सम्प्रदाय सम्बन्धी समानताओं व असमानताओं का उल्लेख करते हैं।

कर्मप्रकृतियों के नामविषयक—श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों में कर्म की ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ मूल प्रकृतियाँ मानी हैं और उनके कथनक्रम सम्बन्धी उपपत्ति प्रायः समान है लेकिन दिगम्बरसम्प्रदाय में अघाती कर्म वेदनीय का घाती कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण के बाद और मोहनीय के पहले तथा घातीकर्म अंतराय को नाम गोत्र अघाति कर्मों के पश्चात् कहने का कारण यह बतलाया है कि वेदनीय कर्म मोहनीय के बल पर अपना कार्य करता है तथा अंतराय कर्म घातिकर्म है लेकिन जीव के गुण का सर्वथा घात करने में असमर्थ होने से वेदनीय को घाती कर्मों के साथ और अन्तराय को अघाती कर्मों के साथ क्रम में रखा है। यह क्रमसम्बन्धी कथन एक नये दृष्टिकोण का प्रस्तुत करता है, अतः इसे मतभिन्नता न मानकर विचार दृष्टि डालने का पक्ष मान सकते हैं।

दोनों सम्प्रदायों में आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियों के नाम लगभग समान हैं। प्रत्येक मूल कर्म की उत्तर प्रकृतियों की संख्या भी समान है लेकिन कुछ नाम ऐसे हैं जिनके नामों में दिगम्बर सम्प्रदाय में परिवर्तन देखा जाता है। जैसे कि सादि संस्थान के लिये स्वाति संस्थान, कीलिका संहनन के लिये कीलित संहनन सेवार्त संहनन के लिये असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, ऋषभनाराच संहनन के लिये वज्रनाराच संहनन कहा गया है।

कर्मप्रकृतियों की परिभाषाओं में अधिकांश अंशों में भी दोनों सम्प्रदाय के कर्म ग्रन्थों में समानता है। लेकिन कुछ एक प्रकृतियों की परिभाषाओं में भिन्नता है। जैसे अनादेय, अस्थिर, अशुभ, आदेय, आनुपूर्वी, गति, निर्माण, परघात, यशःकीर्ति, शुभ, स्थिर, जुगुप्सा, निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, सम्यक्त्व, सम्यग् मिथ्यात्व। इनकी परिभाषायें प्रथम कर्मग्रन्थ के परिशिष्ट में दी गई हैं।

कर्मग्रन्थों और दिगम्बर ग्रन्थों में कषायों के लिये जिन जिन पदार्थों की उपमा दी गई है वे सब एक से हैं लेकिन भेद इतना है कि प्रत्याख्यानावरण लोभ के लिए दिगम्बर ग्रन्थों में शरीर के मल की और कर्मग्रन्थ में काजल की उपमा दी है।

मिथ्यात्व मोहनीय के( )—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और

कल्पना के लिये श्वेताम्बर साहित्य मे कोदो के छाछ मे धोये और भूसे से रहित शुद्ध—सम्यक्त्व, भूसे सहित और न धोये हुए अशुद्ध मिथ्यात्व और कुछ धोय, कुछ न धोये दोनो के मिश्रण को अर्धविशुद्ध—मिश्र माना है। जबकि दिगम्बर साहित्य मे चक्की से दले हुए कोदो मे से जो भूसे के साथ हैं वे अशुद्ध मिथ्यात्व, जो भूसे से बिल्कुल रहित है वे शुद्ध—सम्यक्त्व और कण अर्धविशुद्ध—मिश्र माने है।

अपवर्त्य आयु का मतलब अकालमरण है जिसे दिगम्बर ग्रन्थो मे कदलीघातमरण भी कहा है।

श्वेताम्बर ग्रन्थो मे तेजस्काय को वैक्रिय शरीर नही माना है, पर दिगम्बर ग्रन्थो मे मानते हुए कहा है कि देव, नारको तथा किन्ही तेज:, वायु कायिक व पचेन्द्रिय तिर्यंच, मनुष्यो को वैक्रिय शरीर होता है। यह तेजस्कायिको मे लब्धिप्रत्ययिक है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की अपेक्षा दिगम्बर सम्प्रदाय मे सज्ञी-असज्ञी का व्यवहार कुछ भिन्न है। श्वेताम्बर ग्रन्थो मे हेतुवादोपदेशिकी आदि सज्ञाओ की अपेक्षा सज्ञित्व-असज्ञित्व का व्यवहार किया है और उनकी विशद व्याख्या भी की है, लेकिन दिगम्बर ग्रन्थो मे इनका वर्णन नही है तथा गर्भज तिर्यंचो को सज्ञी मात्र न मानकर सज्ञी-असज्ञी उभय रूप माना है। सज्ञी की व्याख्या इस प्रकार की है—जो भली प्रकार जानता है उसको सज्ञ अर्थात् मन कहते है और वह मन जिसके पाया जाता है वह संज्ञी है। श्वेताम्बर साहित्य मे दीर्घकालोपदेशिकी सज्ञा वालो को सज्ञी कहा है।

श्वेताम्बरसाहित्यप्रसिद्ध करणपर्याप्त शब्द के स्थान पर दिगम्बर शास्त्र मे निर्वृत्यपर्याप्त शब्द है। व्याख्या भी दोनो शब्दो की कुछ भिन्न है। दिगम्बर ग्रन्थो मे निर्वृत्यपर्याप्त का लक्षण इस प्रकार किया है—निर्वृति अर्थात् शरीर अतएव शरीरपर्याप्ति पूर्ण न होने तक जीव निर्वृत्यपर्याप्त है। श्वेताम्बरसाहित्य मे करण का अर्थ शरीर, इन्द्रिय आदि पर्याप्तिया है। अतएव जिसने शरीरपर्याप्ति पूर्ण की है किन्तु इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण नही की है, वह भी करण अपर्याप्त है।

श्वेताम्बर ग्रन्थो मे केवलज्ञान तथा केवलदर्शन का क्रमभावित्व,

सहभावित्व और अभेद ये तीन पक्ष हैं किन्तु दिगम्बर ग्रन्थों में सहभावित्व का एक ही पक्ष मान्य है।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में अपर्याप्त अवस्था में औपशमिक सम्यक्त्व पाए जाने और न पाए जाने के सम्बन्ध में दो पक्ष हैं। लेकिन दिगम्बर ग्रन्थों में सिर्फ पहला पक्ष—अपर्याप्त अवस्था में औपशमिक सम्यक्त्व पाए जाने का है।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में अज्ञानत्रिक में दो या तीन गुणस्थान माने जाने के दो पक्ष हैं। एक पक्ष पहला, दूसरा यह दो गुणस्थान और दूसरा पक्ष पहला, दूसरा, तीसरा यह तीन गुणस्थान मानता है। दो गुणस्थान मानने वालों का पक्ष है कि तीसरे गुणस्थान में शुद्ध सम्यक्त्व भले ही न हो लेकिन यथार्थज्ञान की शुद्ध मात्रा रहती है। तीन गुणस्थान मानने वाले पक्ष का मन्तव्य है कि तीसरे गुणस्थान में अज्ञानमिश्रित ज्ञान है शुद्ध नहीं अतः तीन गुणस्थान मानना चाहिये। लेकिन दिगम्बर ग्रन्थों में पहला, दूसरा यह दो गुणस्थान माने हैं।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में द्रव्यमन को शरीरव्यापी माना है जबकि दिगम्बर ग्रन्थों में उसका स्थान हृदय और आकार कमल जैसा माना है।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में मनपर्यायज्ञान में तेरह योग माने हैं जिनमें आहारकद्विक का समावेश है लेकिन दिगम्बर ग्रन्थों में उक्त आहारकद्विक योग को नहीं माना है। क्योंकि परिहारविशुद्धि चारित्र और मनपर्यायज्ञान के समय आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग नामकर्म का उदय नहीं होता है मनपर्यायज्ञान परिहारविशुद्धि संयम प्रथमोपशम सम्यक्त्व और आहारकद्विक, इन भावों में से किसी एक का उदय होने पर शेष भाव नहीं होते हैं।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में गुणस्थानों की व्याख्या ज्ञानादि गुणों की शुद्धि और अशुद्धि के न्यूनाधिक भाव से होने वाले जीव के स्वरूप की है जबकि दिगम्बर ग्रन्थों में दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के उदय आदि अवस्थाओं में होने वाले भावों में जीव का स्वरूप विशेष जाना जाता है अतः वे भाव गुणस्थान हैं—की है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर कर्मग्रन्थों में गुणस्थानों में बंधयोग्य प्रकृतियाँ समान मानी हैं लेकिन इतना अन्तर है कि दिगम्बर ग्रन्थों में सातवें गुणस्थान

मे ५६ प्रकृतियाँ और श्वेताम्बर कर्मग्रन्थो मे ५८ या ५९ यह दो विकल्प माने है।

कर्मग्रन्थ मे दूसरे गुणस्थान मे तीर्थंकर नामकर्म के सिवाय १४७ प्रकृतियो की सत्ता मानी है परन्तु दिगम्बर ग्रन्थो मे आहारकद्विक और तीर्थंकर इन तीन प्रकृतियो के सिवाय १४५ की सत्ता मानी है। साथ ही पांचवें गुणस्थान मे नरकायु व छठे-सातवे गुणस्थान मे नरकायु व तिर्यंचायु की सत्ता न मानने से क्रमश १४७ व १४६ प्रकृतियो की सत्ता मानी है। लेकिन कर्मग्रन्थ के अनुसार पांचवें गुणस्थान मे नरकायु की और छठे-सातवे गुणस्थान मे नरकायु व तिर्यंचायु की सत्ता भी हो सकती है।

कर्मग्रन्थो मे पृथ्वीकाय आदि मार्गणाओ मे विकल्प से ९६ व ९४ प्रकृतियो का बंध माना है, जबकि दिगम्बर ग्रन्थो मे सिर्फ ९४ प्रकृतियो का ही।

कर्मग्रन्थ मे आहारकमिश्र काययोग मे ६३ प्रकृतियो का और दिगम्बर ग्रन्थो मे ६२ प्रकृतियो का बंध माना है।

श्वेताम्बर साहित्य मे तेजस्कायिक, वायुकायिक जीवो को स्थावर नामकर्म का उदय होने पर भी गमन क्रिया रूप शक्ति होने से अपेक्षा रूप मे गति त्रस-लब्धित्रस माना है, किन्तु दिगम्बर ग्रन्थो मे उन्हे स्थावर ही कहा है। अपेक्षाविशेष से उन्हे त्रस नही माना है।

दूसरे गुणस्थान के समय ज्ञान तथा अज्ञान मानने वाले ऐसे दो पक्ष श्वेताम्बर ग्रन्थो मे है, लेकिन दिगम्बर ग्रन्थो मे अज्ञान का पक्ष स्वीकार किया है।

यहाँ पर श्वेताम्बर एव दिगम्बर कर्मग्रन्थो के दृष्टिकोण की कुछ भिन्नताओ को बतलाया है लेकिन समानताये इतनी अधिक है कि उक्त विभिन्नताओ का अपेक्षादृष्टि से विचार किया जाये तथा विशृखलित धारा को क्रमबद्ध रूप से सकलित किया जा सके तो ये भिन्नताये गुलदस्ते की शोभा धारण करने के साथ अध्यासियो के चिन्तन को विकासोन्मुखी बनाने मे सहायक बन सकेंगी। दोनो सम्प्रदायो के ग्रन्थो मे विभिन्नताये कम है और समानताये अधिक, अत अब सक्षेप मे समानताओ का सकेत करते है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर कर्मग्रन्थो मे जीव का स्वरूप, उपयोग का स्वरूप केवलज्ञानी के विषय मे सज्ञित्व-असज्ञित्व का व्यवहार, वायुकायिक जीवो के शरीर की ध्वजाकारता, छाद्मस्थिक के उपयोग का कालमान, भावलेश्या

कितनी प्रकृतियो का बंध कर सकते हैं लेकिन उसमें इस विषय का स्वतन्त्र रूप से संकेत नहीं है कि किस किस मार्गणास्थान में कितने कितने और कौन-कौन से गुणस्थान सम्भव है।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ में इस जिज्ञासा की पूर्ति करने के साथ साथ अन्य जिज्ञासाओं की भी पूर्ति की गई है। संसारी जीवों के तीन रूप हैं—पहला बाह्य शरीर दूसरा अंतरंग भावविशुद्धि की अल्पाधिकता और तीसरा दोनों का मिश्रित रूप। पहला रूप जीवस्थान है, दूसरा रूप गुणस्थान और तीसरा रूप मार्गणास्थान। संसारी जीव इन तीनों ही स्थान वाले हैं अतएव इनका पारस्परिक सम्बन्ध है और यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि जीवस्थानों में कितने गुणस्थान सम्भव है और गुणस्थानों में कितने जीवस्थान। इसी प्रकार योग उपयोग भाव आदि के बारे में भी जानने की उत्सुकता होती है। इन सब जिज्ञासाओं की पूर्ति इस चतुर्थ कर्मग्रन्थ के द्वारा करने का प्रयास हुआ है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि तीसरे कर्मग्रन्थ में मार्गणास्थानों का प्रतिपादन किया गया है अतः इसमें सिर्फ मार्गणास्थानों में गुणस्थानों का वर्णन कर दिया जाता तो परस्पर एक-दूसरे से संगति बनी रहती। क्योंकि जीवस्थानों का समावेश मार्गणास्थानों में अधिकतर हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि जैसे अन्य-अन्य नये विषयों का वर्णन ग्रन्थ में किया गया है वैसे ही सम्बन्धित और भी विषयों का भी प्रतिपादन कर दिया जाता तो पाठकों को सुविधा रहती। इन दोनों का समाधान यह है ग्रन्थकार विषयों की विविधता में से ग्रन्थमर्यादा के देखकर ही अपने योग्य विषयों का संकलन करने के लिए स्वतन्त्र है कि किन विषयों का वर्णन किया जाय। साथ ही यह भी सोचना पड़ता है पाठकों की ग्रहण शक्ति को लेकर ग्रन्थ का प्रणयन करने पर ही ग्रन्थ की उपयोगिता सिद्ध होती है। इन दोनों दृष्टियों को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार ने यहाँ विषयों का वर्णन किया है।

जिज्ञासापूर्ति के लिए सर्वप्रथम ग्रन्थ के जीवस्थान मार्गणास्थान और गुणस्थान यह तीन मुख्य विभाग किये हैं और उनमें से प्रत्येक में क्रमशः आठ छह और दस विषयों का वर्णन किया है। साथ ही प्रसंगवश भाव और संख्या का भी विचार किया है। उक्त तीन विभागों में कुल मिलाकर छब्बीस विषयों का प्रतिपादन किया है।

प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना हुई हे अत. उसके समान ही इसमे भी छियासी गाथाये हे। नवीन की तरह प्राचीन मे भी मुख्य अधिकार जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान हे और गौण अधिकार भी दोनो मे समान हे।

इस प्रकार से दोनो मे कुछ समानता होने पर भी नवीन कर्मग्रन्थ में वर्णन-शैली सक्षिप्त करके विपयो का वर्णन विस्तार से किया हे। नवीन चतुर्थ कर्म-ग्रन्थ का दूसरा नाम सूक्ष्मार्थविचार रखा, जवकि प्राचीन का नाम 'आगमिक वस्तुविचार' है। भाव और सख्या का विचार नवीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ मे है प्राचीन मे नही हे। प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ पर टीका, टिप्पण, विवरण, भाष्य आदि व्याख्याये नवीन की अपेक्षा अधिक है।

इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विपय का आधार आगम है। आगमो मे यत्र-तत्र विपयो का वर्णन मिलता हे तथा प्राचीन आचार्यों रचित पचसग्रह मे भी इन्ही विपयो का वर्णन किया गया। लेकिन जिस क्रम से यहाँ वर्णन है, उसी क्रम से आगमो या पचसग्रह मे नही हे। उनकी शैली अपनी है अत अभ्यासियो को पचसग्रह और आगम पाठो का अवलोकन करना चाहिये।

दिगम्वर साहित्य मे गोम्मटसार कर्म-विषयक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और उसके जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड यह दो मुख्य विभाग है। जीवकाण्ड मे चौथे कर्मग्रन्थ के विपयो का वर्णन किया गया हे, लेकिन उसकी शैली विस्तृत है और भिन्न भी। अनेक स्थलो मे मतभिन्नता भी देखने को मिलती है। फिर भी वह द्रष्टव्य है। जिससे अनेक वातो की जानकारी मिल सकती हे। बहुत-सी वातो मे समानता भी है और वहुत-सी वातो मे असमानता। साथ ही जैसे अनेक विशेप वाते श्वेताम्वरीय कर्मग्रन्थो मे लभ्य हे वैसे ही अनेक वाते दिगम्वरीय ग्रन्थो मे भी। इस कारण अभ्यासियो को तुलनात्मक अध्ययन करने, दोनो सम्प्रदाय के कर्मग्रन्थो का ज्ञान करने के लिए एक-दूसरे के ग्रन्थ देखना चाहिये।

ग्रन्थ मे यथास्थान आवश्यक स्पष्टीकरण के लिये आगम पाठो, पचसग्रह व गो० जीवकाण्ड के उद्धरण दिये हे लेकिन विशेष जानकारी के लिए उन-उन ग्रन्थो के वे स्थल देखना लाभदायक होगा।

विषय प्रवेश

प्रस्तुत ग्रन्थ का उद्देश्य यह है कि सासारिक जीवो की भिन्न भिन्न अवस्थाओ का वणन करके यह बताया जाये कि कौनसी अवस्थाय स्वाभाविक ह और कौनसी वभाविक, कौनसी उपादेय व स्थायी हैं और कौनसी हेय व अस्थायी हैं। इन सब अवस्थाओ म कसी-कसी स्थितियाँ बनती ह और विकास स्वभावी होन स अपने विकास के लिए जीव किस प्रकार प्रयत्न करके अपने लक्ष्य को प्राप्त करते ह।

इसी दृष्टि स ग्रन्थ के पाँच विभाग ह। जिनम जीवस्थान, मागणास्थान और गुणस्थान मुख्य हैं। इनम ससारी जीवो का आन्तरिक और बाह्य, सभी स्थितियो का विवरण स्पष्ट हो जाता ह। इस विवरण को बतान क लिए उप विभागो के रूप म योग, उपयोग, लेश्या, बध, उदय उदीरणा सत्ता, बधहेतुओ आदि का विचार किया गया है। इनके अतिरिक्त भाव और सख्या का वणन पृथक रूप स किया गया ह। यह वणन अन्य विषयो स मिश्रित और सम्बद्ध नही है, यानी इन्ह लेकर अन्य किसी विषय का वणन नही किया गया है। इस प्रकार कुल मिलाकर ग्रन्थ के पाच विभाग ह।

जीवस्थान के रूप म शारीरिक विकास और इन्द्रियो की न्यूनाधिकता का भान कराया है। ये कमकृत होन स हेय ह। मागणास्थान म जीव की स्वाभाविक-वभाविक अवस्थाओ का वणन है। इन मागणाओ म स कुछ अस्वाभाविक होन स हेय है तथा गुणस्थानो द्वारा आत्मा क उत्तरोत्तर विकास की सूचना मिलती है। भावो द्वारा क्षायिक भावो की उपादयता क अलावा अन्य भावो की हयता ज्ञात होती है। सम्बन्धित विशेष जानकारी ग्रन्थ म यथास्थान हो गई है अतएव पुनरावृत्ति न करके ग्रन्थ स ही पूरी जानकारी करन का अनुरोध करत हैं।

पूर्वोक्त समस्त कथन का साराश यह है कि कम साहित्य का तुलनात्मक दृष्टि म अध्ययन किया जाय और क्रमबद्ध रूप स एक क बाद दूसरे वण्य विषयो का ज्ञान किया जाय तो कमशास्त्र नीरस प्रतीत न होकर रुचिकर व आनन्ददायक होगा। सिद्धान्त को समझन म सरलता होगी और आध्यात्मिक

विकास को वेग मिलेगा। समव है जनसाधारण की अभी इस ओर दृष्टि न जाये लेकिन तत्त्वजिज्ञासु चिन्तको से यह अपेक्षा करते है कि वे कर्मग्रन्थो का अध्ययन मात्र अध्ययन व सामान्य जानकारी की दृष्टि से न करे, वल्कि सभी शास्त्रो मे पारगत वनने की दृष्टि से करें।

प्राक्कथन के रूप मे कुछ विचार रखे हैं। विज्ञेपु किमधिकम्।

सम्पादक
—श्रीचन्द सुराना
—देवकुमार जैन

कर्मग्रन्थ

[षडशीति—चतुर्थ कर्मग्रन्थ]

श्री वीतरागाय नम:

श्रीमद देवेन्द्रसूरि विरचित

षडशीति

[चतुर्थ कर्मग्रन्थ]

मंगलाचरण पूर्वक ग्रंथकार ग्रंथ के वर्ण्य-विषय का संकेत करते हैं—

नमिय जिणं जियमग्गणगुणठाणुवओगजोगलेसाओ ।
बन्धऽप्पबहूभावे संखिज्जाई किमवि वुच्छं ॥१॥

शब्दार्थ नमिय—नमस्कार करके जिणं—जिनवर देव को जियमग्गणगुणठाणुवओगजोगलेसाओ—जीव-मार्गणा गुणस्थान, उपयोग योग और लेश्या, बंधऽप्पबहू—बंध अल्पत्व-बहुत्व भाव—भाव संखिज्जाई—संख्या आदि किमवि—किंचित् (संक्षेप में) वुच्छं—कहूँगा ।

गाथार्थ—जिनेश्वर देव को नमस्कार करके जीवस्थान मार्गणास्थान, गुणस्थान, उपयोग, योग, लेश्या, बंध, अल्प-बहुत्व, भाव, संख्या आदि विषयों को संक्षेप में कहूँगा ।

विशेषार्थ—ग्रंथकार ने गाथा में जिनेश्वर देव को नमस्कार करते हुए ग्रंथ में प्रतिपादित किये जाने वाले विषयों का संकेत किया है। नमस्कार अपने से उच्च मंगलमय महापुरुषों को किया जाता है और यह नमस्कार, पुण्य-स्मरण सदैव सुख-शांति-सद्बोध प्राप्ति में सहायक होता है। इसीलिए प्रत्येक कार्य को प्रारंभ करने के पूर्व पुण्य-

पुरुषो का स्मरण करना आवश्यक माना गया है। सामान्यतया अपने से बडो का विनय, सम्मान और नमस्कार करने की परपरा है और हम सभी इस परपरा का अनुसरण भी करते है। लेकिन यथार्थ विनय, नमस्कार वही है जिससे कि वदनीय महापुरुषो के गुणो का कीर्तन-अनुस्मरण करने के साथ-साथ तदनुरूप बनने और होने की प्रेरणा मिले।

ग्रथकार ने 'नमिय जिण' पद से इसी प्रकार का सार्थक नमस्कार किया है। जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करने का मुख्य कारण यह है कि जिनेन्द्र भगवान ने स्वपुरुषार्थ से ससार के कारणभूत कर्मो, रागद्वेष, मोह आदि पर विजय प्राप्त करके सदा-सर्वदा के लिए मुक्ति प्राप्त करली है।

जब तक जीव मे रागद्वेष विद्यमान है, तब तक वह किसी-न-किसी योनि के शरीर द्वारा इद्रियो आदि की न्यूनाधिकता पूर्वक ससार मे परिभ्रमण करता रहेगा। उसके ज्ञान-दर्शन आदि आत्मिक गुणो मे कर्मावरण के कारण अल्पाधिकता आदि भी होगी और शारीरिक क्षमता एव शक्ति की तरतमता से आत्मस्वरूप को प्राप्त करने मे भी पूर्ण रूप से समर्थ नही हो सकेगा। अत कर्मजन्य उपाधियो से विमुक्ति के उपाय एव आदर्श को यथार्थ रूप मे अवतरित करने वाले जिनेश्वर देव को नमस्कार करके ग्रथकार ने प्रत्येक ससारी जीव को उसके लक्ष्य का बोध कराया है और साथ ही यह भी सकेत किया है कि ससार से मुक्ति का उपाय रागद्वेष पर विजय प्राप्त करना है। जब तक राग और द्वेष का सबध जुडा है तब तक जन्म-मरण रूप दुखो का भोग करना पडेगा।

ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय और उसका क्रम

ससारी जीव अनत है और वे सभी अपने-अपने कर्मानुसार विभिन्न प्रकार के शरीरो, ज्ञान, बुद्धि आदि वाले है। उन जीवो मे

गारीरिक और आत्मिक क्षमता की दृष्टि से विविधतायें भी अनत हैं। जिनकी एक एक जीव विशेष की दृष्टि से परस्पर म एक दूसरे से तुलना नही की जा सकती है और न एकरूपता या समानता का भी ज्ञान किया जा सकता है। फिर भी उन सभी दृष्टिया को ध्यान म रखते हुए अनन्त जीवों का वाह्य-शारीरिक एव आतरिक आत्मिक भावो के अनुसार सामान्य रूप मे वर्गीकरण करने आदि के लिए ग्रथ म निम्नलिखित विषयो का वणन किया जा रहा है—

(१) जीवस्थान (२) मार्गणास्थान, (३) गुणस्थान, (४) उपयोग, (५) योग, (६) लेश्या, (७) वध, (८) अल्पवहुत्व, (९) भाव, (१०) सख्या।

गाथा मे उक्त दस नामा का उल्लेख किया गया है। लेकिन कमवध के कारणो, कर्मा की उदय सत्ता आदि स्थितिया का वोध कराने के लिये गाथागत वध शब्द मे कर्मा की उदय, उदीरणा, सत्ता अवस्थाओ और वधहेतु इन चार विषयो को भी गर्भित किया गया है। इसका साराश यह है कि ग्रथ म जीवस्थान आदि वधहेतु पयन्त चौदह प्रकारो से ससारी जीवो का वर्गीकरण करके उनकी विभिन्न दशाओ—अवस्थाओ आदि का वणन किया जा रहा है। वणन किये जाने वाले चौदह प्रकारो क नाम इस प्रकार हैं —

(१) जीवस्थान, (२) मार्गणास्थान (३) गुणस्थान, (४) उपयोग, (५) योग, (६) लेश्या, (७) वध, (८) उदय, (९) उदीरणा, (१०) सत्ता, (११) वधहेतु, (१२) अल्पवहुत्व, (१३) भाव, (१४) सख्या।

गाथा म स्थूल से सूक्ष्म वाह्य से आन्तरिक और शारीरिक स आत्मिक विविधताओ का वोध कराने के लिए जीवस्थान के अनन्तर मार्गणास्थान, गुणस्थान आदि का किया गया क्रमोल्लेख सयुक्तिक है।

लोक-व्यवस्था के जीव और अजीव यह दो प्रमुख तत्त्व है। इन दोनो के सयोग और वियोग का नाम ही ससार और मुक्ति है। जीव मे भी परिणमन होता है और अजीव मे भी। लेकिन अजीव अपनी क्रिया मे प्रयत्न नही करता है और जीव की क्रिया मे उसका उपयोग, पुरुषार्थ मुख्य है। जीव की क्रिया आन्तरिक और बाह्य, स्वाभाविक और वैभाविक, साहजिक और सयोगज दोनों प्रकार की होती है। जब जीव की क्रिया स्वाभाविक, साहजिक होती है तो वह स्वरूप की उपलब्धि मे अग्रसर होता है और वैभाविक स्थिति मे अपना अस्तित्व बनाये रखकर भी पर-पदार्थों को स्व मान लेता है। पर-पदार्थों को स्व मान लेने से इष्ट सयोग मे राग और अनिष्ट सयोग मे द्वेष होना निश्चित है। यही रागद्वेष दुख है, दुख के कारण है, ससार है और कर्मबध के बीज (मूल) है। इसीलिये कहा है —

रागो य दोसो वि य कम्मवीयं कम्म च मोहप्पभवं वयन्ति।
कम्मं च जाई-मरणस्स मूल, दुक्ख च जाई-मरणं वयन्ति॥[1]

राग और द्वेष ये दोनो कर्म के बीज है। कर्म मोह से उत्पन्न होता है। कर्म जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण को ही दुख कहते है।

ससार और मोक्ष दोनो मे जीव तत्त्व प्रधान है। यानी ससार और मोक्ष की स्थिति जीव तत्त्व के होने पर सिद्ध होती है। यदि जीव न हो तो किसको ससार—बधन और किसको मोक्ष—बधन से मुक्ति होगी। जीव अनन्त गुणो का स्वामी, अमूर्तिक, सत्तावान पदार्थ है। यह कल्पना मात्र नही है और न पृथ्वी आदि पचभूतो के मिश्रण से उत्पन्न होने वाला कोई सयोगी पदार्थ है। ससारी अवस्था मे यथायोग्य प्राप्त शरीर मे रहते हुए भी शरीर से भिन्न अपनी

१ उत्तराध्ययन ३२।७

स्वाभाविक वैभाविक परिणतियों का कर्ता भोक्ता होकर भी जीव उनका केवल ज्ञाता है। इन सब कारणों से सर्वप्रथम जीवस्थान का निर्देश किया गया है। जैसे मूल—जड के अभाव में वृक्ष का अस्तित्व संभव नहीं है और उसकी शाखा-प्रशाखाओं आदि का वर्णन नहीं किया जा सकता है, वैसे ही जीव की विद्यमानता में ही मार्गणा आदि का अस्तित्व है यानी उनका कथन किया जा सकता है। मार्गणा आदि आधेय हैं और जीव उनका आधार है। इस प्रकार की मुख्यता होने से जीवस्थान का सबसे पहले कथन किया गया है।

जीवस्थान के अनन्तर मार्गणास्थान का निर्देश इसलिये किया गया है कि जीव के व्यावहारिक या पारमार्थिक स्वरूप का ज्ञान किसी न किसी गति आदि पर्याय (मार्गणास्थान) के द्वारा ही किया जा सकता है। संसार में विद्यमान अनन्त जीवों की न तो एक ही गति है और न एक ही जाति। सभी में विविध प्रकार की विभिन्नतायें हैं। कोई नरक गति में विद्यमान है तो कोई मनुष्य, तिर्यंच, देवयोनि का शरीर धारण किये हुए है। कोई एकेन्द्रिय है तो कोई द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय या पंचेन्द्रिय कहलाता है। इसी प्रकार से अन्य-अन्य कारणों से विभिन्न प्रकार की अनेकतायें जीवों में दिखलाई देती हैं। अतएव उन सब के स्वरूप का बोध कराने के लिये मार्गणास्थान का आधार लिया जाता है। मार्गणास्थान के माध्यम से किया जाने वाला जीवों का वर्गीकरण इतना क्रमबद्ध, व्यवस्थित और सयुक्तिक होता है कि उनमें दृश्यमान शरीर, इन्द्रिय आदि स्थिति के साथ आन्तरिक, आध्यात्मिक स्थिति की तर-तमता का भी समावेश हो जाता है।

मार्गणास्थान के पश्चात् गुणस्थान का निर्देश किया गया है कि जीव ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त आत्मिक गुणों का पुंज है। वे अनन्त गुण, मुक्त अवस्था में पूर्णरूपेण विकसित हो जाते हैं किन्तु उससे पूर्व

संसारावस्था में विद्यमान जीवों—चाहे वे किसी भी गति, जाति आदि पर्यायों वाले हैं—में कर्मावरण के कारण गुणों की अभिव्यक्ति की न्यूनाधिकता देखी जाती है। गुणों की अभिव्यक्ति की न्यूनाधिकता से जनित आत्मा की स्थिति और कर्मावरण के प्रक्षय से क्रम-क्रम से विकासोन्मुखी स्वभाव आदि का वर्गीकरण गुणस्थान क्रम द्वारा किया जाना सम्भव है।

मार्गणास्थान और गुणस्थान इन दोनों के द्वारा जीवों का वर्गीकरण किया जाता है, लेकिन मार्गणास्थान द्वारा किया जाने वाला वर्गीकरण शरीर, इन्द्रिय आदि बाह्य आकार-प्रकारों के साथ-साथ उनके ज्ञान, दर्शन आदि गुणों की अपेक्षाओं को लिए हुए भी होता है और गुणस्थानों द्वारा किये जाने वाले वर्गीकरण में जीवों की बाह्य शारीरिक आदि अवस्थाओं की विवक्षा न लेकर सिर्फ गुणों की मुख्यता होती है।

गुणस्थान के बाद उपयोग का निर्देश इसलिये किया गया है कि उपयोग जीव का लक्षण है[1] और अपने बोध रूप व्यापार के कारण वह अन्य पदार्थों से स्वतन्त्र एवं उनका ज्ञाता, द्रष्टा, भोक्ता आदि है। दूसरा कारण यह भी है कि गुणस्थानों का क्रम कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम की अपेक्षा रखता है लेकिन उपयोग जीव का शाश्वत अविनाभावी गुण है। जीव की अवस्थायें कर्मोदय के कारण परिवर्तित होती रहती है लेकिन उन सभी अवस्थाओं में उपयोग अवश्य ही रहेगा। कर्मावृत जीव के उपयोग व्यापार में तारतम्य होना रहता है लेकिन मुक्त जीव अपने उपयोगमय स्वरूप के द्वारा अनन्तकाल तक यथावस्थित रहते हैं। उनके ज्ञानादि रूप उपयोग में किसी प्रकार की न्यूनाधिकता नहीं होती है। उपयोग

---

१ जीवो उवओगलक्खणो। —उत्तराध्ययन २८।१०

आत्मा की शुद्ध अवस्था है। गुणस्थान क्रमागहण के अनन्तर आत्मा उपयागात्मक रूप म अवस्थित हो जाती है, इस आशय को भी स्पष्ट करन के लिए गुणस्थान के अनन्तर उपयोग का क्रम रखा गया है।

उपयोग के अनन्तर योग के कथन का आशय यह है कि आत्मा का स्वभाव उपयोगात्मक है और उपयागवान आत्मा याग—मन, वचन, काय की परिस्पन्दनात्मक क्रिया—के विना कम ग्रहण नही करती है, जैस सिद्ध आत्मा। सिद्ध जीवो म उपयोग तो है लेकिन याग नही है, इसीलिय वे कमबन्ध नही करते है और ससारी जीव उपयोगवान होन के साथ-साथ योग सहित हैं जिसस वे कमबध करते रहत है। अत इन ससारी जीवो की स्थिति को बतलान क लिये याग का कथन किया है।

योग के पश्चात लेश्या का कथन है। इसका अभिप्राय यह है कि सिर्फ याग के द्वारा हान वाला कमबन्ध ससार का कारण नही है। याग के द्वारा आन वाले कर्मों का प्रकृति और प्रदेश रूप बन्ध हाता है और प्रथम समय म कम बँधकर दूसरे समय म निर्जीर्ण हो जाते हैं, लेकिन योग द्वारा ग्रहण किय गय कम-पुद्गलो की स्थिति और उनमे फल देन की शक्ति का निमाण लेश्या द्वारा हाता है। क्योकि क्राधादि कषायो से अनुरंजित योगप्रवृत्ति को लेश्या कहते है और कषायो की तीव्रता मन्दता द्वारा कम-पुद्गलो का काल मर्यादा एव फल-जनन-शक्ति मे तीव्र-मन्दरूपता आती है। कर्मो की इस तीव्र मन्द रूप स्थिति और फल-जनन शक्ति के द्वारा जीव के जन्म-मरण रूप ससार का चक्र चलता रहता है। यदि जीव क परिणामो म कापायिक तीव्रता होगी तो उस ससार म अधिक समय तक परिभ्रमण करना पडेगा और कम विपाक क वदन म भी उतनी ही तीव्रता होगी। यदि कापायिक भाव मन्द है तो उन्ही क अनुपात म सासारिक दुखो म न्यूनता और कमबन्ध की स्थिति भी अल्पकालीन होगी।

लेश्या के पश्चात् बन्ध का क्रम है और उसका कारण यह है कि लेश्या सहित जीव ही कर्मों का बन्ध करते हैं। जीव की सयोगि केवली अवस्था मे योग-प्रवृत्ति होती है, मन-वचन-काय मे परिस्पंदन होता है, उनकी प्रवृत्ति होती रहती है, लेकिन यह योग-प्रवृत्ति कषाय-विहीन है। अतएव वे ऐसे कर्मों का बन्ध नही करते हैं जो ससार की वृद्धि करने वाले हों। लेकिन जिन ससारी जीवो की योग-प्रवृत्ति शुभ-अशुभ लेश्या परिणामों से युक्त है, वे अवश्य ही कर्म बन्ध करते हैं।

बन्ध के अनन्तर अल्पबहुत्व का क्रम है। जब तक जीव सशरीरी हैं, संसार मे स्थित हैं तब तक वे लेश्या परिणाम वाले अवश्य ही होंगे। लेकिन लेश्या युक्त परिणाम वाले होने का यह अर्थ नहीं कि उन सबके परिणाम—आत्मभाव एक जैसे हों या एक ही प्रकार के हो। परिणामों मे तरतमता स्पष्ट दिखती है। इसीलिये कर्मबन्ध करने वाले जीव मार्गणा आदि के द्वारा वर्गीकृत किये जाने वाले होकर भी आपस मे न्यूनाधिक अवश्य हुआ करते है। उनकी इस न्यूनाधिकता का ज्ञान कराने के लिए ग्रन्थकार ने बन्ध के अनन्तर अल्पबहुत्व का संकेत किया है।

अल्पबहुत्व के पश्चात् भाव का कथन किया गया है। जिसका अर्थ यह है कि जो जीव लेश्याजन्य परिणामो से अल्पबहुत्व वाले हैं उनमे औपशमिक आदि भावों में से कोई न कोई भाव अवश्य ही विद्यमान है और भाव के बाद सख्यात आदि कहने का आशय यह है कि इन औपशमिकादि भाव वाले जीवो मे जो एक दूसरे से अल्प-बहुत्व है, उसकी गणना संख्यात, असन्ख्यात आदि सख्याओ द्वारा की जाती है।

अल्पबहुत्व के बाद भाव और सख्या के क्रम रखने को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि अल्पबहुत्व का आधार या तो भाव हो सकते हैं या भाववालो मे गिनती (सख्या) की न्यूनाधिकता। सभी

जीव सामान्यत गुणापेक्षा एक जैसे हैं। उनके गुणो म किसी प्रकार की अल्पाधिकता नही ह लेकिन कर्मावरण की तरतमता से उन गुणा की अभिव्यक्ति म अवश्य तारतम्य दिखता ह। जसे कोई मूख है ता किसी म ज्ञान का साधारण विकास है और कोई उसकी अपेक्षा भी अधिक बुद्धिमान है। इस स्थिति को लकर उनमे अल्पता और अधिकता का व्यवहार किया जाता है। यानी जीवा की पारिणामिक अल्पाधिकता क कारण उन-उनके भाव हैं। भाव के बाद सख्या का क्रम इस बात को स्पष्ट करता है कि भावापेक्षा जीवो म जो यूना-धिकता है उनमे से औपशमिक भाव वाले जीवो की सख्या यह है, औदयिक भाव वाला की सख्या यह है आदि। गणना सख्या द्वारा की जाती है। अर्थात भावापेक्षा होने वाली अल्पाधिकता का परिज्ञान, भाव पद से और गणनापेक्षा उनका ज्ञान सख्या पद मे कराया जाता है। इन दोनो बातो को बतलाने के लिये भाव और सख्या का विधान किया गया है।

इस प्रकार म ग्रन्थ मे वर्णन किये जाने वाले विषयो की क्रम-व्यवस्था का स्पष्टीकरण करने के बाद उनके लक्षण बताते हैं।

जीवस्थान आदि के लक्षण

(१) जीवस्थान—जीवा के स्थान अर्थात जीवा के सूक्ष्म, बादर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि रूपा द्वारा होने वाले प्रकारा (भेदा) को जीव-स्थान कहते है। जो जीता है, जीता था और जीवेगा इस प्रकार के त्रकालिक जीवन गुण वाले को जीव कहते ह। जीव के जीवित रहने के आधार है—द्रव्यप्राण और भावप्राण। स्पर्शन, रसन आदि पाँच इन्द्रियाँ मन, वचन और काय यह तीन बल श्वासोच्छ्वास और आयु—द्रव्यप्राण व यह दस भेद ह तथा ज्ञान-दर्शन-चैतन्य आदि भाव-प्राण कहलाते ह। इसलिये जीव का लक्षण इस प्रकार किया जायगा

कि जो द्रव्य और भावप्राणो से जीवित है, जीवित था और जीवित रहेगा वह जीव है।

जीवो के दो प्रकार है—ससारी और मुक्त। इन दोनो प्रकार के जीवो मे चैतन्य रूप भावप्राण तो रहते ही है लेकिन ससारी जीव ज्ञान-दर्शन आदि भावप्राणो के साथ यथायोग्य इन्द्रिय आदि द्रव्यप्राणो सहित है तथा मुक्त जीवो मे सिर्फ ज्ञान-दर्शन आदि गुणात्मक भावप्राण होते है। इन्द्रिय आदि कर्मजन्य द्रव्यप्राण है और जब तक जीव कर्मबद्ध है तब तक वे यथायोग्य इन्द्रियो आदि से युक्त रहते है। लेकिन कर्ममुक्त हो जाने पर सिर्फ ज्ञान-दर्शन आदि रूप चैतन्य परिणाम रहते है।

जीव की उक्त व्याख्या व्यवहार और निश्चयनय की अपेक्षा से की गई है। अर्थात् ससारी जीव की इन्द्रिय आदि द्रव्यप्राणो और ज्ञानादि भावप्राणो सहित जीवित रहने की व्याख्या व्यवहारनय सापेक्ष है तथा मुक्त जीवो के सिर्फ ज्ञान आदि भावप्राणो द्वारा जीवित रहने की व्याख्या निश्चयनय सापेक्ष है।[1]

मुक्त और ससारी ये दोनो जीव है। लेकिन जीवस्थान मे ससारी

---

१ (क) शुद्धनिश्चयनयेनादिमध्यान्तवर्जित स्वपरप्रकाशकाविनश्वर निरुपाधि-शुद्ध चैतन्यलक्षणनिश्चयप्राणेन यद्यपि जीवति, तथाप्यशुद्धनयेनानादि-कर्मबन्धवशादशुद्धद्रव्यभावप्राणैर्जीवतीति जीव ।

—द्रव्यसंग्रह टीका २।७

यद्यपि यह जीव शुद्ध निश्चय नय से आदि मध्य और अतरहित, स्वपर-प्रकाशक, अविनाशी उपाधिरहित और शुद्ध ऐसा जो चैतन्य (ज्ञान-दर्शन आदि) रूप निश्चय प्राण है उससे जीता है। तथापि अशुद्ध निश्चय नय (व्यवहारनय) से अनादि कर्म-बन्धन के वश से अशुद्ध जो द्रव्यप्राण और भावप्राण है उनसे जीता है।

(ख) तिक्काले चदु पाणा इदियबलमाउआणपाणो य ।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स ॥ —द्रव्यसंग्रह ३

जीवों को ग्रहण किया गया है। इसका कारण यह है कि मुक्त जीवों में किसी प्रकार का भेद नहीं है। सभी में चैतन्य गुण एक जैसा है। लेकिन संसारी जीवों में चैतन्य गुण के साथ-साथ शरीर आदि की अपेक्षा अनेक प्रकार की विभिन्नतायें पाई जाती हैं। जिनका बोध जीवस्थान द्वारा स्पष्ट रूप से हो जाता है।

कर्म ग्रंथों में प्रयुक्त 'जीवस्थान' शब्द के लिए आगमों में 'भूतग्राम'[1] शब्द का और दिगम्बर ग्रंथों में 'जीवसमास'[2] शब्द का प्रयोग किया गया है।

(२) **मार्गणास्थान**—मार्गणा का अर्थ है अनुसंधान, खोज, विचारणा आदि। मार्गणा के स्थानों को मार्गणास्थान कहते हैं। अर्थात् गुणस्थान योग, उपयोग आदि की विचारणा-अन्वेषणा के स्थानों (विषयों) को मार्गणा कहते हैं।

---

१ समवायांग १४।१

२ जहिं अणेया जीवा णज्जंते बहुविहा वि तज्जादि।
त पुण संगहिदत्था जीवसमासात्ति विण्णेया ॥
तसचदुजुगाणमज्झे अविरुद्धेहि जुदजादिकम्मुदये।
जीवसमासा होंति हु तब्भवसारिच्छसामण्णा।

—गो० जीवकांड ७०।७१

जिन धर्मों के द्वारा अनेक जीवों तथा उनकी अनेक जातियों का बोध होता है वे जीवसमास कहलाते हैं। त्रस-स्थावर बादर-सूक्ष्म पर्याप्त अपर्याप्त प्रत्येक-साधारण युगल में अविरुद्ध नामकर्म (जैसे सूक्ष्म से अविरुद्ध स्थावर) के उदय से युक्त जाति नामकर्म का उदय होने पर जो ऊर्ध्वता सामान्य जीवों में होता है वह जीवसमास कहलाता है।

ऊर्ध्वता सामान्य—कालक्रम से अनेक अवस्थाओं के होने पर भी एक ही वस्तु का जो पूर्वापर सादृश्य देखा जाता है वह ऊर्ध्वता सामान्य है। इससे उलटा एक समय में ही अनेक वस्तुओं की जो परस्पर समानता देखी जाती है उसे तिर्यक् सामान्य कहते हैं।

मार्गणाओ मे जीव की गति, शरीर, इन्द्रिय आदि की मार्गणा-विचारणा, गवेषणा के साथ उनके आन्तरिक भावो, गुणस्थानो, जीवस्थानो आदि का भी विचार किया जाता है।[1]

ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा और मीमासा ये मार्गणा के एकार्थबोधक समान नाम है।

(३) गुणस्थान—ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि जीव के स्वभाव को 'गुण' कहते है और उनके स्थान अर्थात्, गुणो की शुद्धि-अशुद्धि के उत्कर्ष एव अपकर्ष-कृत स्वरूपविशेष का भेद 'गुणस्थान' कहलाता है। आत्मिकगुणो की शुद्धि और अशुद्धि के उत्कर्ष व अपकर्ष के कारण आश्रव, बध, सवर, निर्जरा है। कर्मो का आश्रव और बध होने पर आत्म-गुणो मे अशुद्धि का उत्कर्ष होता जाता है तथा सवर एव निर्जरा के द्वारा कर्मो का आश्रव तथा बध रुकने व क्षय होने से गुणो की शुद्धि मे उत्कर्षता एव अशुद्धि मे अपकर्षता आती

---

१ (क) चतुर्दशाना जीवस्थानाना चतुर्दश गुणस्थानामित्यर्थ । तेषा मार्गणा गवेषणमन्वेषणमित्यर्थ । · चतुर्दशजीवसमासा सदादिविशिष्टा मार्ग्यन्तेऽस्मिन्ननेन वेति मार्गणा । —धवला १।१,१,२।१३१।३

चौदह जीवसमासो से यहा पर चौदह गुणस्थान विवक्षित है। मार्गणा, गवेषण और अन्वेषण ये तीनो शब्द एकार्थवाची है। सत्, सख्या आदि अनुयोगद्वारो से युक्त चौदह जीवसमास जिसमे या जिसके द्वारा खोजे जाते है उसे मार्गणा कहते है।

(ख) जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जते जहा तहा दिट्ठा ।
—गो० जीवकांड १४१

जिन भावो अथवा जिन पर्यायो मे जीव अनुमार्गण किये जाते है अर्थात् खोजे जाते है, उन्हे मार्गणा कहते है।

गो० जीवकाड गाथा ३ मे 'विस्तार' और 'आदेश' ये दो शब्द मार्गणा के नामान्तर माने है।

जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि जीवों के परिणामों में उत्तरोत्तर अधिकाधिक शुद्धि बढ़ती जाती है, आत्म-गुणों का विकास होता जाता है। आत्मगुणों के इसी विकास-क्रम को गुणस्थान कहते हैं।

आत्मा का वास्तविक स्वरूप तो सत-चित्-आनन्दमय है, किन्तु जब तक मोह कर्म की दर्शन और चारित्र ये दोनों शक्तियाँ प्रबल रहती हैं तब तक कर्मों का आवरण सघन होता है। उस स्थिति में आत्मा का यथार्थ रूप प्रकट नहीं होता है किन्तु आवरणों के क्षीण, निर्जीर्ण या क्षय होने पर आत्मा का यथार्थ स्वरूप अभिव्यक्त होता है। जब कर्मावरण की तीव्रता या अत्यन्त सघनता हो तब आत्मा के अविकास की अन्तिम स्थिति रहती है और जैसे-जैसे आवरण क्रमशः क्षीण होते हुए पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है तब आत्मा अपने पूर्ण शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाती है। इन दोनों स्थितियों के अन्तराल में आत्मा अनेक प्रकार की नीची, ऊँची, सघन-विरल अवस्थाओं का अनुभव करती है। ये मध्यवर्तिनी अवस्थायें अपेक्षा दृष्टि से उच्च और नीच कहलाती हैं अर्थात ऊपर वाली स्थिति की अपेक्षा नीची और नीची अवस्था की दृष्टि से ऊँची कहलाती है। इन उच्च और नीच अवस्थाओं के बनने और कहलाने का मुख्य कारण कर्मों की औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक स्थितियाँ हैं।

आगमों में 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग देखने में नहीं आया है लेकिन 'जीवस्थान' शब्द के द्वारा गुणस्थान के अर्थ को अभिव्यक्त किया गया है और जीवस्थान की रचना का आधार कर्मविशुद्धि माना है।[1] समवायांग सूत्र के टीकाकार अभयदेवसूरि ने भी जीव-स्थानों (गुणस्थानों) को ज्ञानावरण आदि कर्मों की विशुद्धि से

---

[1] कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउद्दस जीवट्ठाणा पण्णत्ता।

—समवायांग १४।५

निष्पन्न कहा है।[1] आगमगत 'जीवस्थान' शब्द के लिये 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थो एव कर्मग्रन्थो मे किया गया है।[2] दिगम्बर ग्रन्थो मे आगमो मे कहे गये जीवस्थान शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये गुणस्थान' शब्द का प्रयोग किया है और उसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

दर्शन मोहनीय आदि कर्मों की उदय उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थाओ के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन भावो से जीव लक्षित होते है, उन भावो को सर्वज्ञ सर्वदर्शियो ने गुणस्थान' इस सज्ञा मे निर्दिष्ट किया है।[4]

षट्खंडागम की धवला टीका मे गुणस्थानो के लिये जीवसमास शब्द का प्रयोग देखने मे आता है और इसका कारण स्पष्ट करते हुए कहा है कि जीव गुणो मे रहता है इसलिये उसे जीवसमास कहते है।[5] कर्म के उदय से उत्पन्न गुण औदयिक, क्षय-जन्य क्षायिक, उपशम से पैदा होने वाले औपशमिक एव क्षय तथा उपशम से उत्पन्न गुण क्षायोपशमिक कहलाते है, और कर्म के उदय, उपशम, क्षय,

---

१ कर्मविशोधि मार्गणा प्रतीत्य ज्ञानावरणादि कर्मविशुद्धिगवेषणामाश्रित्य
—समवायाग वृत्ति पत्र २६

२ कर्मग्रन्थ भाग—२, गा० १। कर्मग्रन्थ भाग ४, गा० १ (देवेन्द्रसूरि विरचित)

३ गो० जीवकाड गा० ३

४ जेहि दु लक्खिज्जते उदयादिसु सभवेहि भावेहि।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहि॥— गो० जीवकाड गा० ८

५ जीवसमास इति किम्? जीवा सम्यगासतेऽस्मिन्निति जीवसमास। क्वासते? गुणेषु। के गुण? औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिक-पारिणामिका इति गुणा। गुणसहचरितत्वादात्मापि गुणसज्ञा प्रतिलभते।
—षट्खण्डागम धवलावृत्ति प्र० ख० पृ० १६०-६१

क्षयोपशम के बिना स्वभावत होने वाले गुण पारिणामिक है।[1] इन गुणो के कारण जीव को भी गुण कहा जाता है। इसीलिये गुण शब्द की मुख्यता से पश्चाद्वर्ती साहित्य मे जीवस्थान के बदले गुणस्थान शब्द का प्रयोग बहुलता से होना सम्भव है। लेकिन इस प्रकार से आगमो और उत्तरवर्ती साहित्य मे जीवस्थान और गुणस्थान इस प्रकार का शाब्दिक भेद होने पर भी गुणस्थान शब्द द्वारा आगमो के जीवस्थान शब्द के आशय का ही स्पष्ट किया गया है।

संक्षेप, ओघ, सामान्य, जीवसमास ये चारो शब्द गुणस्थान के समानार्थक है।[2]

जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान यद्यपि ये तीनो जीव की अवस्थाये है, फिर भी इनमे यह अन्तर है कि जीवस्थान जाति नामकर्म, पर्याप्त नामकर्म और अपर्याप्त नामकर्म के औदयिक भाव है। मार्गणास्थान नामकर्म, मोहनीय कर्म, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय कर्म के औदयिक आदि भाव रूप तथा पारिणामिक भाव रूप है और गुणस्थान सिर्फ मोहनीय कर्म के औदयिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक भावरूप तथा योग के भावाभाव रूप है।[3] मार्गणास्थान सहभावी और गुणस्थान क्रमभावी है। गुणस्थान एक

---

1 स्वस्थितिक्षयवशादुदयनिषेके गलतां कार्मणस्कन्धानां फलदानपरिणति उदय तस्मिन् भव औदयिक । प्रतिपक्षकर्मणामुदयाभाव उपशम तत्र भव औपशमिक । प्रतिपक्षकर्मणा पुनरुत्पत्त्यभावेन नाश क्षय तस्मिन् भव क्षायिक । प्रतिपक्षकर्मणामुदये विद्यमान यो जीवगुणांशो दृश्यते स क्षयोपशम तस्मिन् भव क्षायोपशमिक । उदयादिनिरपेक्ष परिणाम तस्मिन् भव पारिणामिक । —गो० जीव० प्रबोधिनी टीका

2 गो० जीवकाड गा० २ तथा १०

3 संखेओ ओघोत्ति य गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा ।
वित्थारादेसोत्ति य मग्गणसण्णा सकम्मभवा । —गो० जीवकाड ३

के पश्चात् दूसरा होता है, उनमे एक का दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध नही है लेकिन गुणस्थानो के क्रम के बदलते रहने पर भी मार्गणा के चौदह भेदो मे से कुछ एक मार्गणाओ को छोडकर प्राय सभी मार्गणाये एक जीव मे एक साथ पाई जा सकती है।

(४) उपयोग—जीव के बोध रूप व्यापार को उपयोग कहते हे। यह आत्मा के चैतन्यानुविधायी परिणाम रूप है अर्थात् जीव का जो भाव वस्तु के ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होता है, जिसके द्वारा वस्तु का सामान्य तथा विशेष स्वरूप जाना जाता है उसे उपयोग[1] कहते है। वस्तु स्वरूप के परिज्ञान के लिये आत्मा के द्वारा होने वाले व्यापार मे अन्तरग कारण ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न लब्धि विशेष और बहिरग कारण यथायोग्य पदार्थों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियो की रचना है। पदार्थ के परिज्ञान के समय यह घट है, यह पट है इत्यादि प्रकार से आत्मा का (चैतन्य का) व्यापार होना चैतन्यानुविधायी परिणाम कहलाता है।[2]

प्रणिधान, उपयोग और परिणाम ये शब्द उपयोग के अर्थ का बोध कराने वाले होने से एकार्थवाची है।[3]

(५) योग—आत्मा के प्रदेशो मे परिस्पन्दन (हलन-चलन, कपन, सकोच-विस्तार) होना योग कहलाता है।[4] आत्मप्रदेशो मे अथवा

---

१ वत्थुणिमित्त भावो जादो जीवस्स होदि उवओगो।

—गो०जीव काड गा० ६७२

२ पदार्थपरिच्छित्तिकाले घटोऽय पटोऽयमित्याद्यर्थग्रहणरूपेण व्यापारयति चैतन्यानुविधायि स्फुटम्। —पं० का० ता० वृ० ४०।८०।१२

३ प्रणिधान उपयोग परिणाम इत्यनर्थान्तरम्। —राजवा० १।१।३।२२

४ जीवपदेसाण परिफन्दो सकोचविकोचब्भमणसरूवओ।

—धवला १०।४, २, १७५।४,३७।७

आत्मशक्ति में परिस्पन्दन मन, वचन, काय के द्वारा होता है, इसीलिये मन, वचन, काय के कर्म—व्यापार को[1] अथवा पुद्गल-विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन-वचन-काय से युक्त जीव की कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति को योग कहते हैं।[2]

(६) लेश्या—आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप स्फटिक मणि के समान निर्मल है। लेकिन कषायोदय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति के द्वारा होने वाले उसके भिन्न भिन्न परिणामों, जो कृष्ण-नील आदि अनेक रंग वाले पुद्गल विशेष के प्रभाव से होते हैं, को लेश्या कहते हैं।

इस संबंध में श्री हरिभद्रसूरि ने आवश्यक टीका पृ० ६४५।१ पर निम्नलिखित श्लोक प्रमाण रूप में लिखा है—

कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्परिणामोऽयमात्मनः ।
स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्याशब्दः प्रवर्तते ॥

लेश्या के द्वारा आत्मा अपने को पुण्य-पाप से लिप्त करती है। जीव और कर्म का संबंध लेश्या द्वारा होता है।

लेश्या के दो भेद हैं—(१) द्रव्यलेश्या और (२) भावलेश्या। इनमें से द्रव्यलेश्या पुद्गल विशेषात्मक है और वह शरीर नामकर्म के उदय से उत्पन्न होती है। इसीलिये वर्ण नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुए शरीर के वर्ण को द्रव्यलेश्या कहते हैं।

द्रव्यलेश्या के स्वरूप के बारे में मुख्यतया तीन मत हैं—(१) कर्म वर्गणा निष्पन्न, (२) कर्म निष्यन्द (बध्यमान-कर्म प्रवाहरूप) और (३) योग-परिणाम। इन मतों संबंधी स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

---

१ मणसा वायाए काएण वा वि जुत्तस्स विरियपरिणामो ।
जीवस्स (जिह) प्पणिजोगो जोगोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठो ॥ —पंचसंग्रह १।८८

२ पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स ।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥ —गो० जीवकांड २१६

प्रथम मत का यह अभिप्राय है कि लेश्या-द्रव्यकर्मवर्गणा से बने हुए है, फिर भी वे ज्ञानावरण आदि अष्ट कर्मों से भिन्न नही हैं, जैसे कि कार्मणशरीर।[1]

दूसरे मत के अनुसार लेश्या द्रव्य बध्यमान कर्मप्रवाह रूप है। चौदहवे अयोगिकेवली गुणस्थान मे कर्म के होने पर भी उसका निष्यन्द न होने से लेश्या के अभाव की उपपत्ति हो जाती है।[2]

तीसरा मत श्री हरिभद्रसूरि आदि का है। इस मत का आशय श्री मलयगिरि ने पन्नवणा पद १७ की टीका पृ० ३३० पर स्पष्ट किया है। वे लेश्या-द्रव्य को योगवर्गणा के अन्तर्गत स्वतत्र द्रव्य मानते है। उपाध्याय श्री विनयविजयजी ने अपने लोकप्रकाश ग्रन्थ के सर्ग ३, श्लोक २८५ मे इसी मत को ग्राह्य माना है।

लेश्या द्रव्य के स्वरूप सबधी उक्त तीनो मतों के अनुसार तेरहवे गुणस्थान पर्यन्त भावलेश्या का सद्भाव समझना चाहिये। यह मत दिगम्बर आचार्यो को भी मान्य है। उन्होंने भी योगप्रवृत्ति को लेश्या कहा है। जैसा कि निम्नलिखित गाथा मे स्पष्ट है—

अयदोत्ति छलेस्साओ सुहतियलेस्सा हु देसविरदतिये।
तत्तो सुक्का लेस्सा अजोगिठाण अलेस्सं तु ॥[3]

---

१ उत्तराध्ययन अ० ३४ टीका पृ० ६५०—अन्येत्वाहु —कार्मणशरीरवत्पृथगेव कर्माष्टकात्कर्मवर्गणानिष्पन्नानिकर्मलेश्याद्रव्याणीति।

२ उत्तराध्ययन अ० ३४ टीका पृ० ६५०। इस मत का श्री शातिसूरि ने 'गुरवस्तु व्याचक्षते' सकेत कर उल्लेख किया है—'कर्म-निस्यन्दो लेश्या, यत कर्मस्थिति हेतवो लेश्या, यथोक्तम्—
ता. कृष्णनीलकापोततेजसीपद्मशुक्ल नामान। श्लेष इव वर्ण बन्धस्य, कर्मबन्धस्थिति विधात्र्य ॥

३ गो० जीवकाड ५३२

भावलेश्या आत्मा का परिणामविशेष है और यह परिणाम संक्लेश एवं योग से अनुगत है। संक्लेश का कारण कषायोदय है। इसीलिये कषायोदयानुरंजित योगप्रवृत्ति को भावलेश्या कहते हैं।[1] मोह कर्म के उदय या क्षयोपशम या उपशम या क्षय से होने वाली जीव के प्रदेशों में चंचलता भी भावलेश्या है।[2] क्योंकि भावलेश्या का साधन असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों तक मोहनीय कर्म का उदय और देशविरति आदि तीन गुणस्थानों में मोहनीय कर्म का क्षयोपशम, उपशमश्रेणि में मोहनीय कर्म का उपशम और क्षपकश्रेणि में मोहनीय कर्म का क्षय होता है। मोह कर्म के उदयादि से होने वाले ये औदयिक आदि चारों ही परिणाम और इनके साथ होने वाले प्रदेश परिस्पन्दन रूप योग जीव के स्वतत्त्व—परिणाम हैं। अतएव इनको भावलेश्या कहते हैं। जीवविपाकी मोहनीय कर्म तथा वीर्यान्तराय कर्म की अवस्थायें इनकी साधन हैं।

---

१ (क) सर्वार्थसिद्धि और गो० जीवकांड (दिगम्बर ग्रन्थ) में कषायोदय-अनुरंजित योगप्रवृत्ति को लेश्या कहा है। यद्यपि इस कथन से दसवें गुणस्थान पर्यन्त ही लेश्या का होना पाया जाता है तथापि यह कथन अपेक्षाकृत होने से पूर्व कथन से विरुद्ध नहीं है। क्योंकि पूर्व कथन में केवल प्रकृति और प्रदेश बंध के निमित्तभूत परिणाम लेश्या रूप में विवक्षित है और इस कथन में स्थिति, अनुभाग आदि चारों बंधों के निमित्तभूत परिणाम लेश्या रूप से विवक्षित न कि सिर्फ प्रकृति, प्रदेश बंध के निमित्तभूत परिणाम ही कहा। जैसे कि —

भावलेश्या कषायोदयरंजिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकीत्युच्यते।
—सर्वार्थसिद्धि २।६

(ख) जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरंजिया होई।
तत्तो दोण्णं कज्जं बंधचउक्कं समुद्दिट्ठं ॥—गो० जीवकांड ४९०

(ग) कषायानुरंजिता कायवाङ्मनोयोगप्रवृत्तिर्लेश्या।
—धवला १।१,१,४।१४९।८

२ मोहुदयखओवसमोवसमखयजजीवफंदणं भावो। —गो० जीवकांड ५३६

इस प्रकार से भावलेश्या की व्याख्या किन्हीं भी अपेक्षाओं से की जाये, लेकिन उन सबका अर्थ एक ही है कि आत्म-प्रदेशों में होने वाली चंचलता-परिस्पन्दन का नाम भावलेश्या है।

कषायोदय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति को लेश्या कहने पर जिज्ञासा होती है कि योग को अथवा कषाय को या योग और कषाय दोनों में से किसको लेश्या कहते हैं। इनमें से आदि के दो विकल्प (योग और कषाय) तो मान नहीं सकते हैं क्योंकि वैसा मानने पर योग और कषाय मार्गणा में ही उसका अन्तर्भाव हो जायेगा। तीसरा विकल्प नहीं माना जा सकता है क्योंकि वह भी प्रथम दो विकल्पों के समान है। अतः उसका किसी एक में समावेश हो जायेगा।

इसका स्पष्टीकरण यह है कि कर्मलेप रूप एक कार्य को करने वाले होने की अपेक्षा से एकरूपता को प्राप्त हुए योग और कषाय को लेश्या कहा है। लेश्या एकत्व को प्राप्त हुए योग और कषाय रूप है, न कि भिन्न-भिन्न रूप। अतः उन दोनों में लेश्या के अन्तर्भाव को मानना युक्तिसंगत नहीं। क्योंकि दो धर्मों के संयोग से उत्पन्न किसी एक तीसरी अवस्था को प्राप्त हुए धर्म का किसी एक के साथ एकत्व अथवा समानता नहीं होती और दो के मिश्रण से उत्पन्न तीसरी वस्तु उन दोनों से भिन्न और अपनी पृथक् सत्ता रखती है।

योग और कषाय से लेश्या को भिन्न मानने का यह भी कारण है कि विपरीतता को प्राप्त हुए मिथ्यात्व, अविरति आदि अवलंबन रूप बाह्य पदार्थों के संपर्क से लेश्याभाव को प्राप्त हुए योग और कषायों से सिर्फ योग और सिर्फ कषाय के कार्य से भिन्न जो संसार की वृद्धि रूप कार्य की उपलब्धि होती है, उसे सिर्फ योग या कषाय का कार्य नहीं कहा जा सकता है। अतएव लेश्या उन दोनों से भिन्न है।

कषायोदयजन्य संक्लेश के अनेक भेद हैं। इसीलिये भावलेश्या

भी असख्य प्रकार की है। तथापि उन सब प्रकारो का सक्षेप मे—(१) तीव्रतम (२) तीव्रतर (३) तीव्र (४) मद (५) मदतर और (६) मदतम—इन छह विभागो मे वर्गीकरण किया गया है और उन स्थितियो का ज्ञान कराने के लिये लेश्या के निम्नलिखित छह भेद माने जाते है—

(१) कृष्णलेश्या (तीव्रतम स्थिति), (२) नीललेश्या (तीव्रतर स्थिति), (३) कापोतलेश्या (तीव्र स्थिति), (४) तेजोलेश्या (मद स्थिति) (५) पद्मलेश्या (मदतर स्थिति) (६) शुक्ललेश्या (मदतम स्थिति)।

इन लेश्याओ की पारिणामिक स्थिति निम्नप्रकार है—

कृष्णलेश्या वाले के परिणामो मे कषायो की तीव्रतम स्थिति होती है। इसीलिए वह तीव्र क्रोध आदि करने वाला होता है। धार्मिक आचार-विचारो से सर्वथा शून्य होता है एव सदैव कलह, परनिन्दा आदि मे रत रहता है, स्वैराचारी, इन्द्रिय विषयो मे रत रहने वाला, मायावी, दभी होता है।

नीललेश्या वाले के काषायिक परिणाम कृष्णलेश्या वाले की अपेक्षा कुछ न्यून स्तर के होते है। इस स्थिति को कषायो की तीव्रतर स्थिति कह सकते है। नीललेश्या के परिणाम वाला दूसरो को ठगने मे चतुर, धन धान्यादि के सग्रह मे तीव्र लालसा रखने वाला, लोभी, कृपण आदि वृत्ति से युक्त होता है।

कापोतलेश्या वाले के काषायिक परिणाम भी तीव्र होते है, लेकिन कृष्ण और नीललेश्या वालो की अपेक्षा कुछ सुधरे हुए होते हैं। फिर भी दूसरो की निन्दा, चुगली आदि करने की ओर उन्मुख रहता है, स्व प्रशसा और पर निंदा करने मे चतुर होता है। अहकार मे डूबा रहता है आदि।

तेजोलेश्या विकासोन्मुखी आत्म-परिणामो एव मद-कषाय परिणामो का सकेत करती है। इस लेश्या के परिणाम वाला अपने

कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक करने वाला होता है। दया-दान आदि कार्य करने मे तत्पर रहता है। स्वभाव से सरल और मृदु होता है।

पद्मलेश्या वाले के परिणाम तेजोलेश्या वाले की अपेक्षा श्रेष्ठ होते है। कषायो की स्थिति मदतर होती है। वह तत्त्वजिज्ञासु होता है। व्रत-शील आदि के पालन मे तत्पर रहता है। सासारिक विषयो मे उदासीन एव साधु-जनो का प्रशसक होता है।

शुक्ललेश्या वाला स्वभावत सरल भद्र परिणामी होता है। उसके परिणामो मे कषायो की झाई जैसी दिखती है। इसलिये शुक्ल लेश्या मे कषायो की मन्दतम स्थिति मानी गई है। निर्वैरता, वीत-रागता, दूसरो के दोषो को न देखना, निन्दा न करना, पाप कर्मो से उदासीन रहना, श्रेयोमार्ग मे रुचि आदि शुक्ललेश्या वाले के लक्षण है।

कृष्ण आदि इन छह लेश्याओ मे से आदि की तीन—कृष्ण, नील, कापोत लेश्याये अशुभ और अत की तेज, पद्म और शुक्ल यह तीन लेश्याएँ शुभ है।

उक्त कृष्णादि छहो लेश्याओ की पारिणामिक स्थिति निम्न-लिखित दृष्टात द्वारा स्पष्ट रूप से समझ मे आ जाती है[1]—

कोई छह व्यक्ति जामुन खाने की इच्छा से जगल मे पहुँचे। इनमे से एक जामुन के वृक्ष को देखकर वोला—फलो की प्राप्ति के लिये वृक्ष पर चढने की वजाय इस वृक्ष को जड से ही काट लेना चाहिए।

यह सुनकर दूसरे ने कहा—वृक्ष को जड-मूल से काटने मे क्या लाभ है ? केवल इसकी शाखाओ को काट लेना चाहिये।

तीसरे पुरुष ने कहा—यह भी ठीक नही है। छोटी-छोटी शाखाओ के काट लेने से भी अपना काम चल जायेगा।

---

१ ग्रन्थकार ने लेश्याओ के स्वरूप को समझाने के लिये स्वोपज्ञवृत्ति मे इस दृष्टात का उल्लेख किया है।

चौथे ने कहा—शाखायें काटने से भी क्या लाभ? हम तो इसके गुच्छे तोड़ लेना चाहिये।

पाँचवाँ बोला—गुच्छों से क्या प्रयोजन? इनमें से पके हुए फलों को ही ले लेना चाहिए।

इस प्रकार के वार्तालाप को सुनकर अंत में छठा पुरुष बोला—यह सब निरर्थक विचार है क्योंकि खाने के लिए जिन फलों को चाहते हैं, वे तो नीचे ही पड़े हैं। हमारा तो उनसे ही प्रयोजन सिद्ध हो जायेगा।[1]

उक्त दृष्टान्त से लेश्याओं के स्वरूप का स्पष्टतया ज्ञान हो जाता है। दृष्टान्त में छह व्यक्ति हैं और उनमें पूर्व-पूर्व पुरुष के परिणामों की अपेक्षा उत्तर-उत्तर पुरुष के परिणाम शुभ, शुभतर और शुभतम हैं यानी उत्तर-उत्तर पुरुष के परिणामों में संक्लेश की न्यूनता और मृदुता की अधिकता है। अतएव प्रथम पुरुष के परिणाम को कृष्ण लेश्या, दूसरे के परिणाम को नीललेश्या, इसी प्रकार तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठे पुरुष के परिणामों को क्रमशः कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या समझना चाहिये।[2]

---

1 यही दृष्टान्त दिगम्बर ग्रन्थ गो० जीवकाण्ड गा० ५०७-५०८ में भी दिया गया है।

2 लेश्या सम्बन्धी कुछ विशेष बातें जानने के लिए गो० जीवकाण्ड का लेश्या मार्गणाधिकार (गा० ४८८-५५०) द्रष्टव्य है।

द्रव्यलेश्या के वर्ण, गंध आदि का तथा भावलेश्या के लक्षण आदि का विचार उत्तराध्ययन अ० ३४ में विशद रूप से किया गया है। प्रज्ञापना—लेश्यापद, आवश्यक, लोकप्रकाश आदि भी द्रष्टव्य हैं।

जैन शास्त्रों में निरूपित लेश्याओं के विचारों से मिलता-जुलता छह जातियों का विभाग मंखलि गोशालक के मत में किया गया है जो कर्म की शुद्धि-अशुद्धि को लेकर कृष्ण, नील आदि छह वर्णों के आधार पर है। देखिये दीघनिकाय सामञ्ञफल सुत्त।

(७) बन्ध—मिथ्यात्वादि कारणो द्वारा काजल से भरी हुई डिबिया के समान पौद्गलिक द्रव्य से परिव्याप्त लोक मे कर्म योग्य पुद्गल वर्गणाओ का आत्मा के साथ नीर-क्षीर अथवा अग्नि और लोहपिड की तरह एक दूसरे मे अनुप्रवेश—अभेदात्मक एकक्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध होने को बध कहते है।[1]

बध के चार भेद है—प्रकृतिबध, स्थितिबध, अनुभागबध और प्रदेशबध। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग यह सामान्यत कर्मबध के कारण माने गये है। इन कारणो को भी कषाय और योग मे गर्भित कर लेने पर मुख्य रूप से कषाय और योग को कर्मबध का कारण माना जाता है। योग द्वारा प्रकृति और प्रदेशबध तथा कषाय द्वारा स्थिति एवं अनुभागबध विशेष होता है।

गाथा मे 'सखिज्जाई' पद मे आगत आदि शब्द से उदय, उदीरणा, सत्ता एव बधहेतुओ को ग्रहण करने का सकेत ग्रन्थकार ने स्वोपज्ञ वृत्ति मे किया है। जिनके लक्षण क्रमश इस प्रकार है—

(८) उदय—बँधे हुए कर्म-दलिको की स्वफल प्रदान की अवस्था को उदय कहते है।[2] कभी तो इन बँधे हुए कर्म-दलिको का फलोदय

महाभारत अध्याय १२, श्लोक २८६ मे छह जीव वर्ण का कथन है, जो लेश्याओ के वर्णन से मिलता-जुलता है।

पातजल योगदर्शन ४।७ मे भी ऐसी कल्पना है। क्योकि उसमे कर्म के चार विभाग करके जीवो के भावो की शुद्धि-अशुद्धि का पृथक्करण किया गया है।

१ आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रवेशानुप्रवेशलक्षणो बन्ध ।

—राजवा० १।४।१७।२६।२६

२ (क) द्रव्यादिनिमित्तवशात् कर्मणा फलप्राप्तिरुदय ।

—सर्वार्थसिद्धि २।१।१४६।८

(ख) भुजणकालो उदओ। —पंचसग्रह ३।३

(विपाकानुभव) अबाधाकाल[1] पूर्ण होने पर होता है और कभी नियत अबाधाकाल पूर्ण होने से पहले ही अपवर्तना[2] आदि करणों से होता है। नियत अबाधाकाल के पूर्ण न होने के पूर्व ही जो विपाकानुभव किया जाता है, उससे कर्म निर्जरा अधिक होती है और निर्जीर्णमान कर्म अपनी पूर्ण शक्ति से विपाकानुभव नहीं करा पाता है। इसीलिये कर्म निर्जरा दो प्रकार की मानी गई है—सविपाकनिर्जरा और अविपाक निर्जरा।

सविपाक निर्जरा—यथाक्रम से परिपाक काल को प्राप्त और अनुभव के लिये उदयावली के स्रोत में प्रविष्ट हुए शुभाशुभ कर्मों की फल देकर जो निवृत्ति होती है उसे सविपाक निर्जरा कहते हैं।

अविपाक निर्जरा—उदयावली के बाहर स्थित कर्म को तप आदि क्रियाविशेष की सामर्थ्य से उदयावली में प्रविष्ट करके अनुभव किया जाना अविपाक निर्जरा कहलाती है।

सविपाक निर्जरा तो केवल उदयगत कर्मों की होती है और अविपाक निर्जरा उदय और अनुदय अवस्था को प्राप्त सभी कर्मों की होती है। सविपाक निर्जरा तो सभी संसारी जीवों के होती रहती है किन्तु अविपाक निर्जरा सम्यग्दृष्टि व्रतधारियों के होती है। सम्यग्दृष्टि, श्रावक, सर्वविरत, आदि की क्रमशः कर्मनिर्जरा अनन्त गुनी अधिक होती है किंतु समय क्रम-क्रम से अल्प लगता है।

---

1 आत्मा के साथ बंध होने के बाद हुआ पुद्गल द्रव्य जितने समय तक उदय में न आकर अथवा उदीरणा में न हो अर्थात् अपने विपाकानुभव में नहीं आता, उस समय को अबाधाकाल कहते हैं।

2 बद्ध-कर्मों की स्थिति तथा अनुभाग में होने वाले अध्यवसाय—परिणामविशेष से कमी कर देना अपवर्तनाकरण कहलाता है।

(९) उदीरणा—उदयकाल को प्राप्त नही हुए कर्मों का आत्मा के अध्यवसायविशेष—प्रयत्नविशेष से नियत समय से पूर्व उदय के लिये उदयावलिका मे प्रविष्ट करना—अवस्थित करना उदीरणा कहलाती है। अर्थात नियत समय से पूर्व कर्म का उदय में आना उदीरणा है।[1] उदीरणा के चार प्रकार है—प्रकृति उदीरणा, स्थिति उदीरणा, अनुभाग उदीरणा और प्रदेश उदीरणा।

उदय और उदीरणा मे यद्यपि कर्म-विपाक का वेदन किया जाता है, फिर भी दोनो मे यह अन्तर है कि उदयावस्था मे बद्ध कर्मस्कन्ध अपकर्षण, उत्कर्षण आदि प्रयोग के बिना स्थिति क्षय को प्राप्त होकर अपना-अपना फल देते है और उदीरणावस्था मे दीर्घस्थिति और अनुभाव मे अवस्थित कर्मस्कंध अपकर्षण करके फल देने वाले किये जाते हैं। सारांश यह है कि कर्म के फलभोग के नियतकाल को उदय और अनुदय काल को प्राप्त कर्मों को फलोदय की स्थिति मे ला देना उदीरणा है।

(१०) सत्ता—कर्मों को अपनी निर्जरा अर्थात् क्षय होने तक आत्मा के साथ संबद्ध रहने की स्थिति का नाम सत्ता है। अर्थात् बंधने के पश्चात् जब तक उदय मे आकर विवक्षित कर्म-दलिक पूर्णरूपेण निर्जीर्ण नही हो जाते, तब तक उस कर्म की सत्ता कही जाती है। कर्म-पुद्गलो के विवक्षित कर्म रूप मे परिणत होने के कारण बंधन[2] और संक्रमण करण[3] है। ये बद्ध कर्म या तो निर्जरा के द्वारा क्षय हो जाते हैं या संक्रम अवस्था से रूपान्तरित, इसलिये जब तक बद्ध कर्मों

---

१ उदीरणाऽपक्वपाचणफल। —पंचसंग्रह ३।३

२ आत्मा की जिस शक्ति—वीर्यविशेष से कर्म का बंध होता है वह बंधन-करण कहलाता है।

३ एक कर्म रूप मे स्थित प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश का अन्य सजातीय कर्म रूप मे बदल जाना संक्रम है।

की निर्जरा नहीं होती और संक्रम से रूपान्तरित नहीं होते किंतु अपने स्वरूप में ही बने रहते हैं तब तक अपने विवक्षित स्वरूप में बना रहना उस कर्म की सत्ता[1] कहलाती है।

सत्ता, सत्त्व, सत् ये सब एकार्थवाची नाम हैं।

(११) बंधहेतु—मिथ्यात्व आदि जिन वैभाविक परिणामों (कर्मोदय जन्य आत्मा के परिणाम—क्रोध आदि) से कर्मयोग्य पुद्गल कर्म रूप में परिणत हो जाते हैं उन वैभाविक परिणामों को बंधहेतु कहते हैं। सामान्यतया मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग[2] यह कर्मबंध के हेतु माने गये हैं तथा ज्ञानावरण आदि अष्ट कर्मों के अपने अपने विशेष बंधहेतु भी हैं। इन विशेष बंधहेतुओं में मिथ्यात्व आदि का सद्भाव तो रहता ही है लेकिन विशेष हेतुओं के द्वारा उस-उस कर्म का विशेष रूप से बंध होता है तथा अन्य कर्मों का सामान्य रूप से। उनका विशेष स्पष्टीकरण प्रथम कर्मग्रंथ में किया गया है। अतः जिज्ञासु जन वहाँ से जानकारी कर लेवें।

---

१ बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता के लक्षण प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ के भाष्य में इस प्रकार हैं—

जीवस्स पुग्गलाण य जुग्गाण परप्परं अभेएण।
मिच्छाइहेउविहिया जा घडणा इत्थ सो बंधो ॥
करणेण सहावेण व ठिइक्खए तमिभुवगयाण।
जं दलण विवागवेयणा उ उदओ जिणाभिहिओ ॥
कम्माणम जा करणविसेसाओ ठिइवक्खयाव।
जं उदयावलियाए पवेसणमुदीरणा सह ॥
बंधणसंकमलद्धत्तलाहकम्मस्सरूव अविणासो।
निज्जरणसंकमेहिं सन्नाओ जो य सो सत्ता ॥

—गा० १०, ११, १२, १३

२ मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः । —तत्त्वार्थसूत्र ८।१

(१२) अल्पबहुत्व[1]—पदार्थों के परस्पर न्यूनाधिक—अल्पाधिक भाव को अल्पबहुत्व कहते हैं। पदार्थों मे किसी एक परिणाम का निश्चय हो जाने पर उनकी परस्पर विशेष प्रतिपत्ति (ज्ञान) के लिये अल्पबहुत्व का आधार लिया जाता है। जैसे यह इसकी अपेक्षा अल्प है, यह अधिक है। अल्पबहुत्वभाव बुद्धि के द्वारा ग्रहण किया जाता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि निक्षेपो की अपेक्षा अल्पबहुत्व के अनेक भेद होते है।

(१३) भाव—जीव और अजीव द्रव्यो का अपने-अपने स्वभाव रूप से परिणमन होने को भाव कहते है।[2] जीव और अजीव द्रव्यो के अपने अनेक प्रकार के स्वभाव है, जो उनके भाव कहलाते है। अजीव द्रव्यो मे तो अपने-अपने स्वाभाविक भाव ही होते हैं लेकिन जीव में स्वाभाविक और वैभाविक दोनो प्रकार के भाव पाये जाते है। इसलिये जीव के औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक यह पाँच भाव माने गये हैं।[3] अजीव द्रव्यो मे से पुद्गल द्रव्य मे औदयिक, क्षायिक और पारिणामिक यह तीन भाव तथा शेष धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन चार द्रव्यो मे सिर्फ पारिणामिक भाव पाया जाता है।

(१४) सख्या—भेदो की गणना को सख्या कहते है।[4] पदार्थों के प्रमाण का कथन सख्या द्वारा किया जाता है। संख्यात, असख्यात और अनत ये सख्या के भेद है और उनकी अपनी-अपनी परिभाषा मे

---

१ क्षेत्रादिभेदभिन्नाना परस्परत: सख्याविशेषोऽल्पबहुत्वम्।

—सर्वार्थसिद्धि १।८।४७३

२ भाव परिणाम किल स चैव तत्त्वस्वरूपनिष्पत्ति।—पंचाध्यायी पृ० २७६

३ औपशमिकक्षायिको भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च।

—तत्त्वार्थसूत्र २।१

४ सख्या भेदगणना। —सर्वार्थसिद्धि १।८।२६।६

है। जिनका विशेष स्पष्टीकरण इसी ग्रंथ की गाथा ७३ में किया जा रहा है। संख्यात में तो संख्या की एक निश्चित सीमा होती है अतः उसका प्रतिपादन किया जाना सहज है लेकिन असंख्यात एवं अनन्त का प्रतिपादन क्षेत्र के प्रदेशों व काल के समयों के आधार पर किया जाता है।

इस प्रकार से ग्रंथ के वर्ण्य-विषयों की व्याख्या करने के बाद अब उनके वर्णन के लिये व्यवस्था मूलक विभागों का संकेत करते हैं।

वर्ण्य विषयों का विभाग

(१) जीवस्थान, (२) मार्गणास्थान और (३) गुणस्थान—ग्रंथ के यह तीन मुख्य अधिकार (विभाग) हैं और इन विभागों में वर्णित विषयों का कथन ग्रंथ की स्वोपज्ञवृत्ति में संग्रह गाथाओं द्वारा निम्न प्रकार से किया गया है—

चउदसजियठाणेसु चउदस गुणठाणगाणि जोगा य।
उवयोगलेसबंधुवउदीरणासत्त अट्ठ पए॥
चउदसमग्गणठाणसु मूलपएसु बिसट्ठि इयरेसु।
जियगुणजोगुवओगालेसऽप्पबहुं च छट्ठाणा॥
चउदसगुणठाणसु जियजोगुवओगलेस बंधा य।
बंधुदयुदीरणाओ सतऽप्पबहुं च दस ठाणा॥[1]

---

१ उक्त गाथाओं में से तीसरी गाथा में गुणस्थान के वर्ण्य विषयों के दस नाम गिनाये हैं। भाव और संख्या का अल्पबहुत्व में समावेश किया है क्योंकि अल्पबहुत्व या तो भावों का होगा या संख्या का। अतः भाव और संख्या का अलग से उल्लेख नहीं किया है। भाव और संख्या को मिलाने से बारह नाम हो जाते हैं। प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ की हारिभद्री टीका में भी इन्हीं गाथाओं का उल्लेख है।

श्री जीवविजयजी और जयसोमसूरि कृत टबे में उक्त गाथाओं के बदले निम्नलिखित तीन गाथाएँ देखने को मिलती हैं—

जीवस्थान को लेकर निम्नलिखित आठ विपयो का विचार किया गया है—

(१) गुणस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बन्ध, (६) उदय, (७) उदीरणा, (८) सत्ता।

मार्गणास्थान मे वर्णन किये जाने वाले छह विपय इस प्रकार है—

(१) जीवस्थान, (२) गुणस्थान, (३) योग, (४) उपयोग, (५) लेश्या, (६) अल्पवहुत्व।

गुणस्थान को लेकर वारह विपयो का वर्णन किया गया है—

(१) जीवस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) वध-हेतु, (६) वध, (७) उदय, (८) उदीरणा, (९) सत्ता, (१०) अल्पवहुत्व, (११) भाव (१२) सख्यात आदि सख्या।

अव आगे की गाथाओ मे विभागानुसार प्रत्येक विभाग मे उन-उनके वर्ण्य-विपयो का विवेचन किया जा रहा है।



नमिय जिण वत्तव्वा चउदसजिअठाणएसु गुणठाणा।
जोगुवओगो लेसा वधुदओदीरणा सत्ता॥
तह मूलचउदसमग्गण ठाणेसु वासट्ठि उत्तरेसु च।
जिअगुणजोगुवओगा लेसप्पवहु च छट्ठाणा॥
चउदसगुणेसु जिअजोगुवओगलेसाय वधहेऊ य।
वधाइचउअप्पा-वहु च तो भावसखाई॥

जीवस्थान अधिकार

इस अधिकार में जीवस्थान को लेकर गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता इन आठ विषयों का यथाक्रम से कथन करते हैं। सर्वप्रथम जीवस्थान के भेद व नाम कहते हैं।

जीवस्थान

इह सुहुमबायरेगिंदिबितिचउअसन्निसन्निपंचिंदी।
अपज्जत्ता पज्जत्ता कमेण चउदस जियट्ठाणा ॥२॥

शब्दार्थ—इह—इस लोक में, सुहुम—सूक्ष्म, बायर—बादर, एगिंदि—एकेन्द्रिय, बि—द्वीन्द्रिय, ति—त्रीन्द्रिय, चउ—चतुरिन्द्रिय, असन्नि—असंज्ञी, सन्नि—संज्ञी, पंचिंदी—पंचेन्द्रिय, अपज्जत्ता—अपर्याप्त, पज्जत्ता—पर्याप्त, कमेण—अनुक्रम से, चउदस—चौदह, जियट्ठाणा—जीवस्थान (है)।

गाथार्थ—इस लोक में सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय ये सातों अपर्याप्त और पर्याप्त के भेद से दो-दो प्रकार के होने से जीवस्थान चौदह होते हैं।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार ने पिछली गाथा में जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान के भेदों की संख्या अलग न बतलाकर नामों द्वारा उनकी भेद-संख्या का भी संकेत किया है। क्योंकि गाथा में जीवस्थान के नामों द्वारा चौदह भेद बताए हैं। ये चौदह भेद संसारी जीवों के हैं। और उन—संसारी जीवों में सामान्य धर्म की अपेक्षा ज्ञान और उपयोग—चेतना आदि हैं। क्योंकि धर्म समान होने से उनमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। क्योंकि नामों से

दृष्टि से जीव का लक्षण चेतना है और चैतन्यानुविधायी परिणाम को उपयोग कहते है। यह चैतन्य और उसका उपयोग रूप परिणाम जीव को छोडकर अन्य द्रव्यो मे नही पाया जाता है। जीव की प्रवृत्ति-परिणति मे सदैव अन्वय रूप से उसका परिणमन होता रहता है।

उपयोग के दो भेद है—ज्ञान और दर्शन। प्रत्येक पदार्थ मे दो प्रकार के धर्म पाये जाते है, जिनके नाम क्रमश· सामान्य और विशेप है। इनमे से सामान्य धर्म दर्शनोपयोग का विपय है[1] और विशेप ज्ञानोपयोग का। दर्शनोपयोग पदार्थगत सामान्य अश को ग्रहण (वोध) करता है और ज्ञानोपयोग यह घट है, यह पट है इत्यादि रूप से प्रत्येक पदार्थो को उन-उनकी विशेपताओ की मुख्यता से विकल्प करके पृथक्-पृथक् रूप से ग्रहण करता है।

वस्तु के सामान्य धर्म को ग्रहण करने वाले दर्शनोपयोग के चार भेद है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन और विशेपधर्मग्राही ज्ञानोपयोग के आठ भेद है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन.पर्ययज्ञान, केवलज्ञान, मति-अज्ञान, श्रुताज्ञान, अवधि-अज्ञान (विभग ज्ञान)[2]। इन सबकी विशद व्याख्या प्रथम कर्म-ग्रन्थ मे की गई है।

---

१ ज सामण्ण गहण भावाण णेव कट्टु आयर।
अविसेसि ऊण अत्थ, दसणमिदि भण्णदे समए॥
—पचसग्रह १।१३८

२ (क) उवओगो दुवियप्पो दसण णाण च दसण चदुधा।
चक्खु अचक्खू ओही दसणमध केवल णेय॥
णाणअट्ठ वियप्प मदि सुदि ओही अण्णाणणाणाणि।
मणपज्जवकेवलमवि पच्चक्ख परोक्ख भेय च॥
—द्रव्यसंग्रह ४, ५

ज्ञानोपयोग के उक्त आठ भेदों में मति-अज्ञान आदि अज्ञान के तीन भेदों को ग्रहण करने का कारण यह है कि ये तीनों मिथ्यात्व के उदय से विपरीत अभिनिवेश—अभिप्राय वाले होते हैं। इसीलिये मति अज्ञान (कुमति), श्रुत-अज्ञान (कुश्रुत) तथा अवधि-अज्ञान (विभंग ज्ञान) यह उनके नाम हो जाते हैं। लेकिन जब ये तीनों ही तत्त्व के विषय में सम्यक्त्व के सद्भाव में विपरीत अभिनिवेश का अभाव होने से सम्यक् होते हैं तो सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं।

उक्त आठ प्रकार का ज्ञानोपयोग भी प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। मन और इन्द्रिय आदि बाह्य निमित्तों की सहायता से होने वाला पदार्थ सम्बन्धी विज्ञान परोक्ष कहलाता है और जो केवल जीव (आत्मा) के द्वारा ही बोध होता है, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है। अर्थात् मन, इन्द्रिय, परोपदेश आदि पर-निमित्तों की अपेक्षा रखे बिना एकमात्र आत्मस्वभाव से ही समस्त द्रव्यों और उनकी पर्यायों को जानना प्रत्यक्ष कहलाता है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, कुमति और कुश्रुत यह चार ज्ञान परोक्ष हैं। क्योंकि ये मतिज्ञान आदि चारों ज्ञान पदार्थों के जानने में मन और इन्द्रियों की सहायता की अपेक्षा रखते हैं। अवधिज्ञान, मनःपर्याय

(ख) स उपयोगो द्विविधः ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्चेति। ज्ञानोपयोगोऽष्टभेदः मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभंगज्ञानं चेति। दर्शनोपयोगश्चतुर्विधः चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं केवलदर्शनं चेति। —सर्वार्थसिद्धि २।९

(ग) कतिविहे णं भंते! उवओगे पण्णत्ते? गोयमा! दुविहे उवओगे पण्णत्ते। तं जहा—सागारोवओगे अणागारोवओगे य। सागारोवओगे णं भंते! कतिविहे पण्णत्ते? गोयमा! अट्ठविहे पण्णत्ते। अणागारोवओगे णं भंते! कतिविहे पण्णत्ते? गोयमा! चउव्विहे पण्णत्ते। —प्रज्ञापना पद २

और केवलज्ञान मे आत्मा साक्षात्, मूर्त-अमूर्त पदार्थों का ज्ञान करती है। अत वे प्रत्यक्ष माने जाते है। उनमे से अवधिज्ञान, मन पर्याय ज्ञान और विभगज्ञान ये तीन देशप्रत्यक्ष तथा केवलज्ञान सकल-प्रत्यक्ष है।

चेतना, उपयोग अथवा जीवत्व की अपेक्षा सभी जीवो का स्वरूप एक जैसा होने पर भी कर्मबद्ध अनन्त जीव जन्म-मरण रूप ससार मे परिभ्रमण करने से ससारी और नि शेप रूप से कर्मावरण का क्षय करके आत्मस्वरूप मे अवस्थित जीव मुक्त कहलाते है। इस प्रकार कर्म-सहित और कर्मरहित अवस्था की दृष्टि से जीवो के दो भेद हो जाते है—ससारी और मुक्त। ससारी जीव भी अनन्त है और मुक्त जीव भी अनन्त है। मुक्त जीवो के निष्कर्म होने से उनमे किसी प्रकार का भेद नही है, सभी स्वभाव से परिपूर्ण और समान है किन्तु ससारी जीवो के कर्मसहित होने से इनमे गति, जाति, शरीर आदि-आदि की अपेक्षाओ से अनेक प्रकार की विभिन्नताये देखी जाती है। ये कर्म-जन्य अवस्थाये अनन्त है, जिनका एक-एक व्यक्ति की अपेक्षा ज्ञान करना छद्मस्थ व्यक्ति के लिये सहज नही है। अत सर्वज्ञ केवलज्ञानी तीर्थकरो ने उन सवका सरलता से ज्ञान कराने के लिये सभी प्रकार के ससारी जीवो का एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति आदि के रूप से विभागानुसार वर्गीकरण करके चौदह वर्ग वनाये है। जिनमे सभी ससारी जीवो का समावेश हो जाता है और इनको जीवस्थान कहते है।

संसारी जीवो के इन्द्रियापेक्षा भेद

ससारी जीवो की पॉच जातियॉ (प्रकार) है—(१) एकेन्द्रिय, (२) द्वीन्द्रिय, (३) त्रीन्द्रिय, (४) चतुरिन्द्रिय, (५) पचेन्द्रिय। जाति का अर्थ है सामान्य अर्थात् जिस शव्द के वोलने या सुनने से सभी समान गुण-धर्म वाले पदार्थो का ग्रहण हो जाये। जैसे मनुष्य, गाय, भैस आदि वोलने से सभी प्रकार के मनुष्यो, गायो, भैसो आदि का ग्रहण हो

जाता है। वैसे ही एकेन्द्रिय कहने से सभी एक इन्द्रिय वाले जीवों का ग्रहण एवं ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार द्वीन्द्रिय जाति आदि पंचेन्द्रिय जाति तक के जीवों के बारे में भी समझ लेना चाहिये। एक इन्द्रिय वाले जीव स्थावर तथा द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त के जीव त्रस कहलाते हैं।

जो अपने-अपने विषय के ज्ञान और सेवन (ग्रहण) करने में स्वतन्त्र हैं उसे इन्द्रिय कहते हैं। जैसे नेत्र रूप का ज्ञान करने में स्वतन्त्र है, अन्य स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ रूप का ज्ञान नहीं कर सकती हैं। जो जिस इन्द्रिय का विषय होता है वह उसी के द्वारा ग्रहण किया जाता है। दूसरी इन्द्रियाँ सैकड़ों प्रयत्न करने पर भी अन्य इन्द्रिय के विषय को न जान सकती है और न ग्रहण कर सकती हैं किंतु अपने अधीन विषय को जानती और ग्रहण करती हैं।

इन्द्रिय के पाँच भेद हैं[1]—(१) स्पर्शन, (२) रसन, (३) घ्राण (४) चक्षु और (५) श्रोत्र।[2] ये इन्द्रियाँ भी द्रव्य और भाव से दो प्रकार की हैं।[3] इनमें से द्रव्येन्द्रियाँ पौद्गलिक—पुद्गलजन्य होने से जड़ रूप हैं और भावेन्द्रियाँ चेतना शक्ति की पर्याय होने से भाव रूप हैं। द्रव्येन्द्रियाँ अंगोपांग और निर्माण नाम कर्म से निर्मित होती हैं।

---

१ (क) कति णं भंते ! इंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचेंदिया पण्णत्ता। —प्रज्ञापना १५।१।१९१

(ख) पञ्चेन्द्रियाणि। —तत्त्वार्थसूत्र २।१५

२ (क) सोइन्दिय चक्खिन्दिय घाणिन्दिय जिब्भिन्दिय फासिन्दिय। —प्रज्ञापना इन्द्रिय पद १५

(ख) स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि। —तत्त्वार्थसूत्र २।२०

(क) कतिविहा णं भंते ! इंदिया पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता तं जहा दव्विंदिया य भाविंदिया य। —प्रज्ञापना १५।१

(ख) द्विविधानि। —तत्त्वार्थसूत्र २।१६

द्रव्येन्द्रिय के दो भेद है—निर्वृत्ति और उपकरण।[1] इन्द्रियो के आकार-रचना को निर्वृत्ति कहते है। निर्वृत्ति (१) वाह्य और (२) अतरग के भेद से दो प्रकार की है।[2] इन्द्रियो के वाह्य आकार-रचना को वाह्य निर्वृत्ति कहते है और आतरिक—भीतरी आकार को आभ्यन्तर निर्वृत्ति। आभ्यन्तर निर्वृत्ति की विषय ग्रहण की शक्ति को उपकरणेन्द्रिय कहते है। उपकरणेन्द्रिय निर्वृत्ति का उपकार करती है।[3] इसलिये इसके भी आभ्यन्तर और वाह्य यह दो भेद हो जाते हैं। जैसे नेत्र इन्द्रिय मे कृष्ण-शुक्ल मडल आभ्यन्तर उपकरण है तथा पलक, वरौनी आदि वाह्य उपकरण।[4] इसी प्रकार से अन्य इन्द्रियो के वारे मे भी समझ लेना चाहिये।

स्पर्शनेन्द्रिय आदि पाँचो इन्द्रियो के आकार के संवध मे यह ज्ञातव्य है कि स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) की आकृति अनेक प्रकार की होती है और उसके वाह्य व आभ्यतर आकार मे भिन्नता नही होती है। वाहर और अदर एक जैसा आकार है किन्तु शेष रसन आदि अन्य चार इन्द्रियो के आकार इस प्रकार के माने गये है—

श्रोत्रेन्द्रिय का आकार—जौ की नाली जैसा अथवा कदम्व पुष्प के समान। चक्षुरिन्द्रिय का आकार—मसूर के दाने जैसा। घ्राणेन्द्रिय

---

१ (क) कइविहे ण भते! इदिय उवचए पण्णत्ते? गोयमा! पचविहे इन्दिय उवचए पण्णत्ते। कइविहे ण भते! इन्दिय णिवत्तणा पण्णत्ता? गोयमा पचविहा इन्दिय णिवत्तणा पण्णत्ता। —प्रज्ञापना १५।१२

(ख) निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्। —तत्त्वार्थसूत्र २।१७

२ सा द्विविधा वाह्याभ्यन्तर भेदात्। —सर्वार्थसिद्धि २।१७

३ येन निर्वृत्तेरुपकार क्रियते तदुपकरणम्। —सर्वार्थसिद्धि २।१७

४ पूर्ववत्तदपि द्विविधम्। तत्राभ्यन्तरकृष्णशुक्लमडल वाह्यमक्षिपत्रपक्ष्म-द्वयादि। एव शेषेष्वपीन्द्रियेषु ज्ञेयम्। —सर्वार्थसिद्धि २।१७

का आकार—अतिमुक्तक (तिल) के पुष्प जैसा। रसनेन्द्रिय का आकार—खुरपा जैसा या अर्ध चन्द्र के आकार जैसा।[1]

इन्द्रियों के उक्त आकार आभ्यन्तर की अपेक्षा से माने गये हैं किंतु बाह्य आकार सब जाति के जीवों में भिन्न भिन्न देखे जाते हैं। मनुष्य, हाथी, घोड़ा आदि के कान, नाक, आँख, जीभ आदि को देखने से यह भिन्नता स्पष्ट ज्ञात हो जाती है।

मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न आत्म विशुद्धि अथवा उस विशुद्धि से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को भावेन्द्रिय कहते हैं।[2] भावेन्द्रिय के लब्धि और उपयोग यह दो भेद हैं।[3] मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम—चेतना शक्ति की योग्यता विशेष को लब्धि रूप भावेन्द्रिय तथा लब्धि रूप भावेन्द्रिय के अनुसार आत्मा की विषय ग्रहण में होने वाली प्रवृत्ति को उपयोग रूप भावेन्द्रिय कहते हैं।

इन द्रव्य और भाव रूप से मानी गई इन्द्रियों में कार्यकारण भावरूपता है। क्योंकि द्रव्येन्द्रियाँ शब्द, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श नामक मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से एवं भावेन्द्रियों के होने पर ही अपने-अपने विषय में प्रवृत्त होती हैं। अर्थात् क्षयोपशम रूप

---

1 (क) जवणालिया मसूरिअ अतिमुत्तयचन्द खुरप्प य ।
इन्दियसंठाणा खलु फासस्स अणेयसंठाणं ॥
—पंचसंग्रह १।६६

(ख) प्रज्ञापना पद १५

२ मदिआवरणखओवसमुत्थविसुद्धी हु तज्जबोहो वा।
भाविंदिय ॥
—गो० जीवकांड १६५

३ (क) लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् । —तत्त्वार्थसूत्र २।१८

(ख) कतिविहा णं भंते ! इन्दियलद्धी पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा इन्दियलद्धी पण्णत्ता। कतिविहा णं भंते ! इन्दियउवओगद्धा पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा इन्दियउवओगद्धा पण्णत्ता। —प्रज्ञापना २।१५

भावेन्द्रियो के होने पर ही द्रव्येन्द्रियो की उत्पत्ति-प्रवृत्ति होती है, इसीलिये भावेन्द्रियाँ कारण है और द्रव्येन्द्रियाँ कार्य तथा भावेन्द्रियो के होने पर ही द्रव्येन्द्रियों को इन्द्रिय सज्ञा प्राप्त होती है। अथवा उपयोग रूप भावेन्द्रियो की उत्पत्ति—प्रवृत्ति द्रव्येन्द्रियो के निमित्त से होती है इसीलिये भावेन्द्रिया कार्य है और द्रव्येन्द्रियां कारण। यह कोई कल्पना नही है क्योकि कार्यगत धर्म का कारण मे और कारण-गत धर्म का कार्य मे उपचार जगत् मे निमित्त रूप से पाया जाता है।

एकेन्द्रिय जीवो मे सिर्फ पहली स्पर्शनेन्द्रिय होती है। रसन आदि श्रोत्र पर्यन्त शेप इन्द्रियाँ नही होती है। इसीलिये एक स्पर्शनेन्द्रिय वाले जीवो को एकेन्द्रिय जीव कहते है। द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के जीवों मे स्पर्शनेन्द्रिय के अनन्तर क्रमश रसन आदि एक-एक इन्द्रिय वढती जाती है। अर्थात् एकेन्द्रिय मे सिर्फ स्पर्शनेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय मे स्पर्शन-रसन, त्रीन्द्रिय में स्पर्शन-रसन-घ्राण, चतुरिन्द्रिय मे स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु और पचेन्द्रिय मे स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु और श्रोत्र, इस प्रकार से एक-एक इन्द्रिय की वृद्धि होती जाती है।

जीवो के एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि पॉच भेद माने जाने का कारण द्रव्येन्द्रियाँ हैं। वाहर मे प्रकट रूप से जितनी-जितनी इन्द्रियाँ दिखलाई देती है, उनके आधार से एकेन्द्रिय आदि भेद किये जाते है। लेकिन सभी ससारी जीवो के भावेन्द्रियाँ तो पॉचो होती हैं—

अहवा पडुच्च लद्धिदियं पि पचेन्दिया सव्वे।—विशेषावश्यक २९९९

अथवा लब्धि इन्द्रिय की अपेक्षा से सभी ससारी जीव पचेन्द्रिय हैं।

पचेदिउ व्व वउलो नरो व्व सव्व विसओवलभाओ।

—विशेषावश्यक गा० ३००१

अर्थात् सव विपयो का ज्ञान होने की योग्यता के कारण वकुल वृक्ष मनुष्य की तरह पॉचो इन्द्रियो वाला है।

इस प्रकार एकेंद्रिय आदि पचेंद्रिय पर्यन्त प्रत्येक ससारी जीवो के भावेंद्रियाँ पाँचो होती है। लेकिन वे उत्तरोत्तर व्यक्त से व्यक्ततर है। यानी एक एकेंद्रिय की अपेक्षा द्वीन्द्रिय की भावेंद्रिया व्यक्ततर है। इसी प्रकार क्रमश पचेंद्रिय तक समझना चाहिये।

एकेंद्रिय आदि जीवो के पाचो भावेन्द्रियो के मानने मे किसी प्रकार का सन्देह नही है। इस बात को आधुनिक विज्ञान ने भी प्रमाणित कर दिया है। डा० जगदीशचन्द्र बसु ने वनस्पति (एकेंद्रिय जीव) मे स्मरण शक्ति का अस्तित्व सिद्ध कर ही दिया है। स्मरण शक्ति मानस शक्ति का कार्य है और जब वह एकेंद्रिय मे भी पाई जाती है तो मन से निम्नस्तर की मानी जाने वाली अन्य इंद्रियो के उनमे होने मे किसी प्रकार की बाधा-सदेह नही है।

एकेन्द्रिय जीवो के पाच प्रकार है—(१) पृथ्वीकाय, (२) अप्काय (पानी), (३) तेजस्काय (अग्नि), (४) वायुकाय, (५) वनस्पतिकाय।[1] इनके सिर्फ एकेंद्रिय होने से स्थावर तथा द्वीन्द्रिय आदि पचेन्द्रिय तक के जीव त्रस कहलाते है।[2]

पृथ्वीकाय आदि पाचो प्रकार के स्थावर—एकेंद्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं—सूक्ष्म और बादर, किन्तु द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेंद्रिय जीवो मे सूक्ष्म या बादर-कृत भेद नही होता है। वे सभी बादर ही होते है। एकेंद्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के जीव मन नही होने से असंज्ञी-अमनस्क होते है किन्तु पचेंद्रिय

---

१ (क) पच थावरकाया पण्णत्ता—त जहा इदे थावरकाए बम्भे थावरकाए सिप्पे थावरकाए, समती थावरकाए, पाजावच्चे थावरकाए। —स्थानांग ५।३९३

(ख) पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय स्थावरा। —तत्त्वार्थसूत्र २।१३

२ (क) ससार समावन्नगा तस चेव थावरे चेव। —स्थानाग २।५७

(ख) ससारिणस्त्रसस्थावरा। —तत्त्वार्थसूत्र २।१२

जीवो मे कोई-कोई जीव मनसहित और कोई-कोई मनरहित होते है। जो पचेन्द्रिय जीव मनसहित है उन्हे सञ्ज्ञी—समनस्क और मन-रहित पचेन्द्रिय जीवो को असञ्ज्ञी—अमनस्क कहते है।

इस प्रकार एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के जीवो के निम्न भेद होते है—

(१) सूक्ष्म एकेन्द्रिय, (२) वादर एकेन्द्रिय, (३) द्वीन्द्रिय, (४) त्रीन्द्रिय, (५) चतुरिन्द्रिय, (६) असञ्ज्ञी पचेन्द्रिय, (७) सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय। यह सातो पर्याप्त भी होते है और अपर्याप्त भी। अत· उक्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि सातो भेदो का पर्याप्त और अपर्याप्त से गुणा करने पर चौदह भेद हो जाते है। जो चौदह जीवस्थान कहलाते है।

चौदह जीवस्थानो के नाम क्रमश इस प्रकार है—

(१) सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, (२) सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त, (३) वादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, (४) वादर एकेन्द्रिय पर्याप्त, (५) द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, (६) द्वीन्द्रिय पर्याप्त, (७) त्रीन्द्रिय अपर्याप्त, (८) त्रीन्द्रिय पर्याप्त, (९) चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त, (१०) चतुरिन्द्रिय पर्याप्त, (११) असञ्ज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त, (१२) असञ्ज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त, (१३) सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त, (१४) सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त।[1]

---

१ (क) आगमो मे जीवस्थान के वदले 'भूतग्राम' शब्द आया है और उसके १४ भेद जीवस्थान के समान है—

चउदस भूअग्गामा पण्णत्ता त जहा—सुहुम अपज्जत्ता सुहम पज्जत्तया, वादरा अपज्जत्तया वादरा पज्जत्तया वेइन्दिया अपज्जत्तया वेइन्दिया पज्जत्तया, तेइदिया अपज्जत्तया तेइदिया पज्जत्तया, चउरिंदियाअपज्ज-त्तया चउरिंदिया पज्जत्तया पंचिदिया असन्नि अपज्जत्तया, पंचिदिया असन्नि पज्जत्तया, पंचिदिया सन्नि अपज्जत्तया, पंचिदिया सन्नि पज्जत्तया। —समवायांग १४।१

एकेंद्रिय के सूक्ष्म और वादर भेद सम्बन्धी स्पष्टीकरण

जीवस्थान के उक्त चौदह भेदो म स एकेंद्रिय के सूक्ष्म और वादर यह दो भेद माने गये ह। द्वीन्द्रिय से लेकर पचेंद्रिय तक के जीव तो वादर (स्थूल) शरीर वाले ही होते है आर वे आँखो से भी दिखाई देते है, लेकिन एकेंद्रिय जीवो के सूक्ष्म और वादर यह दो भेद मानने के कारण यह है कि सूक्ष्म शरीर वाले एकेंद्रिय जीव तो आखो स नही देखे जा सकते है लेकिन उनका अस्तित्व ज्ञानगम्य है और वादर शरीर वाले एकेंद्रिय जीव ज्ञानगम्य होन के साथ-साथ आँखो से भी दिखलाई देते ह।

एकेंद्रियो के सूक्ष्म और वादर शरीर की प्राप्ति सूक्ष्म और वादर नामकम के उदय से होती है। सूक्ष्म नामकम स्थावर दशक और वादर नामकम त्रसदशक मे मानी गई कम प्रकृति है।

सूक्ष्म नामकम के उदय स जो सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है वह स्वय न किसी स रुकता है और न अन्य किसी को रोकता है। अर्थात् सूक्ष्म नामकम से प्राप्त शरीर परस्पर व्याघात से रहित है। यह शरीर अन्य जीवो के अनुग्रह या उपघात के अयोग्य होता है। यह अनुभवसिद्ध भी है। जिस प्रकार सूक्ष्म होन स अग्नि लोह के गोले म प्रविष्ट हो जाती है, उसी प्रकार मे सूक्ष्म नामकम से प्राप्त शरीर भी लोक के किसी भी प्रदेश म प्रविष्ट हो सकता ह।

(ग) दिगम्बर ग्रथो म जीवस्थान क लिय जीवसमास शब्द का प्रयोग करके इस प्रकार स १४ भेद वतलाये हैं—

बादर सुहुमेइन्दी वितिचउरिंदिय असण्णिसण्णी य।
पज्जत्तापज्जत्ता एवं ते चोद्दसा होंति॥

पुढवीजलतेयवाऊवणप्फदी विविह थावरेइन्दी।
विगतिगचदुपचक्खा तसजीवा होति सखादि॥
समणा अमणा णेया पचिदियणिम्मणा परे सव्वे।
वादरसुहुमेइन्दी सव्वे पज्जत्त इदरा य॥

—द्रव्यसग्रह गा० ११, १२

तैजस और कार्मण शरीर तो सूक्ष्मतम है। उनका सभी ससारी जीवो के साथ अनादि सम्बन्ध है तथा आघात-प्रतिघात से रहित है। मरणकाल मे इन दोनो शरीर के साथ ससारी जीव वज्रमय कमरे से भी निकल जाता है और कमरे मे किसी प्रकार का छेद या दरार आदि नही होती है। इसी प्रकार से पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति काय वाले स्थावर एकेन्द्रिय जीवो मे से किन्ही-किन्ही जीवो का सूक्ष्म नामकर्म के उदय से प्राप्त शरीर न तो अपने अवस्थान से अन्य को आघात पहुँचाता है और न उनसे प्रतिघात को प्राप्त होता है। आँखो से दिखाई न देना यह सूक्ष्म की व्याख्या स्थूल दृष्टिकोण से की जाती है, लेकिन सूक्ष्म का वास्तविक अर्थ यह है कि वैसे शरीर की प्राप्ति होना जो मूर्त द्रव्यो के आघात, प्रतिघात, अनुग्रह आदि अवस्थाओ से रहित है।

जिस कर्म के उदय से जीव बादर काय की प्राप्ति करता है उसको बादर नामकर्म कहते है। अन्य को बाधा पहुँचाने वाले शरीर का निवर्तक बादर नामकर्म है। आँखो से दिखलाई दे, आँखो से देखा जा सके, चक्षुइन्द्रिय का विषय हो—यही बादर का अर्थ नही है। क्योकि एक-एक बादर काय वाले पृथ्वीकाय आदि का शरीर बादर शरीर को प्राप्त करने पर भी आँखो से देखा नही जा सकता है। किन्तु बादर नामकर्म पृथ्वीकाय आदि जीवो मे एक प्रकार के बादर परिणाम को उत्पन्न करता है जिससे बादर पृथ्वीकाय आदि के जीवो के शरीर समुदाय मे एक प्रकार की अभिव्यक्ति प्रगट हो जाती है और उससे वे शरीर दृष्टिगोचर होते है। बादर नामकर्म के कारण ही बादर जीवो का मूर्त द्रव्यो के साथ घात-प्रतिघात आदि होता है।

सूक्ष्म शरीर से असख्यात गुणी अधिक अवगाहना वाले शरीर को बादर और उस शरीर से युक्त जीवो को उपचार से बादर जीव अथवा

बादर शरीर से असख्यात गुणी हीन अवगाहना वाले शरीर को सूक्ष्म और उस शरीर से युक्त जीवों का उपचार से सूक्ष्म जीव कहते है तो इस प्रकार की कल्पना करना भी युक्तिसगत नही है। क्योंकि सूक्ष्म शरीर से भी असख्यात गुण हीन अवगाहना वाले और बादर नाम-कर्म के उदय से उत्पन्न हुए बादर शरीर की उपलब्धि होती है। अत अवगाहना की अपेक्षा सूक्ष्म और बादर का भेद नही किया जा सकता है।

इसी प्रकार प्रदेशो की अल्पाधिकता की अपेक्षा भी सूक्ष्म और बादर भेद नही है कि जिसमे अधिक परमाणु हो वह बादर और कम परमाणु हो वह सूक्ष्म। क्योकि तैजस और कार्मण शरीर अनन्त प्रदेशी है किन्तु उनका अति सघन और सूक्ष्म परिणमन होने से इन्द्रियो द्वारा ग्रहण नही होता है। यह भी नियम नहीं है कि स्थूल (बादर) बहुत प्रदेश सख्या वाला होना चाहिये, क्योकि स्थूल एरण्ड वृक्ष से सूक्ष्म लोहे के गोले की एकरूपता नही बन सकती है। एरण्ड का वृक्ष, रुई का ढेर स्थूल दृष्टि से अधिक स्थान को घेरता है और लोहे का पिण्ड कम स्थान को लेकिन उनके परमाणुओ की गिनती की जाये तो सम्भव है लोहे के पिण्ड मे एरण्ड के वृक्ष या रुई के ढेर से भी सख्यात, असख्यात गुने अधिक परमाणु हो। अत प्रदेशापेक्षा भी ससारी जीवो के शरीर के लिए सूक्ष्म और बादर का विचार नही किया जा सकता है। समस्त ससारी जीवो के शरीर मे जो बादरत्व और सूक्ष्मत्व भेद माना जाता है वह बादर और सूक्ष्म नाम-कर्म जन्य है।

बादर और सूक्ष्म नामकर्म यह दोनो जीवविपाकिनी प्रकृतिया है।[1] लेकिन इनकी अभिव्यक्ति शरीर के पुद्गलो के माध्यम से होने

---

[1] पचम कर्मग्रन्थ गा० २०

का कारण यह है कि जीवविपाकिनी प्रकृति का शरीर में प्रभाव दिखाना विरुद्ध नहीं है। जैसे कि क्रोध यद्यपि जीवविपाकिनी प्रकृति है, लेकिन उसका उद्रेक—भौंह का टेढा होना, आँखों का लाल हो जाना, ओठो मे फडफड़ाहट होना इत्यादि परिणामो द्वारा प्रकट रूप मे दिखाई देता है। सारांश यह है कि कर्मशक्ति विचित्र है। वह अपना फल किसी न किसी आधार एवं माध्यम से देती है, इसलिये बादर नाम पृथ्वीकाय आदि जीवो मे एक प्रकार के बादर परिणाम को उत्पन्न कर देता है जिससे उनके शरीरो मे एक प्रकार की अभिव्यक्ति प्रगट हो जाती है और वे शरीर दृष्टिगोचर होते है। मूर्त द्रव्यों से आघात-प्रतिघात आदि होने लगता है। लेकिन सूक्ष्म नामकर्म पृथ्वीकाय आदि जीवो मे इस प्रकार का सूक्ष्म परिणाम उत्पन्न कर देता है जिससे वे अनन्त जीवशरीर एकत्रित हो जाने पर भी दृष्टिगोचर नहीं हो पाते हैं और न अन्य किसी से उनका घात-प्रतिघात ही होता है लेकिन अपने प्राप्त शरीर से विद्यमान रहते है।

एकेन्द्रिय जीवो के सूक्ष्म और बादर यह दो भेद मानने के पूर्वोक्त कथन का सारांश यह है कि सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव वे है जिन्हे सूक्ष्म नामकर्म का उदय है। इनका शरीर इतना सूक्ष्मतम होता है कि यदि वे असंख्यात, अनन्त भी एकत्रित हो जाये तब भी दृष्टिगोचर नही हो पाते हैं। ऐसे जीव सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त है। ज्ञान के द्वारा जानने योग्य होने पर भी वाचनिक व्यवहार के अयोग्य है।

किन्तु बादर एकेन्द्रिय जीवों मे बादर नामकर्म का उदय होता है। ये जीव लोक के प्रतिनियत देश मे रहते है, सर्वत्र नही। यद्यपि बादर एकेन्द्रिय जीव भी ऐसे है कि प्रत्येक का पृथक्-पृथक् शरीर दृष्टिगोचर नहीं होता है किन्तु उनके शारीरिक परिणमन मे बादर रूप से परिणमित होने की, अभिव्यक्त होने की विशेष क्षमता होने से वे

समुदाय रूप में दिखलाई दे सकते हैं। इसीलिये उन्हें ज्ञानगम्य होने के साथ-साथ व्यवहारयोग्य कहा गया है।

सूक्ष्म और बादर सभी प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों के सिर्फ पहली स्पर्शनेन्द्रिय होती है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति काय ये पांचों एकेन्द्रिय वाले जीव हैं।

द्वीन्द्रिय जीवों के स्पर्शन (त्वचा, शरीर) और रसन (जीभ) ये दो इन्द्रियाँ होती हैं। शंख, सीप, कृमि आदि जीव द्वीन्द्रिय हैं।

स्पर्शन, रसन और घ्राण (नाक) यह तीन इन्द्रियां जिन जीवों के होती हैं उन्हें त्रीन्द्रिय कहते हैं। जैसे खटमल, जू आदि।

चतुरिन्द्रिय जीवों के पूर्वोक्त तीन और नेत्र (आंख) यह चार इन्द्रियाँ होती हैं। भ्रमर, मक्खी मच्छर, बिच्छू आदि की गणना चतुरिन्द्रिय जीवों में होती है।

स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र (कान) यह पांचों इन्द्रियाँ जिन जीवों के होती हैं उन्हें पंचेन्द्रिय कहते हैं। जैसे मनुष्य गाय बैल देव, नारक आदि।

संसार में नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति के रूप में विद्यमान समस्त जीवों में से तिर्यंचगति के जीवों को छोड़कर शेष नारक, मनुष्य और देव पंचेन्द्रिय होते हैं। उन्हें स्पर्शन आदि श्रोत्र पर्यन्त पांचों इन्द्रियाँ होती हैं किन्तु तिर्यंच जीवों में से किन्हीं को एक, किन्हीं को दो तीन, चार या पांच इन्द्रियाँ होती हैं।

तिर्यंच गति के उक्त एक से लेकर पांच इन्द्रिय तक के जीवों में से द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय वाले जीव तो अपने हिताहित की प्रवृत्ति निवृत्ति के निमित्त हलन चलन करने में समर्थ हैं लेकिन एकेन्द्रिय वाले असमर्थ हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के जीवों में मन नहीं होने से असंज्ञी और पंचेन्द्रिय वाले तिर्यंच जीवों में भी कोई

मनसहित और कोई मनरहित होते हैं। अत पचेन्द्रिय तिर्यंचो के सज्ञी और असज्ञी की अपेक्षा दो प्रकार हो जाते है।

संज्ञी और असंज्ञी मानने का कारण

सज्ञा शब्द के तीन अर्थ है—(१) नामनिक्षेप, जो कि व्यवहार आदि के लिये किसी का रख दिया जाता है। जैसे राम कृष्ण इत्यादि। (२) आहार, भय, मैथुन, परिग्रह की इच्छा। (३) धारणात्मक या ऊहापोह रूप विचारात्मक ज्ञान विशेष। जीवो के सज्ञित्व और असज्ञित्व के विचार करने के प्रसग मे सज्ञा का आशय नाम-निक्षेपात्मक न लेकर मानसिक क्रिया विशेष लिया जाता है। यह मानसिक क्रिया दो प्रकार की होती है—ज्ञानात्मक और अनुभवात्मक (आहारादि की इच्छा रूप)। इसीलिये सज्ञा के दो भेद हैं—ज्ञान और अनुभव। मति, श्रुत आदि पॉच प्रकार के ज्ञान ज्ञानसज्ञा है और (१) आहार, (२) भय, (३) मैथुन, (४) परिग्रह, (५) क्रोध, (६) मान, (७) माया, (८) लोभ, (९) ओघ, (१०) लोक, (११) मोह, (१२) धर्म, (१३) सुख, (१४) दुःख, (१५) जुगुप्सा, (१६) शोक, यह अनुभव सज्ञा के १६ भेद है।[1]

ये अनुभव सज्ञाये सभी जीवो मे न्यूनाधिक प्रमाण मे पाई जाती है। इसलिये ये—सज्ञी-असज्ञी व्यवहार की नियामक नही है। शास्त्रो मे सज्ञी और असज्ञी का जो भेद माना जाता है वह अन्य सज्ञाओ की अपेक्षा से है। नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम या तज्जन्य ज्ञान

---

१ अनुभव सज्ञा के उक्त १६ भेद आचाराग निर्युक्ति गा० ३८-३९ के अनुसार है, लेकिन भगवती शतक ७, उद्देश ८ तथा प्रज्ञापना पद ८ मे आदि के १० भेद ही निर्दिष्ट है।

दिगम्बर ग्रन्थो मे आदि के चार भेद माने है—

सण्णा चउव्विहा—आहार-भय-मेहुण-परिग्गहसण्णा चेदि।

—धवला २।१, १।४१३।२

को संज्ञा कहते हैं। नोइन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर जीव मन के अवलम्बन से शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलाप को ग्रहण करता है।

एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त के जीवों में चैतन्य का विकास क्रमशः अधिकाधिक है और इस विकास के तरतम भाव को समझाने के लिए निम्नलिखित चार विभाग किये गये हैं—

(१) अत्यन्त अल्प विकास वाले जीव—यह विकास इतना अल्प होता है कि इस विकास वाले जीव मूर्छित की तरह चेष्टा रहित होते हैं। इस प्रकार की अव्यक्त चेतना को ओघसंज्ञा कहते हैं। एकेन्द्रिय जीव ओघसंज्ञा वाले होते हैं।

(२) इस विभाग में विकास की इतनी मात्रा विवक्षित है कि जिससे कुछ भूतकाल का स्मरण किया जा सके। यद्यपि इस विकास में भूतकाल का स्मरण किया जाता है लेकिन सुदीर्घ भूतकाल का नहीं। इससे इष्ट विषयों में प्रवृत्ति और अनिष्ट विषयों में निवृत्ति भी होती है। इस प्रवृत्ति-निवृत्तिकारी ज्ञान को हेतुवादोपदेशकी संज्ञा कहते हैं। इस दृष्टिकोण से द्वीन्द्रिय आदि चार त्रस संज्ञी हैं और पाँच स्थावर असंज्ञी।

(३) इस विभाग में इतना विकास विवक्षित है कि जिससे सुदीर्घ भूतकाल में अनुभव किये हुए विषयों का स्मरण और उस स्मरण द्वारा वर्तमान ज्ञान के कर्तव्य का निश्चय किया जाता है। यह कार्य विशिष्ट मन की सहायता से होता है। इस ज्ञान को दीर्घकालोपदेशकी संज्ञा कहते हैं। दीर्घकालोपदेशकी संज्ञा के फलस्वरूप सदर्थ के विचारने की बुद्धि निश्चयात्मक विचारणा, अन्वय धर्म का अन्वेषण, व्यतिरेक धर्म स्वरूप का पर्यालोचन तथा यह कार्य कैसे हुआ, वर्तमान में कैसे हो रहा है और भविष्य में कैसे होगा? इस प्रकार के विचार विमर्श से वस्तु के स्वरूप को अधिगत करने की

क्षमता प्राप्त होती है। देव, नारक और गर्भज मनुष्य-तिर्यंच दीर्घ-कालोपदेशकी संज्ञा वाले हैं।

(४) इस विभाग में विशिष्ट श्रुतज्ञान विवक्षित है। यह ज्ञान इतना शुद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि जीवों के सिवाय अन्य जीवों में यह सम्भव नहीं है। इस विशिष्ट विशुद्ध ज्ञान को दृष्टिवादोपदेशकी संज्ञा कहते हैं।

उक्त चार विभागों में जीवों का वर्गीकरण करके शास्त्रों में जहाँ कहीं भी संज्ञी और असंज्ञी का उल्लेख किया है, वहाँ ओघ और हेतु-वादोपदेशकी संज्ञा वाले जीवों को असंज्ञी तथा दीर्घकालोपदेशकी और दृष्टिवादोपदेशकी संज्ञा वालों को संज्ञी कहा गया है।[1]

इस प्रकार की अपेक्षा से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरि-न्द्रिय जीवों को असंज्ञी और पंचेन्द्रिय जीवों को संज्ञी और असंज्ञी दोनों प्रकार का कहा गया है। इसीलिए एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों के सात मुख्य भेद हो जाते हैं। यह सातों प्रकारों के जीव पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी। अतः समस्त संसारी जीवों के चौदह भेद हैं। पर्याप्त और अपर्याप्त की व्याख्या और उसके कारण को नीचे स्पष्ट करते हैं।

---

१ (क) संज्ञित्व और असंज्ञित्व के विशेष ज्ञान के लिए तत्त्वार्थभाष्य २।२५, नन्दीसूत्र, सूत्र ३९, विशेषावश्यक गा० ५०४-५२६, लोकप्रकाश सर्ग ३, श्लोक ४४२-४६३ देखें।

(ख) श्वेताम्बर ग्रन्थों की तरह संज्ञी-असंज्ञी का विचार दिगम्बर ग्रन्थों में भी किया गया है। लेकिन उसमें कुछ अन्तर है। उसमें गर्भज तिर्यंचों को संज्ञी मात्र न मानकर संज्ञी-असंज्ञी उभय रूप माना है।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में जो हेतुवादोपदेशकी, दीर्घकालिकी और दृष्टिवादोपदेशकी यह तीन संज्ञा के भेद माने गये हैं, उनका विचार दिगम्बरीय ग्रन्थों में दृष्टिगोचर नहीं होता है।

पर्याप्त और अपर्याप्त की व्याख्या

पर्याप्त नामकर्म के उदय वाले जीवों को पर्याप्त और अपर्याप्त नामकर्म के उदय वाले जीवों को अपर्याप्त कहते हैं। पर्याप्त नामकर्म के उदय से आहारादि पर्याप्तियों की रचना होती है और अपर्याप्त नामकर्म का उदय होने पर उनकी रचना नहीं होती है।

पर्याप्ति वह शक्ति है जिसके द्वारा जीव आहार, शरीर आदि के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और गृहीत पुद्गलों को आहारादि के रूप में परिणत करता है। ऐसी शक्ति जीव में पुद्गलों के उपचय से बनती है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस प्रकार पेट में विद्यमान पुद्गलों में एक प्रकार की शक्ति होती है जिससे कि खाया हुआ आहार रस, रुधिर आदि भिन्न-भिन्न रूप में परिवर्तित होता जाता है। इसी प्रकार जन्मस्थान-प्राप्त जीव के द्वारा गृहीत पुद्गलों में ऐसी शक्ति बन जाती है जो आहारादि पुद्गलों को खल, रस आदि रूप में बदल देती है। इस शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं। पर्याप्तिजनक पुद्गलों में से कुछ ऐसे होते हैं जो जन्मस्थान में आये हुए जीव के द्वारा प्रथम समय में ही ग्रहण किये हुए होते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो बाद में प्रत्येक समय में ग्रहण किये जाकर पूर्वगृहीत पुद्गलों के संसर्ग से तद्रूप बने हुए होते हैं और बनते जाते हैं।

इन गृहीत पुद्गलों का कार्य भिन्न भिन्न होता है। अतः इस कार्य-भेद से पर्याप्ति के निम्नलिखित छह भेद हो जाते हैं—

(१) आहारपर्याप्ति, (२) शरीरपर्याप्ति, (३) इन्द्रियपर्याप्ति, (४) श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, (५) भाषापर्याप्ति और (६) मनःपर्याप्ति।[1] इन छह पर्याप्तियों का प्रारम्भ युगपत होता है, क्योंकि

---

१ आहारे य सरीरे तह इन्दिय आणपाण भासाए।
होंति मणो वि य कमसो पज्जत्तीओ जिणमादा। —मूलाचार १०४५
इन पर्याप्तियों की व्याख्या प्रथम कर्मग्रन्थ की गाथा ४९ में की गई है।

जन्म समय से लेकर ही इनका अस्तित्व पाया जाता है किन्तु पूर्णता, क्रम से होती है।[1]

उक्त छह पर्याप्तियो मे से एकेन्द्रिय जीवो के आदि की चार और विकलेन्द्रिय—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा असंज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के मनपर्याप्ति के सिवाय शेष पाँच तथा सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के सभी छहो पर्याप्तियाँ होती है।[2]

पर्याप्त जीवो मे गृहीत पुद्गलो को आहार आदि रूप में परिणित करने की शक्ति होती है और अपर्याप्त जीवो मे इस प्रकार की शक्ति नही होती है। इसलिए पर्याप्त और अपर्याप्त के निम्न प्रकार से दो-दो भेद है—

(१) लब्धि-अपर्याप्त, (२) करण-अपर्याप्त[3]।
(३) लब्धि-पर्याप्त, (४) करण-पर्याप्त।

---

१ पज्जत्ती पट्टवण जुगव तु कामेण होदि णिट्टवण। —गो० जीवकांड १२०

२ आहारसरीरिंदिय पज्जत्ती आणपाणभासमणो।
चत्तारि पच छप्पिय एगिंदिय विगल सनीण ॥
—वृहत्संग्रहणी ३४९ व गो० जीवकांड ११९

३ दिगम्वर साहित्य मे करण-अपर्याप्त के वदले निर्वृत्ति-अपर्याप्त शब्द का प्रयोग किया गया है। इसके अर्थ मे भी थोडा-सा अन्तर है। वहा निर्वृत्ति-अपर्याप्त का लक्षण इस प्रकार वतलाया है—

पज्जत्तस्स य उदये णियणिय पज्जत्ति णिट्ठिदो होदि।
जाव सरीरमपुण्ण णिव्वत्ति अपुण्णगो ताव ॥
—गो० जीवकांड १२१

पर्याप्त नामकर्म के उदय मे जीव अपनी-अपनी पर्याप्तियो से पूर्ण होता है, तथापि जव तक उसकी शरीर पर्याप्ति पूर्ण नही होती तव तक उसको पर्याप्त नही कहते हैं किन्तु निर्वृत्ति-अपर्याप्त कहते हैं। लेकिन श्वेताम्वर साहित्य मे करण शब्द से 'शरीर, इन्द्रिय आदि पर्याप्तियाँ' इतना अर्थ किया हुआ मिलता है—

करणानि शरीराक्षादीनि। —लोकप्रकाश ३।१०

लब्धि-अपर्याप्त वे जीव हैं कहलाते हैं जो स्वयोग्य पर्याप्तियां को पूर्ण किये बिना ही मर जाते हैं किन्तु करण-अपर्याप्त के विषय में यह बात नहीं है। वे पर्याप्त नामकर्म के उदय वाले भी होते हैं और अपर्याप्त नामकर्म के उदय वाले भी। इसका आशय यह है कि चाहे पर्याप्त नामकर्म का उदय हो या अपर्याप्त नाम का किन्तु जब तक करणों—शरीर, इन्द्रिय आदि पर्याप्तियों की पूर्णता न हो तब तक जीव करण-अपर्याप्त कहे जाते हैं।

लब्धि-पर्याप्त जीव वे कहलाते हैं जिनको पर्याप्त नामकर्म का उदय हो और इससे स्वयोग्य पर्याप्तियां को पूर्ण करके मरते हैं, पहले नहीं। लेकिन करण-पर्याप्तों के लिए यह नियम नहीं है कि वे स्वयोग्य पर्याप्तियां को पूर्ण करके मरण को प्राप्त होते हैं।

लब्धि-अपर्याप्त जीव भी करण अपर्याप्त होते हैं। क्योंकि यह नियम है कि लब्धि-अपर्याप्त भी कम से कम आहार, शरीर और इन्द्रिय इन तीन पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना नहीं मरते हैं। जीव का मरण तभी होता है जब आगामी भव की आयु का बंध हो जाता है और आयु तभी बांधी जा सकती है जबकि आहार, शरीर और इन्द्रिय यह तीन पर्याप्तियां पूर्ण हो जाती हैं। लब्धि-अपर्याप्त जीव पहली तीन पर्याप्तियों को पूर्ण करके ही अग्रिम भव की आयु बांधता

अतएव श्वेताम्बर साहित्य के उक्त मंतव्य के अनुसार जिसने शरीर पर्याप्ति पूर्ण की है किन्तु इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण नहीं की है, वह भी करण अपर्याप्त कहा जा सकता है। अर्थात् शरीररूप करण के पूर्ण करने से करण-पर्याप्त और इन्द्रियरूप करण पूर्ण न करने से करण अपर्याप्त है। इसलिए शरीरपर्याप्ति से लेकर मनःपर्याप्ति पर्यन्त पूर्व-पूर्व पर्याप्ति के पूर्ण होने पर करण-पर्याप्त और उत्तरोत्तर पर्याप्ति के पूर्ण न होने से करण अपर्याप्त कहे जाते हैं लेकिन जब जीव स्वयोग्य सम्पूर्ण पर्याप्तियों को पूर्ण कर लेता है तब उसे करण अपर्याप्त नहीं कहते हैं।

जीव पैदा हो सके।[1] इसलिये सूक्ष्म और बादर तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवों को छोड़कर शेष पृथ्वीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक इन तीन प्रकार के बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीवों में मिथ्यात्व और सासादन यह दो गुणस्थान माने जाते है।[2]

बादर एकेन्द्रिय, असंज्ञी पचेन्द्रिय और विकलत्रिक इन पांच अपर्याप्त जीवस्थानों में जो दो गुणस्थान माने गये है सो यहाँ अपर्याप्त का अर्थ करण-अपर्याप्त समझना चाहिए, लब्धि-अपर्याप्त नहीं, क्योंकि सासादन सम्यग्दृष्टि वाला जीव लब्धि-अपर्याप्त रूप से पैदा नहीं होता है। इसलिये बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त आदि उक्त पाँच जीवस्थानों मे आदि के दो गुणस्थान तथा लब्धि-अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय आदि पाँचों मे पहला गुणस्थान समझना चाहिए।

'सन्नि अपजत्ते अजयजुय'—सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त मे मिथ्यात्व, सासादन इन दो गुणस्थानो के साथ चौथा अविरति यह तीन गुणस्थान कहे गये हैं।[3] अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय मे तीन गुणस्थान इस अपेक्षा से

---

१ तेजोवायूना मध्ये सम्यक्त्वलेशवतामपि उत्पादाभावात् सम्यक्त्व चासादयता सासादनभावाभ्युपगमात्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० ११६

२ एकेन्द्रिय जीवों मे दो गुणस्थान माने जाने का कथन कर्मग्रथ के मतानुसार है, क्योंकि सिद्धान्त मे एकेन्द्रिय को पहला मिथ्यात्व गुणस्थान माना है—एगिंदिया ण भंते ! किं नाणी अन्नाणी ? गोयमा ! नो नाणी नियमा अन्नाणि। भगवती ८।२

सिद्धान्त और कर्मग्रन्थो मे जिन बातो मे भिन्नता है, उनका सकेत चतुर्थ कर्मग्रन्थ गाथा ४९ मे किया गया है।

३ दिगम्बर साहित्य (गो० जीवकाड गाथा १२८, १२७) मे निर्वृत्यपर्याप्त (श्वेताम्बर साहित्य प्रसिद्ध करण-अपर्याप्त) सज्ञी पचेन्द्रिय मे पहला, दूसरा, चौथा, छठा और तेरहवाँ ये पाँच गुणस्थान कहे गये हैं। छठे गुणस्थान के समय आहारकमिश्रकाययोग दशा मे आहारकशरीर पूर्ण न बनने तक अपर्याप्त दशा रहती है। तेरहवें गुणस्थान के समय केवली समुद्घात अवस्था मे योग की अपूर्णता के कारण अपर्याप्तता रहती है।

माने जाते है कि अपर्याप्त अवस्था मे मिश्र गुणस्थान नही होता है और मिश्रगुणस्थान मे मरण नही होता है तथा जब कोई जीव चतुर्थ गुणस्थान सहित मरकर सज्ञी पचेन्द्रिय रूप मे पैदा होता है तब उसे अपर्याप्त अवस्था मे चौथा गुणस्थान सभव है। इसी प्रकार जो जीव सम्यक्त्व का त्याग करता हुआ सासादन भाव मे वर्तमान होकर सज्ञी पचेन्द्रिय रूप से उत्पन्न होता है तब उसमे शरीर पर्याप्ति पूर्ण न होने तक दूसरा गुणस्थान सम्भव है। इन दोनो स्थितियो को छोडकर अन्य सब सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के अपर्याप्त अवस्था मे पहला मिथ्यात्व गुणस्थान होता है।

अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो मे जो तीन गुणस्थान बतलाये है,[1] सो यहा अपर्याप्त का आशय करण-अपर्याप्त समझना चाहिए। लब्धि-अपर्याप्त जीवो के तो योग्यता न होने से पहले मिथ्यात्व गुणस्थान के सिवाय अन्य कोई भी गुणस्थान सभव नही है।

सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त मे सभी गुणस्थान माने है—सन्निपज्जे सव्व गुणा। इसका कारण यह है कि सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवो मे गर्भज मनुष्यो का भी समावेश है और गर्भज मनुष्य मे सब प्रकार के शुभ अशुभ तथा शुद्ध-अशुद्ध परिणामो की योग्यता है। इस योग्यता के कारण उनमे चौदह गुणस्थान पाये जाते है।

---

[1] कर्मग्रथ मे जो करण अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय मे तीन गुणस्थानो का कथन किया गया है वह उत्पत्तिकालीन अपर्याप्त स्थिति को लेकर और गो० जीवकाड मे पाँच गुणस्थानो का कथन उत्पत्ति व लब्धिकालीन दोनो प्रकार की अपर्याप्त अवस्था को लेकर। इसलिए दोनो मे किसी प्रकार का विरोध नही है। यह तो आपेक्षिक कथन है।

यदि लब्धि-कालीन अपर्याप्त अवस्था को लेकर सज्ञी पचेन्द्रिय मे गुणस्थानो का विचार किया जाय तो पाँचवा गुणस्थान भी मानना चाहिए। क्योकि उस गुणस्थान मे वैक्रिय लब्धि से वैक्रियशरीर की रचना के समय भी अपर्याप्त अवस्था रहती है।

सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवो के चौदह गुणस्थान मानने के सम्वन्ध मे जिज्ञासु का प्रश्न है कि तेरहवे और चोदहवे गुणस्थान मे क्षायिक ज्ञान होने से क्षायोपशमिक ज्ञान रूप सज्ञा का अभाव है, अत. भावमन का भी अभाव होने से तेरहवॉ और चौदहवॉ यह दो गुणस्थान सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त के सभव नही है, इसलिए पहले वारह गुणस्थान ही मानना चाहिए।

उक्त प्रश्न का समाधान यह है कि सज्ञी पचेन्यिय पर्याप्त जीवो मे तेरहवॉ और चौदहवॉ गुणस्थान द्रव्यमन के सम्वन्ध से सज्ञित्व का व्यवहार अगीकार करके माने जाते है।[1] इसलिए द्रव्यमन की अपेक्षा

---

१ (क) अथ कथ सज्ञिन सयोग्ययोगिरूपगुणस्थानकद्वयसम्भव तद्‌भावे तस्याऽमनस्कतया सज्ञित्वायोगात् ? न तदानीमपि हि तस्य द्रव्यमन.-सवन्धोऽस्ति, समनस्काश्चाऽविशेषेण सज्ञिनो व्यवह्रियन्ते, ततो न तस्य भगवत सज्ञिताव्याघात ।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ, स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२०

(ख) यही वात सप्ततिका चूर्णि के निम्नलिखित पाठ से भी स्पप्ट होती है—

मणकरण केवलिणो वि अत्थि तेण सन्निणो भन्नति, मनोविन्नाण पडुच्च ते सन्निणो न भवति त्ति।

केवली के भी द्रव्यमन होने से सज्ञी कहा जाता है, मनोज्ञान की अपेक्षा से नही। इसीलिए तेरहवॉ और चौदहवॉ गुणस्थान माना जाता है।

(ग) दिगम्वर साहित्य मे भी केवली अवस्था मे द्रव्यमन के सम्वन्ध से सज्ञित्व का व्यवहार माना गया है—

मणसहियाण वयण दिट्ठ तप्पुव्वमिदि सजोगम्हि।
उत्तो मणोवायरेणिदियणाणेण हीणम्हि॥
अगोवगुदयादो दव्वमणट्ठ जिणिदचदम्हि।
मणवग्गणखधाण आगमणादो दु मणजोगो॥

—गो० जीवकाड २२८, २२९

रखकर चौदह गुणस्थान मानने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। लेकिन भावमन की अपेक्षा संज्ञित्व मानने में आदि के बारह गुणस्थान होते हैं।

अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय, अपर्याप्त विकलेन्द्रियत्रिक, अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय, और पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय इन सात जीवस्थानों के सिवाय शेष सात जीवस्थानों में पहला मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। इन सात जीवस्थानों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, (२) पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, (३) पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, (४) पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय, (५) पर्याप्त द्वीन्द्रिय, (६) पर्याप्त त्रीन्द्रिय, (७) पर्याप्त चतुरिन्द्रिय।

अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त शेष सात जीवस्थानों में से पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि असंज्ञी-पंचेन्द्रिय पर्यन्त छह जीवस्थानों में पहला मिथ्यात्व गुणस्थान इसलिए माना जाता है कि परभव से आकर उन-उन जीवों में उत्पन्न होने पर उत्पत्तिकालपर्यन्त अपर्याप्त अवस्था में सासादन सम्यक्त्व सम्भव है किन्तु पर्याप्त अवस्था में संक्लिष्ट परिणामों के कारण उसकी सम्भावना नहीं है। अपर्याप्त एकेन्द्रिय जीव में सासादन सम्यक्त्व के शुभ परिणाम रूप होने से उसकी सम्भावना नहीं है और सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों में महासंक्लिष्ट परिणाम वाले ही उत्पन्न होते हैं।

यद्यपि केवली गुणस्थान में मन के न होने पर भी वचन होने के कारण उपचार से मन माना जाता है और उपचार का कारण यह है कि पूर्व गुणस्थानों में मनवालों के वचन देखा जाता है। किन्तु केवली के भी द्रव्य मन के लिए अंगोपांग नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कन्धों का आगमन हुआ करता है इसलिए उन्हें मनोयोगी कहा है।

चौदह जीवस्थानो मे गुणस्थानो का क्रम इस प्रकार समझना चाहिए .—

जीवस्थान का नाम	गुणस्थान की संख्या व नाम
(१) सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त	१ मिथ्यात्व
(२) सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त	१ मिथ्यात्व
(३) वादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त	२ मिथ्यात्व, सासादन
(४) वादर एकेन्द्रिय पर्याप्त	१ मिथ्यात्व
(५) द्वीन्द्रिय अपर्याप्त	२ मिथ्यात्व, सासादन
(६) द्वीन्द्रिय पर्याप्त	१ मिथ्यात्व
(७) त्रीन्द्रिय अपर्याप्त	२ मिथ्यात्व, सासादन
(८) त्रीन्द्रिय पर्याप्त	१ मिथ्यात्व
(९) चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त	२ मिथ्यात्व, सासादन
(१०) चतुरिन्द्रिय पर्याप्त	१ मिथ्यात्व
(११) असंज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त	२ मिथ्यात्व, सासादन
(१२) असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त	१ मिथ्यात्व
(१३) सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त	३ मिथ्यात्व, सासादन, अविरति
(१४) सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त	१४ मिथ्यात्व आदि अयोगिकेवली पर्यन्त ।

जीवस्थानो मे गुणस्थानो का कथन करने के पश्चात् अब आगे की तीन गाथाओ द्वारा जीवस्थानों मे योग और उपयोग की संख्या को वतलाते है ।

जीवस्थानो में योग व उपयोग

अपजत्त छक्कि कम्मुरलमीस जोगा अपज्जसन्निसु ते ।
सविउव्वमीस एसुं तणुपज्जेसुं उरलमन्ने ॥४॥
सव्वे सन्निपजत्ते उरलं सुहुमे सभासु तं चउसु ।
वायरि सविउव्विदुगं पजसन्निसु बार उवओगा ॥५॥

पज चउरिंदिअसन्निसु, दुदस दुअनाण दससु चक्खुविणा ।
सन्नि अपज्जे मणनाण चक्खु केवलदुग विहूणा ॥६॥

शब्दार्थ— पजत्तछक्कि—अपर्याप्त छह जीवो में, कम्मुरल-मीस जोगा—कार्मण, औदारिकमिश्र योग अपज्जसनिसु—अपर्याप्त सनी में, ते—वे (दो योग) सविउव्वमीस—वैक्रियमिश्र सहित, एसु—इसमें, तणुपज्जेसु—शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त, उरल—औदारिक योग, अन्ने—अन्य आचार्यों के मतानुसार ॥४॥

सव्वे—सब, सभी, सन्निपजत्ते—सनी पर्याप्त में उरल—औदारिक, सुहुमे—सूक्ष्म में, सभासु—भाषा सहित, त—उन चउसु—चार में, बायरि—बादर में, सविउव्विदुग—वैक्रियद्विक सहित, पजसन्निसु—पर्याप्त सनी में, बार—बारह उवओगा—उपयोग ॥५॥

पजचउरिंदिअसन्निसु—पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, असनी पचेन्द्रिय में दुदस—दो दर्शन दुअनाण—दो अज्ञान, दससु—दस में, चक्खुविणा—चक्षुदर्शन के बिना, सन्निअपज्जे—सनी अपर्याप्त में मणनाण—मनपर्यायज्ञान, चक्खु—चक्षुदर्शन केवलदुग—केवलद्विक विहूणा—बिना (रहित) ॥६॥

गाथार्थ—छह अपर्याप्त जीवस्थानों में कार्मण और औदारिकमिश्र योग होते हैं तथा अपर्याप्त संज्ञी पचेन्द्रिय में कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र योग होते हैं। किन्हीं आचार्यों का यह मत है कि उक्त सातों प्रकार के अपर्याप्त जीव जब शरीरपर्याप्ति पूर्ण कर लेते हैं तब उनमें सिर्फ औदारिक काययोग ही होता है ॥४॥

पर्याप्त सनी में सब योग पाये जाते हैं। पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय में औदारिक काययोग होता है। पर्याप्त विकलेन्द्रिय त्रिक और असनी पचेन्द्रिय इन चार में औदारिक काययोग व वचनयोग तथा बादर एकेन्द्रिय में वैक्रियद्विक योग भी होते हैं। पर्याप्त सनी पचेन्द्रिय में बारह उपयोग होते हैं ॥५॥

पर्याप्त चतुरिन्द्रिय और पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय में दो दर्शन और दो अज्ञान, इन जीवस्थानों में चक्षुदर्शन के विना तथा संज्ञी अपर्याप्त में मनपर्यायज्ञान, चक्षुदर्शन और केवल-द्विक के सिवाय शेष उपयोग होते है ॥८॥

विशेषार्थ—पूर्वोक्त तीन गाथाओं में जीवस्थानों में योगों और उपयोगों की संख्या और उनके नामों का कथन किया है। उनमें से पहले जीवस्थानों में योगों का वर्णन करते हैं।

योग के मुख्य तीन भेद है—मनोयोग, वचनयोग और काययोग।

मनोयोग के चार भेद, वचनयोग के चार भेद और काययोग के सात भेद होने से सब मिलाकर योग के पन्द्रह भेद हो जाते हैं। मनोयोग आदि के भेदों के नाम इस प्रकार है—

मनोयोग—(१) सत्य मनोयोग, (२) मृषा (असत्य) मनोयोग, (३) सत्यमृषा मनोयोग, (४) असत्यामृषा मनोयोग।

सद्भाव अर्थात् समीचीन पदार्थों को विषय करने वाले मन को सत्य मन कहते है और उसके द्वारा जो योग होता है उसे सत्य मनोयोग कहते हैं। इससे विपरीत योग को मृषा मनोयोग तथा सत्य और मृषा योग को सत्यमृषा मनोयोग कहते हैं। जो मन न तो सत्य हो और न मृषा हो उसे असत्यामृषा मन कहते हैं और उसके द्वारा जो योग होता है उसे असत्यामृषा मनोयोग कहते हैं।

वचनयोग—(१) सत्य वचनयोग, (२) मृषा वचनयोग, (३) सत्य-मृषा वचनयोग, (४) असत्यामृषा वचनयोग।

दस प्रकार के सत्य वचन में वचनवर्गणा के निमित्त से जो योग होता है, उसे सत्य वचनयोग कहते हैं। इससे विपरीत योग को मृषा वचनयोग तथा सत्य और मृषा वचन रूप योग को उभय (सत्यमृषा) वचनयोग कहते हैं। जो वचनयोग न तो सत्य रूप हो और न मृषा रूप ही हो उसे असत्यामृषा वचनयोग कहते हैं।

कायोग—(१) औदारिक काययोग, (२) औदारिकमिश्र काययोग, (३) वैक्रिय काययोग, (४) वैक्रियमिश्र काययोग, (५) आहारक काय याग, (६) आहारकमिश्र काययोग, (७) कार्मण काययोग।

औदारिक शरीर द्वारा उत्पन्न हुई शक्ति से जीव के प्रदेशो मे परिस्पन्द का कारणभूत जो प्रयत्न होता है उसे औदारिक काययोग कहते हैं। औदारिक शरीर की उत्पत्ति प्रारम्भ होने के प्रथम समय स लगाकर अन्तर्मुहूर्त तक मध्यवर्ती काल मे जो अपरिपूर्ण शरीर है वह औदारिकमिश्र काययोग है।

वैक्रिय शरीर के अवलम्बन से उत्पन्न हुए परिस्पन्द द्वारा जो प्रयत्न होता है उसे वैक्रिय काययोग कहते हैं। वैक्रिय शरीर की उत्पत्ति प्रारम्भ होने के प्रथम समय से लगाकर शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने तक अन्तर्मुहूर्त के मध्यवर्ती अपरिपूर्ण शरीर को वक्रियमिश्र काय कहते हैं। उसके द्वारा होन वाला जो योग है, वह वक्रियमिश्र काययोग कहलाता है।

अन्य सूक्ष्म अर्थ मे सदेह उत्पन्न होने पर सर्वविरति मुनि जिसके द्वारा केवली भगवान के पास जाकर अपने सदेह को दूर करता है, उस आहारककाय और उसके द्वारा उत्पन्न होन वाले योग को आहारक काययोग कहते हैं। आहारक शरीर की उत्पत्ति प्रारम्भ होन के प्रथम समय से लगाकर शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने तक अन्त र्मुहूर्त के मध्यवर्ती अपरिपूर्ण शरीर को आहारकमिश्र काय कहते हैं। उसके द्वारा जो योग उत्पन्न होता है वह आहारकमिश्र काययोग कहलाता है।

कर्मों के समूह को अथवा कार्मण शरीर नामकर्म के उदय स उत्पन्न होने वाले काय को कार्मण काय और उसके द्वारा होने वाले योग को कार्मण काययोग कहते है। इसका तात्पर्य यह है कि अन्य औदारिकादि शरीरवर्गणाओ के बिना सिर्फ कर्म से उत्पन्न हुए वीर्य

(शक्ति) के निमित्त से आत्मप्रदेश-परिस्पन्द रूप जो प्रयत्न होता है उसे कार्मण काययोग कहते है।

जीवस्थानो मे मनोयोग आदि योगो के लिए यह सामान्य नियम है कि सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के मन, वचन और काय यह तीनो योग और द्वीन्द्रिय से लेकर असज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवो में वचन व काय-योग होते है तथा एकेन्द्रिय जीवो मे सिर्फ काययोग होता है। लेकिन काययोग के सात भेदो मे से सामान्य रूप से औदारिक काययोग तिर्यंच और मनुष्यो को होता है और इनके अपर्याप्त अवस्था मे औदारिकमिश्र काययोग। वैक्रिय काययोग देव, नारक तथा वैक्रिय-लब्धि-वान तिर्यंच, मनुष्यो को तथा वैक्रियमिश्र काययोग अपर्याप्त देव, नारकों को तथा मनुष्य, तिर्यंचों को वैक्रिय-लब्धिजन्य वैक्रिय शरीर के प्रारम्भ तथा परित्याग के समय होता है। आहारक काययोग चतुर्दश पूर्वधारी सयमी को और आहारकमिश्र काययोग आहारक शरीर के प्रारम्भ एव परित्याग के समय मे होता है। कार्मण काययोग विग्रह-गति व उत्पत्ति के प्रथम समय मे और केवली समुद्घात अवस्था मे होता है।

विशेप रूप से जीवस्थानो मे योगो की सख्या वतलाने के लिए ग्रंथकार ने चौदह जीवस्थानो के अपर्याप्त और पर्याप्त की अपेक्षा दो विभाग करके योगों की सख्या का कथन किया है। अर्थात् पहले अपर्याप्त सात जीवस्थानो मे और पश्चात् पर्याप्त सात जीवस्थानो मे योगसंख्या वतलाई है। अपर्याप्त सात जीवस्थानो में योगो की सख्या निम्न प्रकार से समझनी चाहिए—

गाथा मे 'अपजत्तछक्कि कम्मुरलमीस जोगा' पद से छह अपर्याप्त जीवस्थानो मे कार्मण काययोग और औदारिकमिश्र काययोग यह दो योग वतलाये हैं। यद्यपि गाथा में छह अपर्याप्त जीवस्थानो के नामो का उल्लेख नही है किन्तु स्वोपज्ञ टीका मे उनके नाम इस प्रकार वतलाये है—

अपर्याप्तानां सूक्ष्मबादरद्वित्रिचतुरसंज्ञिपंचेन्द्रियाणां षटकं अपर्याप्तषटक— अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, अपर्याप्त त्रीन्द्रिय, अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय। यहाँ अपर्याप्त शब्द से लब्धि और करण दोनों प्रकार की अपर्याप्तता ग्रहण करना चाहिए।

इन छह जीवस्थानों की अपर्याप्त दशा में कार्मण और औदारिक-मिश्र काययोग मानने का कारण यह है कि सभी प्रकार के जीवों को अंतराल गति (विग्रहगति) में तथा जन्म ग्रहण करने के प्रथम समय में कार्मणयोग ही होता है, क्योंकि उस समय औदारिक आदि स्थूल शरीर का अभाव होने के कारण योगप्रवृत्ति केवल कार्मण शरीर से होती है और उत्पत्ति के दूसरे समय से लेकर स्वयोग्य पर्याप्तियों के पूर्ण बन जाने तक मिश्र काययोग सम्भव है। क्योंकि उस अवस्था में कार्मण और औदारिक आदि स्थूल शरीर के संयोग से योगप्रवृत्ति होती है। अपर्याप्त षट्क में सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि जिन छह जीवस्थानों के नाम गिनाये हैं, वे सब औदारिक शरीर वाले हैं। इसलिए उनको अपर्याप्त अवस्था में कार्मण काययोग के बाद औदारिकमिश्र काययोग ही होता है।

अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय में मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारक जीव गर्भित हैं। इसलिए उसमें कार्मण काययोग, औदारिकमिश्र काययोग और वैक्रियमिश्र काययोग यह तीन योग माने हैं। मनुष्य और तिर्यंचों की अपेक्षा से औदारिकमिश्र काययोग और देव व नारकों की अपेक्षा से वैक्रियमिश्र काययोग का समावेश किया है। उसका अर्थ यह हुआ कि संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त मनुष्य और तिर्यंचों के कार्मण और औदारिकमिश्र काययोग तथा अपर्याप्त देव व नारकों के कार्मण तथा वैक्रियमिश्र काययोग होते हैं। इन दोनों में कार्मण काययोग समान है, अतः दोनों में कार्मण योग समान होने से तीन योग माने जाते हैं।

गाथा मे 'तणु पज्जेसु उरलमन्ने' पद से मतान्तर का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि उक्त सातो प्रकार के अपर्याप्त जीव जब शरीर पर्याप्ति पूर्ण कर लेते है तब उनमे औदारिक काययोग ही होता है, औदारिकमिश्र योग नही।[1] इस मतान्तर का अभिप्राय यह है कि शरीर पर्याप्ति पूर्ण बन जाने से शरीर पूर्ण बन जाता है। इसलिए अन्य पर्याप्तियो की पूर्णता न होने पर भी जब शरीर पर्याप्ति पूर्ण बन जाती है तभी से मिश्रयोग नही रहता है किन्तु औदारिक शरीर वालो को औदारिक काययोग और वैक्रिय शरीर वालो को वैक्रिय काययोग होता है।

इस मत के अनुसार सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि छह अपर्याप्त जीवस्थानो मे कार्मण, औदारिकमिश्र और औदारिक यह तीन योग और अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय मे कार्मण आदि उक्त तीन के साथ वैक्रियमिश्र तथा वैक्रिय इन दो योगो को मिलाने से कुल पाँच योग होते है।

इस मतान्तर के मानने वाले शीलाकाचार्य आदि प्रमुख आचार्य

---

१ मतान्तर के उल्लेख मे ग्रन्थकार ने जो 'उरल' पद गाथा मे दिया है। वह वैक्रिय काययोग का भी सूचक है। इसलिए वैक्रिय शरीरधारी देव-नारको के शरीर पर्याप्ति पूर्ण बन जाने के बाद अपर्याप्त दशा मे वैक्रिय काययोग समझ लेना चाहिए। अथवा यहाँ अपर्याप्त शब्द से अन्तर्मुहूर्त की आयु वाले लब्धि-अपर्याप्त का ग्रहण करना चाहिए और अन्तर्मुहूर्त की आयु वाले मनुष्य व तिर्यंच होते है। देव और नारको की जघन्य आयु भी दस हजार वर्ष होने से उनकी विवक्षा नही की है और लब्धि-अपर्याप्त जीव भी इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण करने के बाद ही मरते है, उससे पहले नही। इसलिए यहाँ सिर्फ लब्धि-अपर्याप्त की विवक्षा की जाये तो किसी प्रकार का दोष नही है, क्योकि लब्धि-अपर्याप्त जीवो के औदारिक शरीर ही होता है, वैक्रिय शरीर नही, जिससे देव-नारको को ग्रहण करने की आवश्यकता नही है।

हैं। उनका मंतव्य है कि शरीर पर्याप्ति के पूर्ण हो जाने के बाद भी शेष पर्याप्तियों के पूर्ण न होने से अपर्याप्त माने जाने वाले जीवों में शरीर पर्याप्ति पूर्ण हो जाने से शरीर पूर्ण हो गया और उस स्थिति में औदारिक काययोग होता है।[1] इस मतान्तर को कार्मग्रन्थिक और सैद्धांतिक मत-भिन्नता भी कह सकते हैं। सिद्धांत में शरीर पर्याप्ति के पूर्ण होने पर शरीर की निष्पत्ति मानकर औदारिक काययोग माना है और कर्मग्रन्थों में सब पर्याप्तियों के पूर्ण होने से बने हुए को औदारिक काययोग, क्योंकि जब तक इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन पर्याप्ति पूर्ण न हो तब तक शरीर अपूर्ण है और कार्मण शरीर का भी व्यापार चालू रहता है। इसलिए औदारिकमिश्र काययोग मानना युक्तिसंगत है।[2]

ग्रन्थकार ने सैद्धांतिक मतान्तर का उल्लेख करके भी कार्मग्रन्थिक मत को मुख्य मानकर टीका में लिखा है कि सिर्फ शरीर पर्याप्ति के पूर्ण हो जाने से शरीर पूरा नहीं बनता है किन्तु शरीर की पूर्णता के लिए स्वयोग्य सभी पर्याप्तियों का पूर्ण होना आवश्यक है। इसलिए शरीर पर्याप्ति के बाद भी जब तक सभी पर्याप्तियाँ पूर्ण न हो जायें तब तक अपर्याप्त अवस्था है और उस अपर्याप्त अवस्था पर्यन्त मिश्रयोग मानना युक्तिसंगत है।[3]

इस प्रकार से अपर्याप्त जीवस्थानों में योगों का कथन करके

---

१ औदारिककाययोगस्तिर्यङ्मनुष्ययोः शरीरपर्याप्तेरूर्ध्वम् तदारतस्तुमिश्रः।
—आचारांग १।२।१ की टीका पृ० ९४

२ जीवविजयजी महाराज ने आगमिक मत को स्वीकार किया है।

३ यद्यपि तेषां शरीरपर्याप्तिः समजनिष्ट तथापि इन्द्रियोच्छ्वासादीनामद्यापि निष्पन्नत्वेन शरीरस्यासम्पूर्णत्वात् अतएव कार्मणस्याप्यद्यापि व्याप्रियमाणत्वाद् औदारिकमिश्रमेव तेषां युक्त्या घटमानकमिति।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १२१

अब शेष रहे पर्याप्त सात जीवस्थानो मे योगों की सख्या का सकेत करते है।

पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो मे सभी योग पाये जाते है। क्योकि उनके आहार, शरीर, इन्द्रिय आदि छहो पर्याप्तियाँ होती है, जिससे उनकी मन, वचन, काययोग सम्बन्धी योग्यता विशिष्ट प्रकार की होती है। इसीलिए उनमे चारो मनोयोग, चारो वचनयोग और सातो काययोग होते है।

यद्यपि पहले यह बताया गया है कि कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र यह तीन योग अपर्याप्त अवस्था भावी है, तथापि सज्ञी पचेन्द्रियो के पर्याप्त अवस्था मे भी उनको मानने का कारण यह है कि कार्मण और औदारिकमिश्र काययोग पर्याप्त अवस्था मे तब होते है जब केवली भगवान केवलि-समुद्घात[1] करते है। केवलि-समुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवे समय मे कार्मण काययोग और दूसरे, छठे तथा सातवे समय मे औदारिकमिश्र काययोग[2] तथा पहले और आठवे समय मे औदारिक काययोग होता है। वैक्रियमिश्र काययोग पर्याप्त अवस्था में तब होता है जब कोई वैक्रिय लब्धिधारी मुनि आदि वैक्रिय शरीर को बनाते है।[3]

---

१ केवली समुद्घात की स्थिति आठ समय प्रमाण है। इन आठ समयो मे केवली भगवान आत्म-प्रदेशो को सर्वलोकव्यापी बनाते है।

२ औदारिकप्रयोक्ता प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्ट ।
मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तमपष्ठद्वितीयेपु ॥
कार्मणशरीरयोगी चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च ।
समयत्रयेऽपि तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात् ॥

—उमास्वातिकृत प्रशमरति प्रकरण २७६-२७७

३ वैक्रियमिश्र संयतादेर्वैक्रिय प्रारभमाणस्य प्राप्यते, औदारिकमिश्र-कार्मण-काययोगौ तु केवलिन समुद्घातावस्थायाम् ।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२१

आहारक काययोग के अधिकारी सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त मनुष्य ही हैं। जब चतुर्दश पूर्वधर मुनि आहारक शरीर बनाते हैं तब आहारक शरीर के बनाने व त्यागन के समय तो आहारकमिश्र काययोग और उस शरीर को धारण करने के समय आहारक काययोग होता है। औदारिक काययोग सभी पर्याप्त मनुष्य, तिर्यंचो को होता है और वक्रिय काययोग के अधिकारी सभी पर्याप्त देव, नारक हैं। ये मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारक सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त होते हैं अत उनका ग्रहण सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान म किया है।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवो को औदारिक काययोग माना गया है। यद्यपि उनमे जैसे मन और वचन की लब्धि नही है वैसे ही वक्रिय आदि लब्धि भी नही है। इसलिए उनम वैक्रिय काययोग आदि सम्भव नही हैं।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय—पर्याप्त जीवो म औदारिक काययोग और वचनयोग (असत्यामृषा भाषा—व्यवहार भाषा रूप) यह दो योग माने गये हैं। इसका कारण यह है कि ये सभी जीव तिर्यच हैं और तिर्यंच जीवो के शरीर औदारिक काययोग निष्पन्न होते हैं, इसलिए इनके औदारिक काययोग तो अवश्य होगा ही और वचनयोग इसलिए माना जाता है कि द्वीन्द्रिय आदि जीवो के स्पर्शन इन्द्रिय के अनन्तर रसना आदि श्रोत्रेन्द्रिय पर्यन्त एक-एक इन्द्रिय बढ़ता जाती है। इस इन्द्रियवृद्धि के क्रम म रसनेन्द्रिय (जीभ) प्रथम है और जो ध्वनि, शब्दोच्चारण का साधन है, अत जिन जीवो के रसनेन्द्रिय होगी व किसी न किसी प्रकार के वचन (भाषा) ध्वनि का उच्चारण अवश्य करेंगे। किन्तु द्वीन्द्रिय आदि जीवो का भाषा प्रयोग न तो सत्य रूप होता है और न मृषा रूप, किन्तु व्यवहार भाषा रूप होता है। इसलिए उनम औदारिक

काययोग के साथ दूसरा व्यवहार-भाषा—असत्या-मृषा-भाषा—रूप वचनयोग माना जाता है।[1]

'बायरि सन्निउन्विदुग' यानी बादर एकेन्द्रिय जीवों को पर्याप्त अवस्था में औदारिक काययोग के साथ वैक्रियद्विक—वैक्रिय और वैक्रियमिश्र यह तीन योग माने जाते हैं। पृथ्वी, जल आदि पाँच स्थावर बादर एकेन्द्रिय भी होते हैं और इनके पर्याप्त अवस्था में औदारिक योग तो होता ही है, लेकिन वैक्रिय और वैक्रियमिश्र योग होने के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि यह दो योग केवल बादर वायुकाय में होते हैं, क्योंकि बादर वायुकायिक जीवों के वैक्रियलब्धि होती है[2] और इससे जब वे वैक्रिय शरीर बनाते हैं तब वैक्रियमिश्र काययोग और वैक्रिय शरीर पूर्ण बन जाने पर वैक्रिय काययोग होता है।

---

१ विकलत्रिकासंज्ञिपंचेन्द्रियेषु पर्याप्तेषु औदारिककाययोगाऽसत्यामृषाभाषा-लक्षणौ द्वौ योगावित्यर्थः। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२२

२ (क) आद्य तिर्यग्मनुष्याणां देवनारकयोः परम्।
केषांचिल्लब्धिमद्वायु संज्ञितिर्यग्नृणामपि॥
—लोकप्रकाश सर्ग-३

पहला (औदारिक) शरीर तिर्यंच और मनुष्यों को होता है और दूसरा (वैक्रिय) शरीर देव, नारकों, लब्धि वाले वायुकायिकों व लब्धिवान संज्ञी तिर्यंच मनुष्यों को होता है।

(ख) वायुकायिक को लब्धिजन्य वैक्रिय शरीर होने का संकेत तत्त्वार्थ-भाष्य की टीका में भी किया गया है—
'वायोश्च वैक्रियं लब्धिप्रत्ययमेव' इत्यादि
—तत्त्वार्थ० २।४८ की भाष्यवृत्ति

(ग) दिगम्बर साहित्य में वायुकायिक, तेजस्कायिक को वैक्रियशरीर का स्वामी कहा है—

वायुकायिक जीवा द्वारा निष्पन्न वक्रिय शरीर ध्वजाकार माना गया है। यह मतव्य श्वेताम्बर-दिगम्बर साहित्य म समान रूप से मान्य है। जसे—

मरुतां तद्ध्वजाकार द्वयानामपि मुख्हाम।
स्यु शरीराण्यनियत सस्थानानीति तद्विद ॥
—लोकप्रकाश सग ५, श्लोक २५४

मसुरबुविन्दुसूई कलावधय सण्णिहो हवे देहो।
पुढवी आवि चउण्ह तरुतसकाया अणेयविहा ॥
—गो० जीवकाड २०१

मसूर (अन्न विशेष), जल की बिन्दु, सुइयो का समूह, ध्वजा इनके सदृश क्रम से पृथ्वी, जल, तेज और वायुकायिक जीवो का शरीर होता ह तथा वनस्पतिकाय व त्रस जीवो का शरीर अनेक प्रकार का होता है।

जीवस्थाना म योगो की सख्या इस प्रकार जानना चाहिये—

जीवस्थान का नाम	योगो की सख्या व नाम
१ सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त	२ कामण औदारिकमिश्र
२ सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त	१ औदारिक काययोग
३ बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त	२ कामण, औदारिकमिश्र

पञ्चेन्द्रिय स्थावरकाणा तेजोवायुकायिक पचेन्द्रिय तिर्यग्मनुष्याणा च पर्याप्तानाम्।
—तत्त्वाथ राजवार्तिक २।४६

बादर तेउवाऊ पचिदिय पुण्णगा विगुव्वति।
ओरालिय सरीर विगुव्वणप्प हवे जेसिं ॥
—गो० जीवकांड २३३

बादर तेजस्कायिक और वायुकायिक तथा सज्ञी पर्याप्त पचेन्द्रिय तियच एव मनुष्य तथा भोगभूमिज तियच, मनुष्य भी अपने औदारिक शरीर के द्वारा जिनके शरीर म यह सामथ्य पाया जाता है विक्रिया करते है।

४ वादर एकेन्द्रिय पर्याप्त	३ औदारिक, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र
५ द्वीन्द्रिय अपर्याप्त	२ कार्मण, औदारिकमिश्र
६ द्वीन्द्रिय पर्याप्त	२ औदारिक, असत्यामृपा वचनयोग
७ त्रीन्द्रिय अपर्याप्त	२ कार्मण, औदारिकमिश्र
८ त्रीन्द्रिय पर्याप्त	२ औदारिक, असत्यामृपा वचनयोग
९ चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त	२ कार्मण, औदारिकमिश्र
१० चतुरिन्द्रिय पर्याप्त	२ औदारिक, असत्यामृपा वचनयोग
११ असंज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त	२ कार्मण, औदारिकमिश्र
१२ असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त	२ औदारिक, असत्यामृपा वचनयोग
१३ सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त	३ कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रिय-मिश्र
१४ सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त	१५ सत्य मनोयोग आदि कार्मण काययोग पर्यन्त सभी

मतान्तर से जीवस्थानो के सातों अपर्याप्त भेदो मे जव उक्त सातो प्रकार के अपर्याप्त जीव शरीर पर्याप्ति पूर्ण कर लेते है तव उन्हे औदारिक काययोग भी होता है, औदारिकमिश्र नही ।

इस प्रकार से जीवस्थानो मे योगो की संख्या का प्ररूपण करने के पश्चात् अव जीवस्थानो मे उपयोगों का कथन करते है ।

सामान्य से ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग यह उपयोग के दो भेद हैं। उनमे से ज्ञानोपयोग के (१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनपर्यायज्ञान, (५) केवलज्ञान, (६) मति-अज्ञान,

(७) श्रुत-अज्ञान और (८) विभंगज्ञान (अवधि-अज्ञान)—यह आठ भेद हैं तथा दर्शनोपयोग के (१) चक्षुदर्शन, (२) अचक्षुदर्शन, (३) अवधिदर्शन, (४) केवलदर्शन—यह चार भेद होते हैं। कुल मिलाकर उपयोग के बारह भेद हैं। मतिज्ञान आदि रूप आठ प्रकार का ज्ञानोपयोग साकार (विशेष रूप) है और चक्षुदर्शन आदि रूप चार प्रकार का दर्शनोपयोग निराकार (सामान्य रूप) है। ज्ञान और दर्शन उपयोगों को क्रमशः साकार-निराकार अथवा विशेष-सामान्य रूप मानने का कारण यह है कि वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। जिसमें से उत्पाद-व्ययात्मक अंश पर्यायरूप एवं त्रिकाल अस्तित्व रूप अंश ध्रौव्यात्मक है। पर्याय प्रतिक्षण परिवर्तनशील होने से विशेष कहलाती हैं और उनका कुछ न कुछ आकार अवश्य होता है लेकिन ध्रौव्यात्मक रूप उन पर्यायों में सदैव अनुस्यूत रहता है। पर्यायों के परिवर्तित होते रहने पर भी वस्तु के अस्तित्व, सदात्मकता में किसी प्रकार की न्यूनाधिकता नहीं आती है। इसीलिए इस न्यूनाधिकता के न होने से वस्तु को निराकार, सामान्यात्मक माना जाता है। उनमें से ज्ञान वस्तुगत विशेष धर्मों का, उत्पत्ति विनाशात्मक पर्यायों का बोध कराता है और दर्शन के द्वारा वस्तु के सद्रूप ध्रौव्यात्मकता, सामान्य धर्म की प्रतीति होती है।

'पज्जसन्नि बार उवओगा' पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में उक्त सभी बारह उपयोग पाये जाते हैं। इनमें से केवलज्ञान और केवलदर्शन उपयोग की स्थिति समय मात्र की और शेष छाद्मस्थिक दस उपयोगों की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की मानी गई है।[1]

---

1 छद्मस्थों के उपयोगों की स्थिति अन्तर्मुहूर्त मानने के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर साहित्य में समानता है। इस सम्बन्ध का उद्धरण निम्न प्रकार है —

पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो मे छद्मस्थो से लेकर केवलज्ञानियो तक का समावेश होता है और उनमे सभी उपयोग मानने का कथन सामान्य की अपेक्षा से है। छद्मस्थो मे उपयोग क्रमभावी होते हैं यानी दर्शन के पश्चात् ज्ञानोपयोग । इसमें किसी प्रकार का मतभेद नही है, किन्तु केवली के उपयोग सहभावी है या क्रमभावी, इसको लेकर मत-भिन्नता है। इस सम्वन्ध मे तीन पक्ष है।

प्रथम पक्ष सिद्धान्त का है। इसके समर्थक श्री भद्रवाहु स्वामी, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि है। सिद्धान्त मे ज्ञान और दर्शन का अलग-अलग कथन है तथा उनका क्रमभावित्व वर्णित किया गया है। आवश्यक निर्युक्ति मे केवलज्ञान—केवलदर्शन दोनो के भिन्न-भिन्न लक्षण, उनके द्वारा सर्वविपयक ज्ञान और दर्शन का होना तथा युगपत् दो उपयोगों का निपेध स्पष्ट वतलाया है। केवलज्ञान और केवलदर्शन के भिन्न-भिन्न आवरण है, केवलज्ञान और केवलदर्शन की अनन्तता लब्धि की अपेक्षा है। उपयोग की अपेक्षा उनकी स्थिति एक समय की है। उपयोगो का स्वभाव ही ऐसा है कि जिससे वे क्रमशः प्रवृत्त होते हैं। इसीलिए केवलज्ञान और केवलदर्शन को क्रमभावी और अलग अलग माना जाता है।

दूसरा पक्ष केवलज्ञान और केवलदर्शन को युगपत् सहभावी

(क) उपयोगस्थितिकालोऽन्तर्मुहूर्तपरिमाण प्रकर्पाद् भवति।
—तत्त्वार्थभाष्य २।८ की टीका

(ख) उपयोगतोऽन्तर्मुहूर्तमेव जघन्योत्कृष्टाभ्याम्।
—तत्त्वार्थभाष्य २।९ की टीका

(ग) मदिसुदओहिमणेहि य सगसगविसये विसेस विण्णाण।
अतोमुहुत्तकालो उवजोगो सो दु सायारो ॥
इदियमणोहिणा वा अत्थे अविसेसि दूण ज गहण।
अतोमुहुत्तकालो उवजोगो सो अणायारे ॥
—गो० जीवकाड ६७४,६७५

मानने वालों का है। इसके पोषक श्री मल्लवादीसूरि आदि हैं। उनका मन्तव्य है कि केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण का युगपत् क्षय होता है तथा पदार्थगत सामान्यविशेष धर्म सहभावी हैं, अतः आवरणक्षय रूप निमित्त और सामान्यविशेषात्मक विषय समकालीन होने से केवलज्ञान और केवलदर्शन युगपत् होते हैं। छाद्मस्थिक उपयोगों में कार्यकारणभाव या परस्पर प्रतिवन्ध्य-प्रतिवन्धक भाव बन सकता है, क्षायिक उपयोग में नहीं। क्योंकि बोध स्वभाव आत्मा जब निरावरण हो जाती है तब उसके दोनों क्षायिक उपयोग निरन्तर ही होने चाहिए। केवलज्ञान और केवल-दर्शन की सादि-अपर्यवसिता (अनन्तता) युगपत् पक्ष में ही घट सकती है क्योंकि इस पक्ष में दोनों उपयोग युगपत् और निरन्तर होते रहते हैं। इसलिए द्रव्यार्थिक नय से उपयोगद्वय के प्रवाह को अनन्त कहा जा सकता है।

तीसरा पक्ष उभय उपयोगों का भेद न मानकर ऐक्य मानने वालों का है। इसके प्रस्तोता श्री सिद्धसेन दिवाकर हैं। उनका मन्तव्य है कि यथायोग्य सामग्री मिलने पर एक ज्ञान-पर्याय में अनेक घट-पटादि विषय प्रतिभासित होते हैं, वैसे ही आवरणक्षय, विषय आदि सामग्री मिलने पर एक ही केवल उपयोग पदार्थों के सामान्य विशेष उभय स्वरूप को जान सकता है। जैसे केवलज्ञान के समय मतिज्ञानावरण आदि का अभाव होने पर भी मतिज्ञान आदि केवलज्ञान से अलग नहीं माने जाते हैं वैसे ही केवलदर्शनावरण का क्षय होने पर केवल-दर्शन को केवलज्ञान से अलग मानना उचित नहीं है। विषय और क्षयोपशम की विभिन्नता के कारण छाद्मस्थिक ज्ञान और दर्शन में भिन्नता मानी जा सकती है, किन्तु अनन्त विषयकता और क्षायिक भाव समान होने से केवलज्ञान और केवलदर्शन में किसी प्रकार का भेद नहीं माना जा सकता है। यदि केवलदर्शन को केवलज्ञान से

अलग माना जाये तो केवलदर्शन को सामान्यमात्र का विषय करने वाला होने से वह अल्प विषय वाला सिद्ध होगा, जिससे उसमे अनन्त विषयकत्व सिद्ध नही हो सकेगा। 'केवली का वचनोच्चार केवलज्ञान-केवलदर्शन पूर्वक होता है' यह कथन अभेद पक्ष मे ही पूर्णतया घट सकता है। केवलदर्शन और केवलज्ञान सम्बन्धी आवरणभेद कथचित् है अर्थात् वस्तुतः आवरण एक होने पर भी कार्य और उपाधि भेद की अपेक्षा से उसका भेद समझना चाहिए।[1]

उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने उक्त तीनो पक्षो का नयदृष्टि से समन्वय किया है कि सिद्धान्तपक्ष शुद्ध ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से, श्री मल्लवादीसूरि का पक्ष व्यवहारनय की अपेक्षा से और श्री सिद्धसेन दिवाकर का पक्ष संग्रहनय की अपेक्षा से जानना चाहिए।[2]

केवली मे उपयोग विषयक उक्त तीनो मतव्यो मे से

---

१ दिगम्बर साहित्य मे उक्त तीनो पक्षो मे से दूसरा—युगपत् उपयोगद्वय पक्ष माना है—

जुगव वट्टइ णाण केवलणाणिस्स दसण च तहा।
दिणयरपयासताप जह वट्टइ तह मुणेयव्व॥

—नियमसार १६०

सिद्धाण सिद्धगई केवलणाण च दसण खविय।
सम्मत्तमणाहार उवजोगाणक्कमपउत्ती॥

—गो० जीवकांड ७३०

दसण पुव्व णाण छद्मत्थाण ण दोण्णि उवउग्गा।
जुगव जम्हा केवलि णाहे जुगव तु ते दो वि॥

—द्रव्यसंग्रह ४४

२ ज्ञानविन्दु पृ० १६४

काम-ग्रंथिका ने सिद्धान्तमत को स्वीकार करते हुए क्रमभावी माना है।[1]

पर्याप्त चतुरिन्द्रिय और पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय में चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन तथा मति-अज्ञान व श्रुत-अज्ञान यह चार उपयोग होते हैं। इन चार उपयोगों के होने का कारण यह है कि इनके पहला मिथ्यात्व गुणस्थान होता है तथा आवरण की घनिष्टता से चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनोपयोगों की तथा मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान के सिवाय अन्य ज्ञानोपयोगों की सम्भावना नहीं है। इसलिए चक्षुदर्शन आदि श्रुत-अज्ञान पर्यन्त चार उपयोग पर्याप्त चतुरिन्द्रिय व असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के माने जाते हैं।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि दस जीवस्थानों में भी पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के माने गये चार उपयोगों में से चक्षुदर्शन नहीं होने से सिर्फ अचक्षुदर्शन, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान यह तीन उपयोग होते हैं। इसका आशय यह है कि—१ सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, २ सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त, ३ बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, ४ बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त, ५ द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, ६ द्वीन्द्रिय पर्याप्त, ७ त्रीन्द्रिय अपर्याप्त, ८ त्रीन्द्रिय पर्याप्त, ९ चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त, १० असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त—इन दस प्रकार के जीवों के अचक्षुदर्शन, तथा मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान यह तीन उपयोग होते हैं।

---

१ ते च केवलिनः न तु युगपत् उपयोगानां तथा जीवस्वभावतो यौगपद्यासम्भवात्। उक्तं च—समए दो उवओगा न त्थि। श्री भद्रबाहुस्वामिपादा अप्याहु—

नाणम्मि दंसणम्मि य एत्तो एगयरयम्मि उवउत्ता।
सव्वस्स केवलिस्सा जुगवं दो नत्थि उवओगा॥

(आव० नियुक्ति गा० ९७९)

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १२२

इन दस प्रकार के जीवो मे तीन उपयोग मानना कार्मग्रन्थिक मत के अनुसार है, सैद्धातिक मत के अनुसार नही। क्योकि कार्मग्रन्थिक विद्वान् वादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी-पचेन्द्रिय इन पाँच प्रकार के अपर्याप्त जीवो मे पहला और दूसरा यह दो गुणस्थान मानते है—

सव्व जियठाण मिच्छे सगसासणि पण अपज्ज सन्निदुगं।
सम्मे सन्नी दुविहो सेसेसुं सन्निपज्जत्तो ॥

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ ४५

मिथ्यात्व गुणस्थान मे सव जीवस्थान है। सासादन मे पाँच अपर्याप्त (वादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय) तथा दो सज्ञी (पर्याप्त और अपर्याप्त) कुल सात जीवस्थान है। अविरति मे दो संज्ञी (अपर्याप्त और पर्याप्त) जीवस्थान हैं। उनके अलावा शेप ग्यारह गुणस्थानो मे पर्याप्त संज्ञी जीवस्थान है।

लेकिन दूसरे गुणस्थान के समय मति आदि को ज्ञान रूप न मानकर अज्ञान रूप ही मानते हैं। इसलिए पर्याप्त-अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, पर्याप्त वादर एकेन्द्रिय, पर्याप्त द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय इन प्रथम गुणस्थान वाले पाँच जीवस्थानो के समान वादर एकेन्द्रिय आदि उक्त पाँच प्रकार के अपर्याप्त जीवस्थानो मे भी जिनमे दो गुणस्थान सम्भव है, अचक्षुदर्शन, मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान यह तीन उपयोग माने जाते है।

सिद्धान्त का मत उक्त मतव्य से भिन्न है कि सभी प्रकार के एकेन्द्रियो मे—चाहे वे वादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त हो—पहला मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। किन्तु द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पंचेन्द्रिय इन चार अपर्याप्त जीवस्थानो मे पहला, दूसरा ये दो गुणस्थान होते है। साथ ही सिद्धान्त मे दूसरे गुणस्थान के

समय मति आदि को अज्ञान रूप न मानकर ज्ञान रूप माना है। अतएव सिद्धान्त के मतानुसार द्वीन्द्रिय आदि उक्त चार अपर्याप्त जीवस्थानों में अचक्षुदर्शन, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान ये पांच उपयोग होते हैं तथा द्वीन्द्रिय आदि उक्त चार के सिवाय शेष छह जीवस्थानों में अचक्षुदर्शन, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान यह तीन उपयोग समझना चाहिए।

एकेन्द्रिय में माने गये तीन उपयोगों में श्रुत-अज्ञान उपयोग को भी ग्रहण किया है। इस पर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि स्पर्शनेन्द्रिय मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने से एकेन्द्रियों में मति-उपयोग मानना ठीक है, लेकिन भाषा और श्रवण लब्धि न होने के कारण उनमें श्रुत उपयोग कैसे माना जा सकता है? क्योंकि शास्त्र में भाषा और श्रवण लब्धि वालों को ही श्रुतज्ञान माना है—

भावसुयं भासासोयलद्धिणो जुज्जए न इयरस्स।
भासाभिमुहस्स सुयं सोऊण य जं हविज्जाहि॥

—विशेषावश्यक, १०२

—बोलने और सुनने की शक्ति वाले को भावश्रुत होता है दूसरों को नहीं। क्योंकि श्रुतज्ञान उस ज्ञान को कहते हैं जो बोलने की इच्छा वाले अथवा वचन सुनने वाले को होता है।

इसका समाधान यह है एकेन्द्रिय जीवों के स्पर्शनेन्द्रिय के सिवाय अन्य द्रव्येन्द्रियों के न होने पर भी वृक्षादि जीवों में पांच भावेन्द्रियों का तथा बोलने और सुनने की शक्ति न होने पर भी एकेन्द्रियों में भावश्रुत ज्ञान का होना शास्त्र सम्मत है—

जह सुहुमं भाविंदियनाणं दव्विंदियावरोहे वि।
तह दव्वसुयाभावम्मि वि भावसुयं पत्थिवाईणं॥

—विशेषावश्यक, १०३

—जिस प्रकार द्रव्येन्द्रियो के अभाव मे भावेन्द्रियजन्य सूक्ष्मज्ञान होता है, इसी प्रकार द्रव्यश्रुत के अभाव मे भी पृथ्वीकायिक आदि जीवो को अल्प भावश्रुत होता है। यद्यपि यह भावश्रुत दूसरो जितना स्पष्ट नही होता है।

एकेन्द्रियो मे अस्पष्ट भावश्रुत मानने का कारण यह है कि उनमे आहार सज्ञा (अभिलाप) विद्यमान है और यह आहार-अभिलाप क्षुधा वेदनीय कर्म के उदय से होने वाला आत्मा का परिणाम विशेष है—

आहारसंज्ञा आहाराभिलाष क्षुद्वेदनीयोदयप्रभवःखल्वात्मपरिणाणविशेषः इति।

—आवश्यक हारिभद्री टीका, पृ० ५८०

आहारसज्ञा अर्थात् आहार का अभिलाप क्षुधावेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला आत्मा का परिणामविशेष है। यह अभिलाप मुझे अमुक वस्तु मिले तो अच्छा, इस प्रकार के शब्द और अर्थ के विकल्पपूर्वक होता है और विकल्प सहित उत्पन्न होने वाले अध्यवसाय का नाम ही श्रुतज्ञान है—

इन्दियमणोनिमित्तं जं विण्णाणं सुयाणुसारेणं।
निययत्थुत्तिसमत्थं तं भावसुयं मईसेसं॥

—विशेषावश्यक, १००

—इन्द्रिय और मन के निमित्ति से उत्पन्न होने वाला ज्ञान जो कि नियत अर्थ को कहने मे समर्थ है तथा श्रुतानुसारी (शब्द और अर्थ के विकल्प से युक्त) है, उसे भावश्रुत कहते है तथा इसके सिवाय शेष मतिज्ञान है।

उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि एकेन्द्रियो मे श्रुत उपयोग न माना जाये तो उनमे आहार का अभिलाप नही घट सकता है। इसलिए बोलने और सुनने की शक्ति न होने पर भी उनमे अत्यन्त सूक्ष्म श्रुत-उपयोग होता है, यह अवश्य मानना चाहिए।

शास्त्र में जो भाषा और श्रवण लब्धि वाले को ही भावश्रुत कहा गया है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि उक्त प्रकार की शक्ति वाले को स्पष्ट भावश्रुत होता है और दूसरों को अस्पष्ट।

संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त में 'मणनाणचक्खुकेवलदुग विहूणा' मनपर्यायज्ञान, चक्षुदर्शन, केवलज्ञान, केवलदर्शन इन चार उपयोगों के सिवाय शेष आठ उपयोग होते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय को अपर्याप्त अवस्था में आठ उपयोग इसलिए माने जाते हैं कि तीर्थंकर तथा सम्यग्दृष्टि देव, नारक आदि को उत्पत्ति के क्षण से ही मति, श्रुत, अवधिज्ञान और अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन यह पांच उपयोग होते हैं तथा मिथ्यादृष्टि देव, नारक को जन्मसमय से ही मति, श्रुत, अवधि-अज्ञान और दो दर्शन होते हैं। दोनों प्रकार के जीवों (सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि) में दो दर्शन समान हैं अतः उनकी पुनरावृत्ति न करने से आठ उपयोग संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को अपर्याप्त अवस्था में माने जाते हैं।

संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के अपर्याप्त दशा में मनपर्यायज्ञान आदि चार उपयोग न मानने का कारण यह है कि मनपर्यायज्ञान संयमी जीवों को होता है, किन्तु अपर्याप्त अवस्था में संयम सम्भव नहीं है तथा चक्षुदर्शन चक्षुरिन्द्रिय वालों को होता है और चक्षुरिन्द्रिय के व्यापार की अपेक्षा रखता है, किन्तु अपर्याप्त अवस्था में चक्षुरिन्द्रिय का व्यापार नहीं होता है। केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग कर्मक्षयजन्य हैं, किन्तु अपर्याप्त दशा में कर्मक्षय होना सम्भव नहीं है। इसीलिए संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के अपर्याप्त अवस्था में मनपर्यायज्ञान, चक्षुदर्शन तथा केवलद्विक से रहित आठ उपयोग माने जाते हैं।[1]

---

१ पंचसंग्रह में चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय इन तीनों को

सज्ञी पचेन्द्रिय को अपर्याप्त अवस्था मे जो आठ उपयोग कहे गये है सो यहाँ अपर्याप्त का अर्थ करण-अपर्याप्त समझना चाहिए। क्योकि लब्धि-अपर्याप्त मे तो मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षु-दर्शन यह तीन उपयोग होते है।

जीवस्थानो मे उपयोगो की सख्या इस प्रकार है—

जीवस्थान का नाम	उपयोगो की संख्या व नाम
१ सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त	३ मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, अचक्षुदर्शन
२ सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त	३ ,, ,, ,,
३ वादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त	३ ,, ,, ,,
४ वादर एकेन्द्रिय पर्याप्त	३ ,, ,, ,,
५ द्वीन्द्रिय अपर्याप्त	३ ,, ,, ,,
६ द्वीन्द्रिय पर्याप्त	३ ,, ,, ,,
७ त्रीन्द्रिय अपर्याप्त	३ ,, ,, ,,
८ त्रीन्द्रिय पर्याप्त	३ ,, ,, ,,
९ चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त	३ ,, ,, ,,
१० चतुरिन्द्रिय पर्याप्त	४ ,, ,, ,, चक्षुदर्शन
११ असज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त	३ ,, ,, ,,
१२ असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त	४ ,, ,, ,, चक्षुर्दर्शन
१३ सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त	८ केवलद्विक, मनपर्यायज्ञान, चक्षुदर्शन के सिवाय शेष
१४ संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त	१२ मतिज्ञान आदि केवलदर्शन पर्यंत

अपर्याप्त दशा मे इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के वाद चक्षुर्दर्शन होना माना है। श्री मलयगिरिसूरि ने इसका उल्लेख निम्न प्रकार से किया है—

अपर्याप्तकाश्चेह लब्ध्यपर्याप्तका वेदितव्या, अन्यथा करणापर्याप्तकेषु चतुरिन्द्रियादिष्विन्द्रियपर्याप्तौ सत्या चक्षुर्दर्शनमपि प्राप्यते मूलटीकायामाचार्येणाभ्यनुज्ञानात्। —**पचसंग्रह १।८ की टीका**

इस प्रकार से जीवस्थानों मे योग और उपयोग की सख्या का निर्देश करने के बाद अब आगे की दो गाथाओ मे लेश्या, बध आदि को बतलाते हैं।

जीवस्थानो मे लेश्या, बध, उदय, उदीरणा और सत्ता

सन्निदुगि छलेस, अपज्जबायरे पढमचउ ति सेसेसु।
सत्तट्ठ बन्धुदीरण सतुदया अट्ठ तेरससु ॥७॥
सत्तट्ठछेग बधा सतुदया सत्त अट्ठ चत्तारि।
सत्त-ट्ठ-छ पच-दुग उदीरणा सन्नि पज्जत्ते ॥८॥

शब्दार्थ—सन्निदुगि, सनीद्विक मे छलेस—छह लेश्यायें, अपज्जबायरे—अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय मे पढमचउ—आदि की चार, ति—तीन सेसेसु—शेष जीवो मे सत्तट्ठ—सात अथवा आठ, बधुदीरण—बध और उदीरणा, सतुदया—सत्ता और उदय, अट्ठ—आठ कर्मों की तेरससु—तेरह जीवस्थानो मे ॥७॥

सत्तट्ठ—सात, आठ छेग—छह तथा एक, बधा—बध सतुदया—सत्ता तथा उदय, सत्त—सात अट्ठ—आठ चत्तारि—चार सत्त ट्ठ छ-पच-दुग—सात, आठ, छह पाच और दो उदीरणा—उदीरणा, सन्नि पज्जत्ते—सनी पर्याप्त मे ॥८॥

गाथार्थ—सनीद्विक मे छह लेश्याये होती हैं, अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय मे आदि की चार लेश्याय तथा शेष ग्यारह जीवस्थानो मे तीन लेश्यायें होती हैं। तेरह जीवस्थानो मे सात या आठ कर्मों का बध और उदीरणा होती है किन्तु सत्ता और उदय आठो ही कर्मों का होता है ॥७॥

पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय मे बध सात, आठ, छह और एक कर्म का तथा सत्ता और उदय सात आठ और चार कर्मो का होता है। उदीरणा सात आठ, छह, पाँच और दो की होती है ॥८॥

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं द्वारा जीवस्थानों मे लेश्या तथा कर्मो के बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता का कथन किया गया है।

जीवस्थानो मे लेश्याओं का कथन जीवस्थानो के तीन विभाग करके किया है। पहले विभाग में सज्ञी पचेन्द्रिय जीवों का ग्रहण किया है कि 'सन्निदुगि छलेस' सज्ञीद्विक—संज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त और सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त मे कृष्णादि छहों लेश्याये पायी जाती हैं। दूसरे विभाग मे अपर्याप्त वादर एकेन्द्रिय जीवो के लेश्याओ की सख्या वतलायी है कि 'अपज्ज वायरे पढमचउ' अपर्याप्त वादर एकेन्द्रिय में आदि की चार लेश्याये होती हैं और तीसरे विभाग मे उक्त सज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त व अपर्याप्त तथा अपर्याप्त वादर एकेन्द्रिय जीवो के सिवाय 'ति सेसेसु' पद से शेष ग्यारह जीवस्थानों मे कृष्णादि तीन लेश्यायें वतलायी हैं।

अपर्याप्त तथा पर्याप्त दोनों प्रकार के संज्ञी जीवों मे छह लेश्याये मानने का कारण यह है कि उनमें शुभ और अशुभ परिणामों के तीव्रतम आदि सभी प्रकार होना सम्भव हैं तव शुभ और अशुभ परिणामो से निष्पन्न सभी लेश्याये भी अवश्य होगी। सारांश यह है कि संज्ञी पचेन्द्रिय जीवों के पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्था मे परिणामो की शुभाशुभता की विविध अवस्थाये पायी जाती हैं, अतः उन परिणामों से जन्य शुभ और अशुभ लेश्याये भी उनमे अवश्य पायी जायेंगी। इसी वात को वतलाने के लिए सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के छह लेश्यायें होना माना जाता है।

अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय पद में अपर्याप्त का अर्थ करण अपर्याप्त है, क्योकि उसी मे छह लेश्याये होना सम्भव है। लब्धि-अपर्याप्त तो सिर्फ कृष्ण, नील, कापोत इन तीन लेश्याओ के अधिकारी है।

एकेन्द्रिय जीवो के दो भेद है—सूक्ष्म और वादर तथा सूक्ष्म व वादर भी पर्याप्त और अपर्याप्त की अपेक्षा से दो-दो प्रकार के हो

जाते हैं। यानी सूक्ष्म एकेंद्रिय पर्याप्त व अपर्याप्त और बादर एकेंद्रिय पर्याप्त व अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के हैं। सामान्यतया सभी एकेंद्रिय जीवों के कृष्ण, नील और कापोत यह तीन लेश्यायें होती हैं, लेकिन जब उनके बादर, सूक्ष्म आदि भेदों की अपेक्षा लेश्या का विचार करते हैं, तो अपर्याप्त बादर एकेंद्रिय जीवों की यह विशेषता है कि उनका लेश्यास्वामित्व चार लेश्याओं 'कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या' का है।

अपर्याप्त बादर एकेंद्रिय जीवों में तेजोलेश्या मानने का कारण यह है कि तेजोलेश्या वाले ज्योतिषी आदि देव जब उसी लेश्या में मरते हैं और बादर पृथ्वीकाय, जलकाय या वनस्पतिकाय में जन्म लेते हैं तब उनके अपर्याप्त अवस्था में तेजोलेश्या होती है।[1]

समस्त संसारी जीव लेश्यावान हैं और जन्म से लेकर मरण तक कोई न कोई लेश्या अवश्य पायी जाती है। अतः यह सामान्य नियम है कि जिस लेश्या में मरण हो, जन्मते समय वही लेश्या होती है।[2] इसलिए ज्योतिषी आदि देवों के तेजोलेश्या के परिणामों में मरण करके पृथ्वीकाय आदि एकेंद्रिय जीवों में जन्म लेने पर अपर्याप्त दशा में तेजोलेश्या मानी जाती है।

पूर्वोक्त मनोद्विक और बादर एकेंद्रिय अपर्याप्त इन तीन

---

१ तेजोलेश्या कथमसिम्नाप्यते ? इति चेद् उच्यते—यदा
पुढवीआउवणस्सइ गब्भेपज्जत्तसंखजीवेसु।
सग्गचुआण वासो सेसा पडिसेहिया ठाणा ॥

—बृहद् संग्रहणी १८०

ते हि भवनात् च्युत्वापि देवः स्वभवनात् च्युता सन् बादरैकेन्द्रियेषु उत्पद्यन्ते सत्य समुत्पद्य। तदा तस्य पर्याप्तावस्थायां सा प्राप्यते लेश्या। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृष्ठ १२६

२ जल्लेसे मरइ तल्लेसे उववज्जइ।

जीवस्थानो के सिवाय शेष ग्यारह जीवस्थानो—(१) अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, (२) पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, (३) पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, (४) अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, (५) पर्याप्त द्वीन्द्रिय, (६) अपर्याप्त त्रीन्द्रिय, (७) पर्याप्त त्रीन्द्रिय, (८) अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, (९) पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, (१०) अपर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय, (११) पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय मे कृष्ण, नील और कापोत यह तीन लेश्याये होती है। इन ग्यारह जीवस्थानो मे कृष्णादि तीन लेश्याये मानने का कारण यह है कि ये ग्यारह जीवस्थान अशुभ परिणाम वाले ही होते है। अत॰ उनमे अशुभ परिणामजन्य कृष्ण, नील, कापोत यह तीन अशुभ लेश्याये ही हो सकती है और शुभ परिणामो का अभाव होने से शुभपरिणामजन्य तथा शुभ परिणाम रूप तेजोलेश्या आदि तीन लेश्याये नही होती है।[1]

जीवस्थानो मे लेश्याये इस प्रकार है—

जीवस्थान का नाम	लेश्याओं की संख्या व नाम	
१ सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त	३ कृष्ण, नील, कापोत	
२ सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त	३ ,, ,, ,,	
३ बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त	४ ,, ,, ,,	तेजोलेश्या
४ बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त	३ ,, ,, ,,	
५ द्वीन्द्रिय अपर्याप्त	३ ,, ,, ,,	
६ द्वीन्द्रिय पर्याप्त	३ ,, ,, ,,	

१ 'ति सेसेसु' त्ति प्रथमा इत्यनुवर्तते, प्रथमास्तिस्र.—कृष्णनीलकापोतलक्षणा 'शेषेषु' प्रागुक्तापर्याप्तपर्याप्तसज्ञिपचेन्द्रियापर्याप्तवादरैकेन्द्रियवर्जितेषु अपर्याप्तपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाऽसज्ञिपचेन्द्रियपर्याप्तवादरैकेन्द्रियलक्षणेष्वेकादशसु जीवस्थानेषु भवन्ति ता नान्या तेषा सदैवाऽशुभपरिणामत्वात्, शुभपरिणामरूपाश्च तेजोलेश्यादय ।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १२४

७ त्रीन्द्रिय अपर्याप्त	३	कृष्ण, नील, कापोत
८ त्रीन्द्रिय पर्याप्त	३	" " "
९ चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त	३	" " "
१० चतुरिन्द्रिय पर्याप्त	३	" " "
११ असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त	३	" " "
१२ असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	३	" " "
१३ संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त	६	" " ", तेज, पद्म, शुक्ल
१४ संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	६	" " " " " "

इस प्रकार से जीवस्थानों में लेश्याओं का स्वामित्व बतलाने के बाद बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता का विचार करते हैं। यह बंध आदि का विचार कर्मों की मूल प्रकृतियों को लेकर किया गया है कि प्रत्येक जीवस्थान में किसी एक समय में कर्मों की कितनी मूल प्रकृतियों का बंध, उदय, उदीरणा या सत्ता सम्भव है।

जीवस्थानों में बन्ध आदि का कथन दो विभागों में किया गया है। प्रथम विभाग में संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त को छोड़कर शेष तेरह जीवस्थानों का बंध आदि बतलाया है और दूसरे विभाग में संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त का। अतः इस विभागानुसार पहले तेरह जीवस्थानों में बंध, उदय आदि को बतलाते हैं।

पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को छोड़कर शेष अपर्याप्त, पर्याप्त, सूक्ष्म, बादर एकेन्द्रिय आदि सभी प्रकार के जीव प्रत्येक समय सात अथवा आठ कर्मप्रकृतियों का बंध करते हैं। सात या आठ प्रकृतियों के बंध का मतलब का कारण यह है कि जब आयुकर्म का बंध नहीं होता तब सात प्रकृतियों का और आयुकर्म का बंध होने पर आठ प्रकृतियों का बंध होता है। प्रत्येक समय में आयुकर्म के बंध न होने का कारण यह है कि आयु का बंध एक भव में एक ही बार

जघन्य या उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक ही होता है और एक वार भी वन्ध होने का नियम यह है कि वर्तमान आयु का तीसरा, नौवाँ अथवा सत्ताईसवाँ आदि भाग शेष रहने पर ही परभव की आयु का वन्ध होता है। इस स्थिति मे भी यदि वन्ध न हो सके तो अन्त में वर्तमान आयु के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण शेष रहने पर परभव की आयु का वन्ध अवश्य होता है।

आयुकर्म के वन्ध होने की इस स्थिति के कारण आयुकर्म के भी वन्ध के समय तो आठ कर्मों का वन्ध और आयुकर्म के वन्ध का अवसर न होने की स्थिति मे आयुकर्म को छोडकर ज्ञानावरण आदि शेष सात कर्मों का वन्ध होता है।

सात या आठ कर्मों का जिन तेरह जीवस्थानो मे वन्ध वतलाया गया है, उनके नाम इस प्रकार है—

(१) अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, (२) पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, (३) अपर्याप्त वादर एकेन्द्रिय, (४) पर्याप्त वादर एकेन्द्रिय, (५) अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, (६) पर्याप्त द्वीन्द्रिय, (७) अपर्याप्त त्रीन्द्रिय, (८) पर्याप्त त्रीन्द्रिय, (९) अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, (१०) पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, (११) अपर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय, (१२) पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय, (१३) अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय।

उपर्युक्त तेरह जीवस्थानो मे सात या आठ कर्मों के वन्ध के समान ही प्रत्येक समय मे सात या आठ कर्मों की उदीरणा हुआ करती है। सात कर्मों की उदीरणा तो आयुकर्म की उदीरणा न होने के समय—जीवन की अन्तिम आवलिका—मे पायी जाती है। क्योकि उस समय आवलिका-मात्र स्थिति शेष रहने के कारण उदयमान आयु की और अधिक स्थिति होने पर भी उदयमान न होने के कारण आगामी भव की आयु की उदीरणा नही होती है। शेष समय

मे आठ कर्मों की उदीरणा हो सकती है।[1] कर्मो की उदीरणा के लिए शास्त्रो मे यह नियम बतलाया है कि जो कर्म उदय प्राप्त है, उसकी उदीरणा होती है, दूसरे की नही और उदय प्राप्त कर्म भी आवलिका-मात्र शेष रह जाता है तब से उसकी उदीरणा[2] रुक जाती है।

उक्त तेरह प्रकार के जीवस्थानो मे जो अपर्याप्त जीवस्थान है उनमे अपर्याप्त का अर्थ लब्धि-अपर्याप्त लेना चाहिये, करण-अपर्याप्त नही। क्योकि लब्धि-अपर्याप्त जीवो के सात या आठ कर्मों की उदीरणा सभव है। वे अपर्याप्त अवस्था में ही मर जाते है इसलिये उनमे आवलिका मात्र आयु शेष रहने पर सात कर्मों की और उसके

---

१ त्रयोदशसु जीवस्थानेषु सप्तानामष्टाना वा बन्ध, सप्तानामष्टाना वा उदीरणा। तथाहि—यदाऽनुभूयमानभवायुषस्त्रिभागनवभागादिरूपे शेषे सति परभवायुर्बध्यते तदाऽष्टानामपि कर्मणा बन्ध, शेष काल त्वायुषो बन्धाभावात् सप्तानामेव बन्ध। तथा यदाऽनुभूयमानभवायुरुदयावलिकावशेष भवति तदा सप्तानामुदीरणा अनुभूयमानभवायुषोऽनुदीरणात् आवलिकाशेषस्योदीरणाऽनर्हत्वात। उदीरणा हि उदयावलिका बहिर्वर्तिनीभ्य स्थितिभ्य सकाशात् कषायसहितेन कषायासहितेन वा योगकरणेन दलिकमाकृष्य उदयसमयप्राप्तदलिकेन सहानुभवनम्।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १२४

२ उदयावलियावहिरिल्लठिईहिंता कसायसहियासहिएण जोगकरणेण दलियमाकड्ढिय उदयपत्तदलियेण सम अणुभवणमुदीरणा।

—कर्मप्रकृतिचूर्णि

उदयावलिका से बाहर की स्थिति वाले दलिको को कषायसहित या कषाय रहित योग द्वारा खीचकर उदयप्राप्त दलिको के साथ भोग लेना उदीरणा है।

उदीरणा के उक्त लक्षण का आशय यह है कि उदयावलिका के दलिकों की उदीरणा नही होती है। अतएव कर्म की स्थिति आवलिका-मात्र शेष रहने के समय उसकी उदीरणा रुक जाना नियमानुकूल है।

पूर्व आठ कर्मों की उदीरणा होती है। किन्तु करण-अपर्याप्त जीवों के अपर्याप्त अवस्था मे मरने का नियम नही है। वे यदि लब्धि-पर्याप्त हुए तो पर्याप्त अवस्था ही मे मरते है, इसलिये उनके अपर्याप्त अवस्था मे आवलिका मात्र आयु शेप रहने और सात कर्मों की उदीरणा होना सम्भव नही है।

उक्त तेरह जीवस्थानो मे यद्यपि वध और उदीरणा सात या आठ कर्मों की वतलाई है, लेकिन उदय और सत्ता के लिये यह नियम नही है। उदय तथा सत्ता तो आठो कर्मों की होती है। इसका कारण यह है कि सामान्यतया आठ कर्मों की सत्ता ग्यारहवे गुणस्थान तक और उदय दसवे गुणस्थान तक होता है। परन्तु पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय के सिवाय शेप तेरह जीवस्थानो मे अधिक से अधिक पहला, दूसरा और चौथा यह तीन गुणस्थान सम्भव है। इसीलिये इन तेरह जीवस्थानो मे आठो ही कर्मों की सत्ता और उदय माना गया है।[1]

सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त के अतिरिक्त शेप तेरह जीवस्थानो मे कर्मों के वध, उदीरणा, सत्ता और उदय को वतलाने के वाद अव सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान मे कर्मों के वध आदि का निरूपण करते है।

सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान के सर्वश्रेष्ठ जीवस्थान होने से उसके कर्मों के वध आदि की अपनी विशेपता है कि वह प्रत्येक समय

---

१ ,तथाहि—एतेपु त्रयोदशसु जीवस्थानकेपु सर्वकालमष्टानामपि सत्ता, यतोऽष्टानामपि कर्मणा सत्ता उपशान्तमोहगुणस्थानक यावदनुवर्तते। एते च जीवा उत्कर्पतो यथासम्भवमविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकवर्तिन एवेति। एवमुदयोऽप्येतेपु जीवस्थानेष्वष्टानामेव कर्मणा दृष्टव्य। तथाहि—सूक्ष्मसपरायगुणस्थानक यावदष्टानामपि कर्मणामुदयोऽवाप्यते, एतेपु च जीवस्थानकेपूत्कर्पतोऽपि यथासम्भवमविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकसम्भव इति।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १२५

में 'सत्तट्ठछेग बंधा' सात कर्म का, आठ कर्म का, छह कर्म का और एक कर्म का बंध कर सकता है। यानी संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के उक्त चार बंधस्थान[1] हैं।

उपर्युक्त चार बंधस्थानों में से सात कर्मों का बंधस्थान आयुकर्म का बंध नहीं होने के समय होता है। एक बार आयु का बंध हो जाने के बाद दूसरी बार उसका बंध होने में जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण और उत्कृष्ट काल छह मास कम तेतीस सागरोपम तथा अन्तर्मुहूर्त कम ⅓ करोड पूर्व वर्ष प्रमाण है। अतएव सात कर्मों के बंधस्थान की स्थिति भी जघन्य से अन्तर्मुहूर्त प्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त कम ⅓ करोड पूर्व वर्ष तथा छह मास कम तेतीस सागरोपम प्रमाण समझना चाहिये।

आठ कर्मों का बंधस्थान आयुकर्म के बंध के समय पाया जाता है। आयुबंध जघन्य या उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक होता है। इसीलिये आठ कर्मों के बंधस्थान की जघन्य या उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

छह कर्मों का बंधस्थान दसवें गुणस्थान में ही पाया जाता है। क्योंकि उसमें आयु और मोहनीय इन दो कर्मों का बंध नहीं होता है। इस बंधस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति दसवें गुणस्थान के बराबर है अर्थात् जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

---

१ जिन प्रकृतियों का बंध एक साथ (युगपत्) हो उनके समुदाय को बंधस्थान कहते हैं। इसी प्रकार जिन प्रकृतियों की सत्ता एक साथ पाई जाय उनके समुदाय को सत्तास्थान, जिन प्रकृतियों का उदय एक साथ पाया जाय उनके समुदाय को उदयस्थान तथा जिन प्रकृतियों की उदीरणा एक साथ पाई जाय उनके समुदाय को उदीरणास्थान कहते हैं।

एक कर्म का बंधस्थान ग्यारहवे, बारहवे और तेरहवें इन तीन गुणस्थानो मे होता है। इसका कारण यह है कि इन गुणस्थानो के समय साता वेदनीय कर्म के सिवाय अन्य कर्मों का बंध नही होता है। ग्यारहवे गुणस्थान की जघन्य स्थिति एक समय की और तेरहवें गुणस्थान की उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष कम करोड पूर्व वर्ष की है। अतएव इस बंधस्थान की भी जघन्य स्थिति एक समय मात्र की और उत्कृष्ट नौ वर्ष कम करोड पूर्व वर्ष की समझना चाहिये।

गुणस्थानो की अपेक्षा यदि संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवो के कर्म-बंध का विचार किया जाये तो पहले मिथ्यात्व से लेकर सातवें अप्रमत्त-संयत गुणस्थान तक सात या आठ कर्मों का, आयुकर्म का बंध न होने से आठवे, नौवे गुणस्थान मे सात कर्मों का, दसवे गुणस्थान मे छह कर्मों का तथा ग्यारहवे, बारहवे, तेरहवे गुणस्थान मे एक कर्म (साता वेदनीय) का बंध होता है।[1]

संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त के सात, आठ, छह और एक यह चार बंधस्थान कहे गये है किन्तु सत्ता और उदयस्थान तीन हैं जो सात,

---

१ (क) अथ चात्र तात्पर्यार्थ —मिथ्यादृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तेषु सप्तानामष्टाना वा बंध, आयुर्बन्धाभावाद् अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरयोश्च सप्ताना बन्ध, सूक्ष्मसम्पराये षण्णा बंध, उपशान्तमोहादिष्वेकस्याः प्रकृतेर्बन्ध। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १२५

(ख) पहले से सातवें गुणस्थान तक सात गुणस्थान मे संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीव को जो सात या आठ कर्मों के बंध का कथन किया गया हैं, उसमे तीसरा गुणस्थान ग्रहण नही करना चाहिये। क्योकि तीसरे गुणस्थान मे आयुकर्म का बंध नही होता है।

तीसरे गुणस्थान की तरह आठवे, नौवे गुणस्थान मे भी आयु-कर्म का बंध नही होने से तीसरे, आठवे, नौवे इन तीन गुणस्थानो मे सात कर्मों का बंध समझना चाहिये।

आठ और चार कर्मों के हैं। जिनका स्पष्टीकरण नीचे लिखे अनुसार है—

आठ कर्मों का सत्तास्थान पहले मिथ्यात्व से ग्यारहवें उपशान्त मोह गुणस्थान पर्यन्त ग्यारह गुणस्थानों में पाया जाता है। इसकी स्थिति अभव्य की अपेक्षा अनादि अनन्त और भव्य की अपेक्षा अनादि सांत है। अभव्य की अपेक्षा अनादि अनंत मानने का कारण यह है कि जैसे अभव्य की कर्म-परम्परा की आदि नहीं है वैसे ही उसका अन्त भी नहीं है किन्तु भव्य की कर्म-परम्परा की आदि तो नहीं है, अन्त अवश्य होता है।

सात का सत्तास्थान बारहवें गुणस्थान में होता है। इस सत्तास्थान में मोहनीय कर्म के सिवाय शेष सात कर्मों का समावेश है। मोहनीय कर्म के समावेश न करने का कारण यह है कि मोहनीय कर्म का क्षय होने पर ही बारहवें गुणस्थान-क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान की प्राप्ति होती है।

बारहवें गुणस्थान की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण मानी जाती है अतः इस सत्तास्थान की स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण समझना चाहिये।

चार कर्मों का सत्तास्थान तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में पाया जाता है। क्योंकि इन दोनों गुणस्थानों में चार घाती कर्मों का क्षय हो जाने पर चार अघाती कर्मों की सत्ता शेष रहती है। इन दोनों गुणस्थानों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष सात माह कम पूर्व कोटि वर्ष की होती है। अतएव इस चार कर्म के सत्तास्थान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः अन्तर्मुहूर्त और नौ वर्ष सात माह कम पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण समझना चाहिये।

आठ कर्मों का उदयस्थान पहले से दसवें तक दस गुणस्थानों में रहता है। इसकी स्थिति अभव्य की अपेक्षा तो अनादि अनन्त है

किन्तु भव्य की अपेक्षा स्थिति के लिये दो विकल्प है। सामान्य भव्य की अपेक्षा तो अनादि-सान्त है किन्तु उपशम श्रेणि से पतित होने वाले भव्य की अपेक्षा सादि-सान्त है। क्योकि उपशम श्रेणि से गिरने के वाद पुन अन्तर्मुहूर्त मे श्रेणि की जा सकती है। यदि पुन: अन्तर्मुहूर्त मे श्रेणि न की जा सके तो कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्त के वाद अवश्य ही की जाती है। इसलिए आठ कर्म के उदयस्थान की सादि-सान्त स्थिति जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से देशोन अर्धपुद्गल परावर्त प्रमाण समझना चाहिये।

सात कर्मो का उदयस्थान ग्यारहवे और वारहवे इन दो गुण-स्थानो मे जानना चाहिये। सात कर्मो के उदयस्थान मे मोहनीय कर्म को ग्रहण नही किया गया है, क्योकि ग्यारहवे गुणस्थान मे मोह का उपशमन हो जाने से तथा वारहवे गुणस्थान मे मोह का क्षय हो जाने से मोहनीय कर्म का उदय नही रहता है।

सात कर्म के उदयस्थान की जघन्य स्थिति एक समय मात्र और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इसका कारण यह है कि एक समय मात्र की जघन्य स्थिति उस समय होती है जव जीव ग्यारहवे गुणस्थान मे एक समय मात्र रहकर मरता है और अनुत्तर विमान में पैदा होता है तव पैदा होते ही आठ कर्मो का उदय अनुभव करता है। इस अपेक्षा से सात कर्मो के उदयस्थान की जघन्य स्थिति एक समय मात्र कही जाती है। उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त मानने का यह कारण है कि जो जीव वारहवे गुणस्थान को प्राप्त करता है, वह अधिक से अधिक उस गुणस्थान की स्थिति तक जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है, सात कर्मो के उदय का अनुभव करता है। इसके वाद तो तेरहवे गुण-स्थान को प्राप्त कर सिर्फ चार कर्मो (अघाती चतुष्क) के उदय का ही अनुभव करता है।

चार कर्मों का उदयस्थान तेरहवे और चौदहवे इन दो गुणस्थानो मे पाया जाता है। क्योकि इन गुणस्थानो मे सिर्फ चार अघाती कर्मों का ही उदय रहता है। चार कर्मों के उदयस्थान की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण और उत्कृष्ट स्थिति देश-ऊन पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण है।

सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान मे आठ कर्म का, सात कर्म का, छह कर्म का, पाच कर्म का और दो कर्म का यह पाच उदीरणास्थान हैं।

आठ कर्म का उदीरणास्थान आयुकर्म की उदीरणा के समय और सात का उदीरणास्थान आयु कर्म की उदीरणा रुक जाने के समय होता है और आयु कर्म की उदीरणा तब रुक जाती है जब वर्तमान आयु आवलिका प्रमाण शेष रह जाती है।

आयु कर्म की उदीरणा पहले छह गुणस्थानो मे होती है अतएव आठ कर्मों का उदीरणास्थान इन छह गुणस्थानो मे पाया जाता है और वर्तमान आयु की अन्तिम आवलिका के समय पहला, दूसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा ये पाच गुणस्थान पाये जा सकते है। इसलिये सात का उदीरणास्थान इन पाच गुणस्थानो मे समझना चाहिए। तीसरे मिश्र गुणस्थान को सात कर्मों के उदीरणास्थान मे ग्रहण नही करने का कारण यह है कि आवलिका प्रमाण आयु शेष रहने पर यह गुणस्थान सम्भव नही है। इसलिये इस गुणस्थान मे आठ का उदीरणास्थान माना है।[1]

---

१ तत्र यदाऽनुभूयमानभवायुरावलिकावशेष भवति तदा तत्स्वभावत्वात् तस्यानुदीयमाणत्वात् सप्तानामुदीरणा, यदा त्वनुभूयमानभवायुरावलिकावशेष न भवति तदाऽष्टाना प्रकृतिनामुदीरणा। तत्र मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकात् प्रभृति यावत् प्रमत्तसयतगुणस्थानक तावत् सप्ताना

छह कर्मों का उदीरणास्थान सातवें गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान की एक आवलिका प्रमाण स्थिति बाकी रहने तक पाया जाता है। क्योंकि उस समय आयु और वेदनीय इन दो कर्मों की उदीरणा नहीं होती है।[1]

पाँच कर्मों का उदीरणास्थान दसवें गुणस्थान की अन्तिम आवलिका, जिसमें मोहनीय कर्म की भी उदीरणा रुक जाती है, से लेकर बारहवें गुणस्थान की अन्तिम आवलिका पर्यन्त है। इस समय में उदीरणायोग्य पाँच कर्मों के नाम हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, नाम, गोत्र और अन्तराय।

बारहवें गुणस्थान की अन्तिम आवलिका जिसमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों की उदीरणा रुक जाती है उससे लेकर तेरहवें गुणस्थान के अन्त पर्यन्त नाम और गोत्र इन दो कर्मों का उदीरणास्थान होता है।

अयोगिकेवली गुणस्थान अनुदीरक है। अयोगिकेवली गुणस्थान को अनुदीरक मानने पर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि सयोगिकेवली गुणस्थान की तरह इस गुणस्थान में भी भवोपग्राही कर्म चतुष्टय का उदय है तब उसको अनुदीरक कैसे माना जा सकता है? इसका समाधान यह है कि—भवोपग्राही कर्म प्रकृतियों का उदय होने पर भी कर्म प्रकृतियों की उदीरणा के कारणभूत योग का अभाव

नष्टाना वा उदीरणा, सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके तु सदैवाष्टानामेव उदीरणा, आयुष आवलिकाशेषे मिश्रगुणस्थानस्यैवासम्भवात्।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १२६

१ तथाऽप्रमत्तगुणस्थानकात् प्रभृति यावत् सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्यावलिकाशेषो न भवति तावद् वेदनीयायुर्वर्जानां षण्णां प्रकृतिनामुदीरणा, तदानीमतिविशुद्धत्वेन वेदनीयायुरुदीरणायोग्याध्यवसायस्थानाभावात्।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १२६

होने से अयोगिकेवली गुणस्थान को अनुदीरक कहा गया है।[1]

सारांश यह है कि चौदहवें गुणस्थान में नाम और गोत्र का उदय रहने पर भी योग न रहने के कारण उनकी उदीरणा नहीं होती है।

संज्ञी पंचेंद्रिय पर्याप्त जीव चौदह गुणस्थानों का अधिकारी है। यहाँ सामान्य से बंधस्थान, सत्तास्थान आदि का कथन किया गया है। किस गुणस्थान में कौनसा बंधस्थान आदि होता है, इसका विचार आगे किया जा रहा है। चौदह जीवस्थानों में गुणस्थान आदि आठ द्वारों और अल्पबहुत्व का विवरण संलग्न यंत्र में देखिये।

इस प्रकार से जीवस्थानों में (१) गुणस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बंध, (६) उदय, (७) उदीरणा और (८) सत्ता इन आठ विषयों का विचार करने के पश्चात् अब मार्गणास्थान को लेकर जीवस्थान आदि छह विषयों का विचार करते हैं।

---

१ अयोगिकेवलिगुणस्थानके तु वर्तमानो जीव सर्वथाऽनुदीरक एव। ननु तदानीमप्यपि सयोगिकेवलिगुणस्थानक इव मनोप्राहिममचतुष्टयोदयवान् वर्तते तत नय तदाऽपि तयोर्नामगोत्रयोरुदीरको न भवति? नैष दोष, उदये सत्यपि योगसव्यपेक्षत्वाद् उदीरणाया, तदानी च तस्य योगासम्भवादिति।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १२७

चौदह जीवस्थानों में गुणस्थान आदि आठ द्वार और पन्नवणा सूत्र के आधार से अल्पबहुत्व दर्शक यंत्र

जीवस्थानों मे	१ सू ए अ	२ सू ए प	३ बा ए अ.	४ बा. ए. प	५ द्वी अ	६ द्वी प	७ त्री अ
गुणस्थान १४	पहला १	पहला १	पहला, दूसरा २	पहला १	पहला, दूसरा २	पहला १	पहला, दूसरा २
योग १५	कार्मण, औदा औदा मिश्र २/३	औदा १	कार्मण, औदा औदा मिश्र २/३	औदा. वैक्रियद्विक ३	कार्मण, औदा औदा मिश्र २/३	औदा. असत्यामृषा २	कार्मण, औदा औदा मिश्र २/३
उपयोग १२	मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान अचक्षु दर्शन ३	मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान अचक्षु दर्शन ३	मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान अचक्षु दर्शन ३	मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान अचक्षु दर्शन ३	मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान अचक्षु दर्शन ३	मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान अचक्षु दर्शन ३	मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान अचक्षु दर्शन ३
लेश्या ६	आदि की ३	आदि की ३	आदि की ४	आदि की ३	आदि की ३	आदि की ३	आदि की ३
कर्मबन्ध	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८
उदय	८	८	८	८	८	८	८
उदीरणा	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८
सत्ता	८	८	८	८	८	८	८
अल्पबहुत्व	असख्यात गुणा	सख्यात गुणा	असख्यात गुणा	अनन्त गुणा	विशेषाधिक	विशेषाधिक	विशेषाधिक

८ त्री प	९ चतु अ	१० चतु प	११ असंज्ञी पंच अ	१२ असंज्ञी पंच प	१३ संज्ञी पंच अ	१४ संज्ञी पं प
पहला १	पहला, दूसरा २	पहला १	पहला, दूसरा २	पहला १	पहला, दूसरा २	१४
औदा. असत्यामृषा २	कार्मण औदा. औदा. मिश्र -/३	औदा. असत्यामृषा २	कार्मण, औदा. औदारिक मिश्र २/३	औदा. असत्यामृषा २	कार्मण औदा. द्विक वैक्रियद्विक ३/५	१५
मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान अचक्षुदर्शन ३	मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान अचक्षुदर्शन ३	मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान चक्षु अचक्षु दर्शन ४	मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान अचक्षु दर्शन ३	मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान चक्षु अचक्षु दर्शन ४	केवलद्विक मनपर्याय चक्षुदर्शन के सिवाय ८	१२
आदि की ३	आदि की ३	आदि की ३	आदि की ३	आदि की ३	कृष्णादि ६	कृष्णादि ६
७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७, ८, ६, १
८	८	८	८	८	८	७, ८, ६
७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७/८	७,८,६,५,२
८	८	८	८	८	८	७, ८, ४
विशेषाधिक	विशेषाधिक	संख्यात गुणा	असंख्यात गुणा	विशेषाधिक	असंख्यात गुणा	सबसे कम

२. मार्गणास्थान अधिकार

मार्गणास्थान को लेकर (१) जीवस्थान, (२) गुणस्थान, (३) योग, (४) उपयोग, (५) लेश्या, और (६) अल्पबहुत्व, इन छह विषयों का विचार किया गया है। सर्वप्रथम मार्गणास्थान के नाम गाथा मे वतलाते है—

गइइंदिए य काए जोए वेए कसायनाणेसु।
संजमदंसणलेसा भवसम्मे सन्निआहारे[1] ॥९॥

शब्दार्थ—गइ—गति, इदिए—इन्द्रिय मे, य-और, काए—काय मे, जोए—योग मे, वेए—वेद मे, कसाय—कषाय, नाणेसु—ज्ञान मे, संजम—सयम, दंसण—दर्शन, लेसा—लेश्या, भव—भव्य, सम्मे—सम्यक्त्व मे, सन्नि—सज्ञी, आहारे—आहार मे।

गाथार्थ—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, सज्ञित्व, और आहारकत्व, ये मार्गणास्थान के चौदह भेद हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे ग्रन्थलाघव की दृष्टि से ग्रन्थकार ने मार्गणास्थान के भेदों की सख्या को अलग से न वतला कर नामो के माध्यम से सख्या का सकेत किया है कि मार्गणा के गति, इन्द्रिय आदि चौदह भेद होते है जिनके नाम यह है—

---

१ (क) यह गाथा पचसग्रह (द्वार १, गाथा २१) मे भी इसी प्रकार से दी गई है।

(ख) गो० जीवकाड मे मार्गणा के चौदह भेदो के नाम इस प्रकार दिये गये है—

गइइदियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणे य।
सजमदसणलेस्सा भविया सम्मत्तसण्णि आहारे ॥१४२॥

१ गति मागणा	८ सयम मागणा
२ इद्रिय मागणा	९ दशन मागणा
३ काय मागणा	१० लेश्या मागणा
४ योग मागणा	११ भव्यत्व मागणा
५ वेद मागणा	१२ सम्यक्त्व मागणा
६ कषाय मागणा	१३ सज्ञित्व मागणा
७ ज्ञान मागणा	१४ आहारकत्व मागणा

मागणा के इन भेदा मे समस्त ससारी जीवा का समावेश हो जाता है। इन चौदह भेदो मे से प्रत्येक मागणा के अवान्तर भेदा के नाम और उनके लक्षण आदि आगे १० से १४ तक पाच गाथाओ मे बतलाते है।

मार्गणा व उसके भेदो की व्याख्या

लोक म विद्यमान जीवो के अन्वेषण का मुख्य आधार है बाह्य आकार-प्रकार की अवस्था विशेष और उनमे विद्यमान त्रिकालाव स्थायी भावो का समन्वय। सिफ बाह्य आकार-प्रकार, अवस्था की अपेक्षा से किये जाने वाले अन्वेषण मे उन जीवा का ग्रहण—बोध नही होता जो बाह्य शरीर, इन्द्रिय आदि से रहित होकर आत्मिक भावो मे विद्यमान हैं और सिफ भावा की अपेक्षा द्वारा किये जाने वाले अन्वेषण मे शरीर, इन्द्रिय आदि की विभिन्नता रखने वाले जीवो का ग्रहण नही होगा। इसीलिये बाह्य शरीर आदि आकार प्रकार और भावा से युक्त सभी प्रकार क जीवा का बोध कराने के लिये मागणा की व्याख्या की जाती है—

समस्त जीव जिन भावा के द्वारा और जिन पर्यायो म अनुमागण किय जाते हैं अर्थात् खोजे जाते हैं, उन्ह मागणा कहते हैं। जीवराशि अनन्त है। उन अनन्त जीवा म जो जीव कम सहित होकर जन्म-मरण रूप ससार म परिभ्रमण करते रहते हैं उन्ह ससारी और कम रहित

जीवो को मुक्त कहते है। इस प्रकार की भिन्नता होने पर भी समस्त जीव ज्ञान, दर्शन आदि भावों और किसी न किसी अवस्था (पर्याय) में विद्यमान रहते हैं। यद्यपि मुक्त जीव वर्तमान में पर्यायातीत हो चुके है, उनमें पर्यायजन्य किसी प्रकार का भेद नही है, इन्द्रिय, वेद आदि नही रहे हैं लेकिन भूतपूर्वप्रज्ञापन्न नय की अपेक्षा पर्याय का आरोप कर उनको भी पर्यायवान मान लिया जाता है।

प्रस्तुत प्रसग मे ससारी जीवो का विवेचन मुख्य है। इसलिये गति, इन्द्रिय आदि—मार्गणा के चौदह भेद ससारी जीवो की अपेक्षा से किये गये हैं। मार्गणा के इन चौदह भेदो मे ससारी जीवो की समस्त पर्यायो और उनमे विद्यमान भावो का समावेश हो जाता है। गति, इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणा के लक्षण नीचे लिखे अनुसार है—

१ गति—गति नामकर्म के उदय से होने वाली जीव की पर्याय और जिससे जीव मनुष्य, तिर्यंच, देव या नारक व्यवहार का अधिकारी कहलाता है, उसे गति कहते है। अथवा चार गतियो—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव मे गमन करने के कारण को गति कहते हैं।[1]

२. इन्द्रिय—त्वचा, नेत्र आदि जिन साधनो से आत्मा को सर्दी-गर्मी, काले-पीले आदि विषयो का ज्ञान होता है, वे इन्द्रिय हैं। अथवा अपने-अपने विषय का ज्ञान करने में अहमिन्द्रो के समान अपने को ही स्वामी—अधिकारी माने उन्हे इन्द्रिय कहते है। अथवा जो गूढ-सूक्ष्म आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान कराने मे कारण है उन्हे इन्द्रिय कहते हैं।

३. काय—जिसकी रचना और वृद्धि यथायोग्य औदारिक, वैक्रिय आदि पुद्गल स्कधो से होती है और जो शरीर नामकर्म के

---

१ नारकत्वादिपर्यायपरिणति ।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२७

उदय से निष्पन्न होता है, उसे काय कहते है।[1] अथवा जाति नामकर्म के अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से होने वाली आत्मा की पर्याय को काय कहते है।[2]

४ योग—वीर्य शक्ति के जिस परिस्पन्दन से—आत्मिक प्रदेशो की हलचल से—आत्मा की गमन, भोजन आदि क्रियायें होती हैं[3] और जो परिस्पन्दन शरीर, भाषा, मनोवर्गणा के पुद्गलो की सहायता से होता है, उसे योग कहते है। अथवा पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन, काययुक्त जीवो की जो कर्मों के ग्रहण करने मे कारणभूत शक्ति है, उसे योग कहते हैं।[4]

५ वेद—जिसके द्वारा इन्द्रियजन्य, सयोगजन्य सुख का वेदन किया जाये, उसे वेद कहते है।[5] सयोगजन्य सुख के अनुभव की इच्छा वेद मोहनीयकर्म के उदय से होती है। अथवा वेद मोहनीयकर्म के उदय, उदीरणा से होने वाले जीव के परिणामो का समोह (चचलता) जिससे गुण-दोष का विवेक नही रहता है, वह वेद है।[6]

---

1 यथायोग्यमौदारिकादिवर्गणागणसमूह चीयत इति कायः ।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२७

2 जाई अविणाभावी तसथावरउदयजो हवे काओ । —गो० जीवकांड १८१

3 युज्यते धावनवल्गनादिचेष्टास्वात्माऽनेनेति योगः ।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२७

4 पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स ।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥

—गो० जीवकांड, गा० २१६

5 वेद्यते—अनुभूयते इन्द्रियजं सुखमनेनेति वेदः ।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२७

6 वेदस्सुदीरणाए परिणामस्स य हवेज्ज संमोहो ।
संमोहेण ण जाणदि जीवो हि गुणं व दोसं वा ॥

—गो० जीवकांड, गा० २७२

६. कषाय—कषाय मोहनीयकर्म के उदयजन्य ससार वृद्धि के कारणरूप मानसिक विकारो को कषाय कहते है। किसी पर राग करना, किसी पर द्वेष करना आदि मानसिक विकार है। अथवा कषाय जीव के उस परिणाम को कहते है जिससे सुख-दुःख रूप अनेक प्रकार के फल प्राप्त होते है और ससार रूप विस्तृत सीमा वाले कर्म रूप क्षेत्र का कर्षण किया जाता है।[1] अथवा सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र और यथाख्यातचारित्र का घात करने वाले परिणाम को कषाय कहते है।[2]

७. ज्ञान—सामान्य-विशेषात्मक वस्तु मे से उसके विशेष अश को जानने वाले आत्मा के व्यापार को ज्ञान कहते है।[3] अथवा जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक—भूत, भविष्य और वर्तमान काल संबधी—समस्त द्रव्य और उनके गुणों और पर्यायो को जाने वह ज्ञान है।[4]

८. संयम—सावद्य योगों—पापजनक प्रवृत्तियों—से उपरत हो जाना, अलग हो जाना अथवा पापजनक व्यापार-आरम्भ, समारम्भ से आत्मा को जिसके द्वारा सयमित-नियमित किया जाता है, रोका जाता है, वह सयम कहलाता है।[5]

---

१ सुहदुक्खसु वहुसस्स कम्मक्खेत्त कसेदि जीवस्स ।
ससारदूरमेर तेण कसाओत्ति ण वेति ॥—गो० जीवकाड, गा० २८२

२ सम्मत्तदेससयलचरित्तजहक्खादचरण परिणामे ।
घादति वा कसाया … … ……… ॥—गो० जीवकांड, गा० २८३

३ सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको वोध इत्यर्थ ।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२७

४ जाणइ तिकाल विसए दव्व गुणे पज्जए य वहु भेदे ।
—गो० जीवकांड, गा० २८६

५ सयमन-सम्यगुपरमण सावद्ययोगादिति सयम यद्वा सयम्यते-नियम्यत आत्मा पापव्यापारसम्भारादनेनेति सयम. ।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२७

९ दशन—सामान्य-विशेपात्मक वस्तुस्वरूप मे से वस्तु के सामान्य अश को देखने वाले, जानने वाले चेतना के व्यापार को दशन कहते है।[1] अथवा सामान्य की मुख्यतापूवक विशेष को गौण करके पदाथ के जानने को दशन कहते हैं।[2]

१० लेश्या—जिस परिणाम के द्वारा आत्मा का कर्मा के साथ श्लेषण चिपकना होता है उसे लेश्या कहते हैं।[3] अथवा जो कर्मो से आत्मा को लिप्त करती है, आत्मा और कम का सम्बन्ध होता है वह लेश्या है।

११ भव्यत्व—मोक्ष पाने की योग्यता प्राप्ति को भव्यत्व कहते हैं।[4]

१२ सम्यक्त्व—मोक्ष के अविरोधी आत्मा के परिणाम को सम्यक्त्व कहते हैं।[5] अर्थात् जीवादि पदार्थों का विपरीताभिनिवेश रहित होकर श्रद्धान करना सम्यक्त्व कहलाता है। इस प्रकार की श्रद्धा होने पर आत्मा की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है। प्रशम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिकता ये पाच लक्षण प्राय सम्यग्दृष्टि

---

१ दृश्यते विलोक्यते वस्त्वननेति दशनम् यदि वा दृष्टिदशनम्, सामान्य विशेपात्मके वस्तुनि सामान्यात्मका बोध इत्यथ ।

—चतुथ कमग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२७

२ सामान्य प्रधानमुपसजनीकृत विशेपमथग्रहण दशनमुच्यत ।

—स्याद्वाद मजरी १।१०।२२

३ लिश्यते श्लिष्यते कमणा सहात्माऽनयति लेश्या ।

—चतुथ कमग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १२७

४ भवति—परमपदयोग्यतामासादयतीति भव्य सिद्धिगमनयोग्य ।

—चतुथ कमग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२७

५ प्रशस्तो मोक्षाविरोधी वा प्रशमसवेगादिलक्षण आत्मधम इति ।

—चतुथ कमग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२७

जीव मे पाये जाते है और अन्तर्मुखी परिणति होने से तत्त्व-चिन्तन मे रुचि रहती है।

१३ सज्ञित्व—दीर्घकालिकी सज्ञा की प्राप्ति को सज्ञित्व कहते है।[१]

१४ आहारकत्व—ओज-आहार, लोम-आहार, कवलाहार मे से किसी न किसी आहार को ग्रहण करना आहारकत्व है।[२]

औदारिक आदि तीन शरीर और आहार, शरीर आदि छह पर्याप्तियो के योग्य पुद्गलो के ग्रहण करने को आहार कहते है अथवा उपभोग्य शरीर के योग्य पुद्गलो का ग्रहण आहार कहलाता है।

आहार का लक्षण गो० जीवकाड मे इस प्रकार बतलाया है—

उदयावण्णसरीरोदयेण तद्देहवयणचित्ताणं।
णोकम्मवग्गणाणं गहण आहारय णाम ॥६६४॥

—शरीर नामकर्म के उदय से देह—औदारिक, वैक्रिय, आहारक इनमे से यथासम्भव किसी भी शरीर तथा वचन और द्रव्यमन रूप

---

१ सज्ञान सज्ञा—भूतभवद्भाविभावस्वभाव पर्यालोचन सा विद्यते येपा ते सज्ञिन।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२७

२ ओजआहारलोमाहारकवलाहाराणामन्यतममाहारमाहारयति — गृह्णातीत्याहार।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२८

ओज आहार आदि के लक्षण इस प्रकार है—

सरिरेणोयाहारो तयाइ फासेण लोमआहारो।
पक्खेवाहारो पुण कवलिओ होइ नायव्वो ॥

—प्रवचनसारोद्धार गा० ११८०

गर्भ मे उत्पन्न होने के समय जो शुक्र-शोणित रूप आहार कार्मण शरीर के द्वारा लिया जाता है वह ओज आहार, स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा जो ग्रहण किया जाता है वह लोम और जो अन्न आदि खाद्य मुख द्वारा ग्रहण किया जाता है वह कवल-आहार है।

बनने के योग्य नोकर्मवर्गणाओं का जो ग्रहण होता है, उसको आहार[1] कहते हैं।

इन मार्गणाओं में सम्पूर्ण संसारी जीवों का समावेश हो जाता है। मूल में मार्गणाओं के चौदह भेद हैं, लेकिन संसारी जीवों में विद्यमान विभिन्नतायें अनेक प्रकार की हैं। कोई मनुष्य है तो कोई तिर्यंच (पशु) और कोई देव या नारक योनि का शरीर धारण किये हुए है। गति की अपेक्षा विद्यमान विभिन्नताओं की तरह इन्द्रिय, काय, ज्ञान आदि जन्य विभिन्नतायें भी देखी जाती हैं। इसलिये उन अनेक प्रकार की विभिन्नताओं का समावेश करने एवं बोध कराने के लिये प्रत्येक मार्गणा के अवान्तर भेद कर लिये जाते हैं। गति आदि मार्गणाओं में से प्रत्येक मार्गणा के अवान्तर भेदों के नाम आगे की गाथाओं में कहते हैं।

गति, इन्द्रिय, काय और योग मार्गणा के भेद

सुरनरतिरिनिरयगइ इगबियतियचउपणिंदि छक्काया।
भूजलजलणाऽनिलवणतसा य मणवयणतणुजोगा ॥१०॥

सुर—देव, नर—मनुष्य, तिरि—तिर्यंच निरय—नरक गइ—गति इग—एक बिय—दो, तिय—तीन चउ—चार, पण—पांच, इंदि—इन्द्रिय छक्काया—छह काय, भू—पृथ्वी जल—पानी, जलण—अग्नि (तेउ), अनिल—वायु वण—वनस्पति, तसा—त्रस य—और, मण—मन, वयण—वचन, तणु—काय (शरीर), जोगा—योग।

---

[1] दिगम्बर साहित्य में आहार के छह भेद किए हुए मिलते हैं—

णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओजमणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो ॥
—प्रमेयकमलमार्तण्ड, द्वितीय परिच्छेद

नोकर्माहार, कर्माहार, कवलाहार, लेप्याहार, ओजाहार और मानसाहार, यह आहार के क्रमशः छह भेद होते हैं।

गाथार्थ—देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक यह चार गतियाँ है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय ये पाँच इन्द्रियाँ है। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय ये छह काय है। मनोयोग, वचनयोग और काययोग ये तीन योग हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे गति आदि चौदह मार्गणाओ में से गति, इन्द्रिय, काय और योग इन चार मार्गणाओं के अवान्तर (उत्तर) भेदो के नाम क्रमश वतलाये है। उनके नाम इस प्रकार है—

गति मार्गणा के भेद

'सुरनरतिरिनिरयगइ' इस पद मे गति मार्गणा के भेदो के नाम वतलाये है कि (१) देवगति, (२) मनुष्यगति, (३) तिर्यंचगति और (४) नरकगति, यह गति मार्गणा के चार भेद हैं। देवगति आदि के लक्षण इस प्रकार है—

१. **देवगति**—आभ्यन्तर कारण—देवगति नामकर्म के उदय होने पर नाना प्रकार की वाह्य विभूति से द्वीप, समुद्रादि अनेक स्थानो पर इच्छानुसार क्रीड़ा करते हैं, विशिष्ट ऐश्वर्य का अनुभव करते हैं, दिव्य वस्त्राभूपणो की समृद्धि तथा अपने शरीर की साहजिक काति से जो दीप्तमान रहते है, वे देव कहलाते है तथा देवगति नामकर्म के उदय से होने वाली पर्याय (शरीर का विशिष्ट आकार) जिससे 'यह देव है' ऐसा व्यवहार किया जाता है, उसे देवगति कहते हैं।

२. **मनुष्यगति**—जो मन के द्वारा नित्य ही हेय-उपादेय, तत्त्व-अतत्त्व, आप्त-अनाप्त, धर्म-अधर्म आदि का विचार करते है, कार्य करने मे निपुण हैं, उत्कृष्ट मन के धारक है, विवेकशील होने से न्याय-नीतिपूर्वक आचरण करने वाले है वे मनुष्य हैं और 'यह मनुष्य

है' इस प्रकार का व्यवहार कराने वाली मनुष्यगति नामकर्म की उदयजन्य पर्याय को मनुष्यगति कहते है।

३ तिर्यचगति—जो मन, वचन, काय की कुटिलता को प्राप्त है, जिनकी आहारादि सज्ञाये सुव्यक्त है, निकृष्ट अज्ञानी है, तिरछे गमन करते है और जिनके अत्यधिक पाप की बहुलता पाई जाती है उनको तिर्यंच कहते हैं। तिर्यचगति नामकर्म के उदय से होने वाली जिस पर्याय से जीव तिर्यंच कहलाता है उसे तिर्यंचगति कहते हैं। उपपाद जन्म वालो और मनुष्यो को छोडकर शेष सब जीव तिर्यचगति वाले होते है।

४ नरकगति—जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव मे तथा परस्पर मे रत नही है अर्थात् प्रीति नही रखते है, सदैव हिंसादि कार्यो मे निरत—लगे रहते हैं, जीवो को सदैव कष्ट पहुँचाते रहते हैं, उन्हे नारक कहते हैं तथा नरकगति नामकर्म के उदय से जिस पर्याय को प्राप्त कर जीव 'नारक' कहलाता है, उसे नरकगति कहते हैं।

इन्द्रिय मार्गणा के भेद

गाथा मे 'इगबियतियचउपणिदि' पद से इन्द्रिय मार्गणा के पाँच भेदो के नाम बतलाये हैं। उक्त पाँच भेदो के नाम इस प्रकार है—

(१) एकेन्द्रिय, (२) द्वीन्द्रिय, (३) त्रीन्द्रिय, (४) चतुरिन्द्रिय, (५) पचेन्द्रिय।

१ एकेन्द्रिय—जिन जीवो के एकेन्द्रिय जाति नामकर्म का उदय होता है और सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय पाई जाती है उन्हे एकेन्द्रिय कहते हैं।

२ द्वीन्द्रिय—जिन जीवो के स्पर्शन और रसन यह दो इन्द्रियाँ हैं तथा द्वीन्द्रिय जाति नामकर्म का उदय है उन जीवो को द्वीन्द्रिय कहते हैं।

३. त्रीन्द्रिय—जिस जाति मे त्रीन्द्रिय जाति नामकर्म के उदय से स्पर्शन, रसन और घ्राण यह तीन इन्द्रियाँ हो उसे त्रीन्द्रिय कहते है।

४. चतुरिन्द्रिय—चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्म के उदय से जिन जीवो के स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु यह चार इन्द्रियाँ होती है वे जीव चतुरिन्द्रिय कहलाते है।

५. पचेन्द्रिय—पचेन्द्रिय जीवो के स्पर्शन,रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र यह पॉच इन्द्रियाँ होती है और इन पॉच इन्द्रियो के होने मे निमित्त पचेन्द्रिय जाति नामकर्म है।

काय मार्गणा के भेद

काय मार्गणा के छह भेद होते है—इसका सकेत गाथा मे 'छक्काया' पद से किया गया है और उन छह भेदों के नाम 'भूजल-जलणाऽनिलवणतसा' पद मे गिनाये है कि—

(१) पृथ्वीकाय, (२) जलकाय, (३) अग्निकाय, (४) वायुकाय, (५) वनस्पतिकाय और (६) त्रसकाय, यह कायमार्गणा के छह भेद है।

१. पृथ्वीकाय—पृथ्वी से वनने वाले पार्थिव शरीर को पृथ्वीकाय कहते है।

२. जलकाय—जलीय शरीर जो जल परमाणुओ से वनता है।

३. अग्निकाय—इसको तेजस्काय भी कहते है। इन जीवो का शरीर तेज परमाणुओ से वनता है।

४. वायुकाय—वायु से वनने वाले वायवीय शरीर को वायुकाय कहते है।

५. वनस्पतिकाय—जिन जीवो का शरीर वनस्पतिमय होता है, वह वनस्पतिकाय है।

पृथ्वी आदि का शरीर नामकर्म के उदय से स्व-योग्य रूप, रस,

गंध और स्पर्श से युक्त पृथ्वी आदि में ही बनता है। ये पाँचों काय स्थावर नामकर्म वाले होते हैं।

६ त्रसकाय—जो शरीर चल फिर सकता है और जो त्रस नाम कर्म के उदय से प्राप्त होता है, उसे त्रसकाय कहते हैं।

द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों को त्रस नामकर्म का उदय होता है और वे अपने-अपने प्राप्त शरीर से चल फिर सकते हैं। हिताहित के लिये प्रवृत्ति निवृत्ति रूप क्रिया भी कर सकते हैं। पृथ्वी आदि वनस्पति पर्यन्त के जीव स्थावर कहलाते हैं।

योग मार्गणा के भेद

काय मार्गणा के पश्चात् योग मार्गणा का क्रम है। उसके 'मण वयणतणुजोगा' मनोयोग, वचनयोग और काययोग यह तीन भेद होते हैं। योग का स्वरूप पहले बतला चुके हैं कि मन, वचन और काय के द्वारा होने वाले परिस्पन्दन को योग कहते हैं। मनोयोग आदि के लक्षण नीचे बतलाते हैं।

१ मनोयोग—जीव के उस व्यापार को मनोयोग कहते हैं जो औदारिक, वैक्रिय या आहारक शरीर के द्वारा ग्रहण किये हुए मन प्रायोग्य वर्गणा की सहायता से होता है। अथवा काययोग के द्वारा मन प्रायोग्य वर्गणाओं को ग्रहण करके मनोयोग में मन रूप परिणत हुए वस्तुविचारात्मक द्रव्य को 'मन'[1] कहते हैं और उस मन के सहकारी कारणभूत योग को मनोयोग कहते हैं।[2] अथवा जिस योग का

---

१ श्वेताम्बर सम्प्रदाय के मतानुसार द्रव्यमन को शरीरव्यापी और शरीराकार समझना चाहिये। दिगम्बर सम्प्रदाय में द्रव्यमन का स्थान हृदय और आकार कमल जैसा माना है।

२ तनुयोगेन मनःप्रायोग्यवर्गणाभ्यो गृहीत्वा मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणमितानि वस्तुचिन्तात्मककानि द्रव्याणि मन इत्युच्यते, तेन मनसा सहकारिकारणभूतेन योगो मनोयोगः। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १२८

विपय मन है उसे मनोयोग कहते है। अथवा मनोवर्गणा से निष्पन्न हुए द्रव्यमन के अवलवन से जीव का जो सकोच-विकोच होता है, वह मनोयोग है।[1]

२. वचनयोग—जीव के उस व्यापार को वचनयोग कहते हैं जो औदारिक, वैक्रिय या आहारक शरीर की क्रिया द्वारा सचय किये हुए भापा द्रव्य की सहायता से होता है। अथवा भापा-परिणामरूपता को प्राप्त हुए पुद्गलसमूह को वचन कहते है और उस सहकारी कारणभूत वचन के द्वारा होने वाले योग को वचनयोग कहते है[2] या वचन को विपय करने वाले योग को वचनयोग कहते है। अथवा भापा-वर्गणा सवधी पुद्गल स्कधो के अवलम्बन से जो जीव-प्रदेशो का सकोच-विकोच होता है उसे वचनयोग कहते है।[3]

३. काययोग—शरीरधारी आतमा की शक्ति के व्यापार-विशेप को काययोग कहते है। अथवा जिसमे आत्म-प्रदेशो का सकोच-विस्तार हो, उसे तनु—शरीर, काय कहते है और उसके द्वारा होने वाले योग को काययोग कहते है। अथवा औदारिकादि सात प्रकार के कायो मे जो अन्वयरूप से रहता है उसे सामान्य काय कहते है और उस काय से उत्पन्न हुए आत्म-प्रदेशपरिस्पन्द लक्षण वीर्य (शक्ति) के द्वारा जो योग होता है वह काययोग है।

---

१ मणवग्गणादोणिप्पण्णदव्वमणमवलब्भिय जो जीवस्स सकोचविकाचो सो मणजोगो। —धवला टीका ७।२, १, ३३।७६।६

२ उच्यत इति वचन भापापरिणामापन्न. पुद्गलद्रव्यसमूह इत्यर्थ, तेन वचनेन सहकारिकारणभूतेन योगो वचनयोग।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२८

३ भासावग्गणा पोग्गलखधे अवलम्बिय जीवपदेसाण सकोचविकाचो सो वचिजोगो णाम। —धवला ७।२, १, ३३।७६।७

तत्त्वार्थराजवार्तिक में मन, वचन और काय इन तीनों योगों की बाह्य और आभ्यन्तर कारण दिखाकर बहुत ही स्पष्ट व्याख्या की गई है। जो इस प्रकार है—

मनोयोग—बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से होने वाला जो मनन के अभिमुख आत्मा का प्रदेशपरिस्पन्द, वह मनोयोग है। इसका बाह्य कारण मनोवर्गणा का आलम्बन और आभ्यन्तर कारण वीर्यान्तराय कर्म का क्षय, क्षयोपशम तथा नोइन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम है।

वचनयोग—बाह्य और आभ्यन्तर कारणजन्य आत्मा का भाषाभिमुख प्रदेशपरिस्पन्द वचनयोग है। इसका बाह्य कारण पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से होने वाला वचन वर्गणा का अवलम्बन और अन्तरंग कारण वीर्यान्तराय कर्म तथा मतिज्ञानावरण और अक्षरश्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम है।

काययोग—बाह्य और आभ्यन्तर कारणजन्य आत्मा का गमनादि सम्बन्धी प्रदेशपरिस्पन्द काययोग है। इसका बाह्य कारण औदारिक आदि किसी न किसी प्रकार की शरीर वर्गणा का आलम्बन और अन्तरंग कारण वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम है।[1]

---

१ पुद्गलविपाकिनः शरीरनामकर्मण उदयापादित कायवाङ्मनोवर्गणान्यतमालम्बने सति वीर्यान्तरायमत्यक्षराद्यावरण क्षयोपशमापादिताभ्यन्तरवाग्लब्धि सान्निध्ये वाक्परिणामाभिमुखस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पन्दो वाग्योगः॥

अभ्यन्तरवीर्यान्तराय नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमात्मकमनोलब्धि सन्निधाने बाह्यनिमित्तालम्बने च सति मनःपरिणामाभिमुखस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पन्दो मनोयोगः।

वीर्यान्तरायक्षयोपशमसद्भावे औदारिकादि सप्तविधकाय वर्गणान्यतमालम्बनापेक्ष आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः काययोगः।

—तत्त्वार्थसूत्र ६।१ तत्त्वार्थराजवार्तिक टीका

मनोयोग, वचनयोग और काययोग के उक्त लक्षणों के आधार पर जिज्ञासु तर्क करता है कि मनोयोग और वचनयोग यह दोनो काय-योग ही है, क्योकि इन दोनों योगो के समय शरीर का व्यापार अवश्य रहता है तथा इन दोनो योगो के अवलबनभूत मनोद्रव्य तथा भापा-द्रव्य का ग्रहण भी किसी न किसी प्रकार के शारीरिक योग से ही होता है।

जिज्ञासु के उक्त तर्क का समाधान यह है कि मनोयोग और वचनयोग काययोग से पृथक् नही हैं किन्तु काययोगविशेष है। मनोयोग और वचनयोग के व्यापार मे काययोग सहकारी कारण है, क्योकि जो काययोग मनन करने मे सहायक होता है वही उस समय मनोयोग माना जाता है और जो काययोग भापा बोलने मे सहकारी होता है वह उस समय वचनयोग कहलाता है। इसका सारांश यह है कि मुख्यता काययोग की है किन्तु काययोग की सहायता से होने वाले भिन्न-भिन्न व्यापार को व्यवहार के लिये काययोग के मनोयोग, वचनयोग और काययोग यह तीन भेद किये जाते है।

उक्त समाधान पर पुन प्रश्न होता है कि जैसे मनन करने मे, वचन बोलने मे सहायक काययोग को मनोयोग और वचनयोग कहा जाता है, वैसे ही श्वासोच्छ्वास मे सहायक होने वाले काययोग को श्वासोछ्वासयोग कहना चाहिए और तब तीन की बजाय चार योग मानना चाहिये। इस प्रश्न का यह समाधान है कि व्यवहार मे मन और भापा का जैसा विशिष्ट प्रयोजन दिखता है वैसा श्वासोच्छ्वास का नही। यानी—शरीर, मन, वचन का प्रयोजन जैसा भिन्न और विशिष्ट है वैसा श्वासोच्छ्वास और शरीर का प्रयोजन भिन्न नही है। इसीलिये तीन ही योग माने जाते है।

इस प्रकार से गति से लेकर योग मार्गणा तक के अवान्तर भेदो के नामो को वतलाकर अव आगे की गाथा मे वेद, कपाय और ज्ञान मार्गणाओ के भेदो को कहते है।

वेद, कषाय और ज्ञान मार्गणा के भेद

वेय नरित्थिनपुंसा कसाय कोहमयमायलोभ त्ति ।
मइसुयऽवहिमणकेवलविभंगमइसुअनाण सागारा ॥११॥

शब्दार्थ—वेय—वेद, नरित्थिनपुंसा—पुरुष, स्त्री नपुंसक, कसाय—कषाय, कोह—क्रोध, मय—मान, माय—माया, लोभ—लोभ, त्ति—इस प्रकार मइसुयऽवहिमणकेवल—मति, श्रुत अवधि, मनपर्याय, केवल, विभंग—विभंग (कुअवधि), मइसुअनाण—मति श्रुत अज्ञान, सागारा—साकार उपयोग।

गाथार्थ—पुरुष, स्त्री और नपुंसक ये तीन वेद हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ ये कषाय के चार भेद हैं। मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय, केवलज्ञान तथा विभंगज्ञान, मतिअज्ञान और श्रुतअज्ञान यह आठ भेद ज्ञान के हैं।

विशेषार्थ—गाथा में वेद मार्गणा के तीन, कषाय मार्गणा के चार और ज्ञान मार्गणा के आठ भेदों के नाम बतलाये हैं। जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

वेद मार्गणा के तीन भेद—(१) पुरुषवेद, (२) स्त्रीवेद, (३) नपुंसकवेद।

कषाय मार्गणा के चार भेद—(१) क्रोध कषाय, (२) मान कषाय, (३) माया कषाय और (४) लोभ कषाय।

ज्ञान मार्गणा के आठ भेद—(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनपर्यायज्ञान, (५) केवलज्ञान, (६) मतिअज्ञान, (७) श्रुतअज्ञान, (८) अवधिअज्ञान (विभंगज्ञान)। इन वेद आदि मार्गणाओं के भेदों के लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

वेद मार्गणा के भेद

१ पुरुषवेद—स्त्री के संग की इच्छा को पुरुषवेद कहते हैं।[1]

---

१ तत्र—पुरुषस्य स्त्रियं प्रति अभिलाषो नरवेदः ।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२९

अपेक्षा होने वाले अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण आदि चार प्रकारो को न करके जाति की अपेक्षा बनने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ यह चार भेद किये गये हैं जिनके लक्षण इस प्रकार है—

१. क्रोध—अतरंग मे परम उपशम रूप अनत गुण वाली आत्मा मे क्षोभ तथा बाह्य विषय मे अन्य पदार्थों के सम्बन्ध से क्रूरता, आवेग रूप विकार उत्पन्न होने को क्रोध कहते हैं अथवा अपने और पर का उपघात या अनुपकार आदि करने वाला क्रूर परिणाम क्रोध कहलाता है।

क्रोध, रोप, सरम्भ यह तीनो समानार्थवाची है। इनके अर्थ मे कोई अन्तर नही है।

२. मान—जिस दोप से दूसरे के प्रति नमने की वृत्ति न हो, छोटे-बड़े के प्रति उचित नम्रभाव न रखा जाता हो, जाति, कुल, तप आदि के अहकार से दूसरे के प्रति तिरस्कार रूप वृत्ति हो, उसे मान कहते है।

मान, गर्व, स्तब्धत्व ये एकार्थवाची शब्द है।

३. माया—आत्मा के कुटिल भाव को माया कहते हैं। दूसरे को ठगने के लिये जो कुटिलता या छल आदि किये जाते हैं, अपने हृदय के विचारो को छिपाने की जो चेष्टा की जाती है, वह माया है।

४. लोभ—धन आदि की तीव्र आकाक्षा या गृद्धि को, बाह्य पदार्थो मे 'यह मेरा है' इस प्रकार की अनुराग बुद्धि को लोभ कहते है।

चार भेद कर्मग्रन्थ और गो० जीवकाड (दिगम्बर ग्रन्थ मे) समान है किन्तु गो० जीवकाड मे लेश्या और आयु बन्धाबन्ध की अपेक्षा क्रमश: चौदह-चौदह और बीस-बीस भेद भी बतलाये है। उन भेदो का वर्णन परिशिष्ट मे किया गया है। श्वेताम्बरीय ग्रन्थो मे इनका वर्णन देखने मे नही आया है।

ज्ञान मार्गणा के भेद

ज्ञान मार्गणा के मतिज्ञान आदि विभंगज्ञान पर्यन्त आठ भेद होते हैं। इन भेदों में मतिज्ञान आदि केवलज्ञान पर्यन्त पाँच सम्यक्ज्ञानों के साथ उनके प्रतिपक्षी कुमति, कुश्रुत और कुअवधि (विभंगज्ञान) इन तीन अज्ञानों को इसलिये ग्रहण किया जाता है कि ये भी ज्ञान की एक अवस्था विशेष हैं तथा मिथ्यात्व सहित होने से इनके द्वारा पदार्थ का सम्यक्ज्ञान न होकर विपरीत ज्ञान रूप कार्य होता है। मतिज्ञान आदि के लक्षण इस प्रकार हैं—

१ मतिज्ञान—इन्द्रिय और मन के द्वारा यथायोग्य स्थान में अवस्थित वस्तु के होने वाले ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं।[1] अधिकतर यह ज्ञान वर्तमान कालिक विषयों को जानता है।

२ श्रुतज्ञान—जो ज्ञान श्रुतानुसारी है, जिसमें शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भासित होता है, जो मतिज्ञान के बाद होता है तथा शब्द व अर्थ की पर्यालोचना के अनुसरणपूर्वक इन्द्रिय व मन के निमित्त से होने वाला है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।[2] जैसे जल शब्द सुनकर यह जानना कि यह शब्द पानी का बोधक है अथवा पानी को देखकर यह विचारना कि यह जल शब्द का अर्थ है। इसी प्रकार से उसके बारे में अन्य-अन्य बातों का विचार करना श्रुतज्ञान कहलाता है।

३ अवधिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा न रख साक्षात् आत्मा के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादापूर्वक

---

[1] मननं मतिः—इन्द्रियमनोद्वारेण नियतं वस्तु परिच्छिद्यतेऽनयेति मतिः— योग्यदेशावस्थितवस्तुविषय इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेषः।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १२६

[2] श्रवणं श्रुतम्—शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेषः।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२६

पदार्थ का ग्रहण करना अवधिज्ञान कहलाता है। अथवा रूपी पदार्थों को विषय करने वाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं।[1]

४. मनपर्यायज्ञान—मन की पर्यायों को जानने वाले ज्ञान को मनपर्यायज्ञान कहते हैं। अथवा संज्ञी जीवों की मन की पर्यायों—चिंतनगत परिणामों को जानना मनपर्याय ज्ञान कहलाता है।[2] इस ज्ञान के होने मे इन्द्रिय और मन की सहायता की नही किन्तु आत्मा के विशिष्ट क्षयोपशम की अपेक्षा होती है।

५. केवलज्ञान—ज्ञानावरण कर्म का नि.शेष रूप से क्षय हो जाने पर जिसके द्वारा भूत, वर्तमान और भावी त्रैकालिक सब वस्तुएँ जानी जाती हैं उसे केवलज्ञान कहते है।[3] यह ज्ञान परिपूर्ण अव्याघाती, असाधारण, अनन्त, स्वतत्र और अनन्तकाल तक रहने वाला होता है। केवलज्ञान की उत्पत्ति क्षयोपशमजन्य मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय छाद्मस्थिक ज्ञानों के क्षय होने पर होती है। इसीलिये इस ज्ञान को केवल, एक, असहायी ज्ञान कहते हैं।[4]

---

१ अवधानमवधि—इन्द्रियाद्यनपेक्षमात्मन साक्षादर्थग्रहणम् यद्वा अवधि.—मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षित ज्ञानमप्यवधि, अवधिश्च तद् ज्ञानम् च अवधिज्ञानम्।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १२६

२ परि—सर्वतोभावे अवनमव., अवन गमन वेदनमिति पर्याया.। मनसि मनसो वा पर्यवो मन पर्यव: सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थ, मन पर्यवश्च तद् ज्ञान च मन पर्यव ज्ञानम्। यद्वा मन पर्यायज्ञानम्·· तेषा (सज्ञि जीवानाम्) मनसा पर्याया.—चिन्तनानुता परिणामा—मन पर्याया: तेषु तेषा व सबन्धि ज्ञान मन पर्याय ज्ञानम्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १२६

३ शुद्ध वा केवल तदावरणमलकलकपकापगमात्······ यथावस्थित समस्त भूतभवद्भाविभावावभासि ज्ञानमिति।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका: पृ० १२६

४ केवल—एक मत्यादिरहितत्वात् 'नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे'

—आवश्यक निर्युक्ति, गा० ५३६

६ मतिअज्ञान—मिथ्यादर्शन के उदय से होने वाले विपरीत मति उपयोग को मति-अज्ञान कहते हैं। जैसे घट आदि को एकात सद्‌रूप या असद् रूप ही मानना।

७ श्रुतअज्ञान—मिथ्यात्व के उदय से सहचरित श्रुतज्ञान को श्रुत-अज्ञान कहते हैं। चौरशास्त्र, हिंसाशास्त्र आदि हिंसादि पाप कर्मो के विधायक तथा असमीचीन तत्त्व के प्रतिपादक ग्रथ कुश्रुत और उनका ज्ञान श्रुत-अज्ञान कहलाता है।

८ अवधि-अज्ञान—इसको विभगज्ञान भी कहते हैं। मिथ्यात्व के उदय से रूपी पदार्थों के विपरीत अवधिज्ञान को अवधिअज्ञान (विभगज्ञान) कहते हैं।[1]

मति, श्रुत और अवधि इन तीन के मिथ्यारूप भी होने का कारण यह है कि जिस समय मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय होता है तब पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का बोध नही हो पाता है तथा वस्तु स्वरूप का विपरीत या निरपेक्ष ज्ञान होता है और अवस्तु मे वस्तु तथा वस्तु मे अवस्तु रूप बुद्धि होती है।

सम्यग्दृष्टि के ज्ञान को ज्ञान कहते है, क्योकि वह प्रत्येक वस्तु को अनेकान्त दृष्टि से देखता है और उसका ज्ञान हेय-उपादेय की बुद्धि से युक्त होता है। लेकिन मिथ्यादृष्टि का ज्ञान व्यवहार मे समीचीन होने पर भी प्रत्येक वस्तु को एकात दृष्टि से जानने वाला होता है। उसके ज्ञान मे हेय उपादेय का विवेक नही होता है।

मनपर्याय और केवल यह दो ज्ञान सम्यक्त्व के सद्‌भाव मे ही होते हैं। इसलिये यह दोनो अज्ञान रूप नही है।

मतिज्ञान आदि आठ प्रकार के ज्ञान साकार इसलिये कहलाते हैं कि ये वस्तु के प्रतिनियत आकार को ग्रहण करने वाले हैं। यानी

---

१ वि—विशिष्टस्य अवधिज्ञानस्य भग विपर्यय इति विभग ॥

ज्ञेय पदार्थ सामान्य-विशेपात्मक उभयरूप है। उनमे ज्ञान के द्वारा विशेपरूप (विशेप आकार) जाना जाता है।

इस गाथा मे वेद, कपाय और ज्ञान मार्गणा के भेदो का निरूपण करने के पश्चात आगे की गाथा मे सयम और दर्शन मार्गणा के भेदो की सख्या वतलाते है।

सयम और दर्शन मार्गणा के भेद

सामइय छेय परिहार सुहुम अहखाय देस जय अजया।
चक्खु अचक्खू ओही केवलदंसण अणागारा ॥१२॥

शब्दार्थ—**सामइय**—सामायिक, **छेय**—छेदोपस्थापनीय, **परिहार**—परिहारविशुद्धि, **सुहुम**—सूक्ष्मसपराय, **अहखाय**—यथाख्यात, **देसजय**—देशविरति, **अजया**—अविरति, **चक्खु**—चक्षुदर्शन, **अचक्खू**—अचक्षुदर्शन, **ओही**—अवधिदर्शन, **केवलदसण**—केवलदर्शन, **अणागारा**—अनाकारोपयोग।

गाथार्थ—सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसपराय, यथाख्यात, देशविरति, और अविरति यह सयम के सात भेद है तथा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ये चार अनाकार उपयोग है।

विशेषार्थ—गाथा के पहले चरण मे सयम मार्गणा के सामायिक आदि सात भेदो के नाम तथा दूसरे चरण मे चक्षुदर्शन आदि दर्शन मार्गणा के चार भेदो के नाम वतलाये है।

संयम मार्गणा के भेद

सयम मार्गणा के सात भेद है। जिनके नाम इस प्रकार है—(१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापनीय, (३) परिहारविशुद्धि, (४) सूक्ष्म-सपराय, (५) यथाख्यात, (६) देशविरति, (७) अविरति।

१ **सामायिक**—रागद्वेप के अभाव को समभाव कहते है और जिस सयम से समभाव की प्राप्ति हो वह सामायिक सयम कहलाता

है।[1] अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र को सम कहते है और उनकी आय—लाभ प्राप्ति होने को समाय तथा समाय के भाव को अथवा समाय को सामायिक कहते हैं।[2]

सामायिक के दो भेद है—१ इत्वर, २ यावत्कथित। इत्वर सामायिक वह है जो अभ्यासार्थी शिष्यों को स्थिरता प्राप्त करने के लिए पहले पहल दिया जाता है और जिसकी काल-मर्यादा उपस्थापन पर्यन्त—बडी दीक्षा लेने तक—मानी जाती है। यह सयम भरत और ऐरावत क्षेत्र मे प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शासन के समय ग्रहण किया जाता है। इसके धारण करने वालो को प्रतिक्रमण सहित अहिंसा, सत्य आदि पाच महाव्रत अगीकार करने पडते है तथा इसके स्वामी स्थितकल्पी[3] होते हैं।

यावत्कथित सामायिक सयम वह है जो ग्रहण करने के समय से जीवनपर्यन्त पाला जाता है। यह सयम भरत और ऐरावत क्षेत्र मे मध्यवर्ती दो से लेकर तेईस तीर्थंकर पयन्त बाईस तीर्थंकरो के शासन मे ग्रहण किया जाता है। इस सयम को धारण करने वाला के महाव्रत चार और कल्प स्थितास्थित होता है।

२ छेदोपस्थापनीय सयम—पूर्व सयम पर्याय को छेदकर फिर स

---

१ सम रागद्वेषविप्रमुक्तो य सर्वभूतान्यात्मवत् पश्यति, आयो लाभ प्राप्ति रिति पर्याया समस्य आय समाय समाय एव सामायिक।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १३०

२ समाना—ज्ञानदर्शनचारित्राणामाय —लाभ समाय समाय एव सामायिक।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १३०

३ आचलक्य औद्देशिक, शय्यातरपिण्ड राजपिण्ड कृतिकर्म, व्रत ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मास और पर्युषणा—इन दश कल्पो मे जो स्थित है वे स्थित कल्पी और शय्यातरपिण्ड व्रत, ज्येष्ठ तथा कृतिकर्म इन चार नियमो मे स्थित तथा शेष छह कल्पो मे जो अस्थित होते हैं वे स्थितास्थितकल्पी कहलाते हैं।

—आवश्यक हरिभद्री वृत्ति पृ० ७९०

उपस्थापन (व्रतारोपण) करना छेदोपस्थापनीय सयम कहलाता है।[1] इसका आशय यह है कि पहले जितने समय तक संयम का पालन किया हो उतने समय को व्यवहार मे न गिनकर दुवारा सयम ग्रहण करने के समय से दीक्षाकाल गिनना व छोटे-वड़े का व्यवहार करना छेदोपस्थापनीय सयम है। इसके (१) सातिचार और (२) निरतिचार यह दो भेद होते है।

सातिचार छेदोपस्थापनीय सयम उसे कहते हैं जो किसी कारण से मूलगुणो—महाव्रतों का भग हो जाने पर फिर से ग्रहण किया जाता है।

निरतिचार छेदोपस्थापनीय सयम उसको कहते है जिसको इत्वर सामायिक सयम वाले वड़ी दीक्षा के रूप मे ग्रहण करते हैं। यह सयम भरत, ऐरावत क्षेत्र मे प्रथम और चरम तीर्थंकर के साधुओ को होता है और एक तीर्थ के साधु जव दूसरे तीर्थ मे सम्मिलित होते है तव ग्रहण करते है। जैसे कि पार्श्वनाथ के केशी आदि श्रमण जव भगवान महावीर के तीर्थ मे सम्मिलित हुए थे तव पुनर्दीक्षा रूप मे इसी सयम को ग्रहण किया था। यह छेदोपस्थापनीय सयम भरत और ऐरावत क्षेत्र मे पहले और अन्तिम तीर्थंकर के समय मे ही होता है।

३. **परिहारविशुद्धि संयम**—परिहार का अर्थ है तपोविशेप और उस तपोविशेप से जिस चारित्र मे विशुद्धि प्राप्त की जाती है उसे परिहारविशुद्धि संयम कहते है।[2] अर्थात् जिसमे परिहारविशुद्धि

---

१ तत्र पूर्वपर्यायस्य छेदेनोपस्थापना महाव्रतेष्वारोपण यत्र चारित्रे तत् छेदोपस्थापनम्। —**चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १३०**

२ परिहरण परिहारस्तपोविशेपस्तेन विशुद्धिर्यस्मिश्चारित्रे तत् परिहारविशुद्धिकम्। —**चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १३१**

नामक तपस्या की जाती है वह परिहारविशुद्धि संयम कहलाता है। इसके दो भेद हैं—

(१) निर्विश्यमान, (२) निर्विष्टकायिक।

परिहारविशुद्धि संयम को धारण करने वाले निर्विश्यमान और उस संयम के धारकों की सेवा करने वाले निर्विष्टकायिक कहलाते हैं।

परिहारविशुद्धि तपस्या का विधान संक्षेप में इस प्रकार है[1]—

नौ साधुओं का गण (समुदाय) होता है। जिसमें से चार इस तप का आचरण करने वाले तथा शेष रहे पांच में से चार उनके परिचारक और एक वाचनाचार्य बनते हैं। तपस्या करने वाले ग्रीष्मकाल में जघन्य एक, मध्यम दो और उत्कृष्ट तीन उपवास तथा शीतकाल में जघन्य दो, मध्यम तीन और उत्कृष्ट चार उपवास तथा वर्षा ऋतु में जघन्य तीन, मध्यम चार और उत्कृष्ट पाँच उपवास करते हैं। यह क्रम छह मास तक चलता है और पारणे के दिन अभिग्रह सहित 'आयंबिल व्रत'[2] करते हैं। परिचारक पद ग्रहण करने वाले सदा आयंबिल ही करते हैं।

दूसरे छह महीनों में तपस्या करने वाले तो परिचारक बनते हैं और परिचारक तपस्वी। ये भी पूर्व तपस्वियों की तरह तपाचरण करते हैं।

---

१ इस तपस्या की विधि प्रवचनसारोद्धार गाथा ६०२ से ६०६ में बतलाई है। परिहारविशुद्धि संयम के धारक आदि का विशद वर्णन चतुर्थ कर्म ग्रन्थ की स्वोपज्ञ टीका पृ० १३२–१३७ में किया गया है। संक्षिप्त विवरण परिशिष्ट में देखिए।

२ आयंबिल एक प्रकार का व्रत है जिसमें विगय—घी दूध आदि रस छोड़ कर केवल दिन में एक बार अन्न खाया जाता है तथा गरम किया हुआ (प्रासुक) पानी पिया जाता है। —आवश्यक निर्युक्ति, गा० १६०३

दूसरे छह माह के वाद तीसरे छह माह के लिये वाचनाचार्य ही तपस्वी वनते है और शेप आठ साधुओ मे से सात परिचारक और एक वाचनाचार्य वनते है। इस प्रकार तीसरे छह माह पूर्ण होने के वाद अठारह माह की यह परिहारविशुद्धि तपस्या[1] पूर्ण होती है।

---

१ इस सयम का अधिकारी वनने के लिये गृहस्थ पर्याय (उम्र) का जघन्य प्रमाण २९ वर्ष तथा साधु पर्याय (दीक्षाकाल) का जघन्य प्रमाण २० वर्ष और दोनो का उत्कृष्ट प्रमाण कुछ कम पूर्व कोटि वर्ष माना है—

एयस्स एस नेओ गिहिपरियाओ जहन्नि गुणतीसा ।
जइपरियाओ वीसा दोसु वि उक्कोस देसूणा ।

—पंचवस्तुक, गा० १४९४

इस सयम के अधिकारी को साढे नौ पूर्व का ज्ञान होता है। श्री जयसोमसूरि ने अपने टवे मे लिखा है कि इसका ग्रहण तीर्थंकर या तीर्थंकर के अन्तेवासी के पास होता है। इस सयम के धारक मुनि दिन के तीसरे पहर मे भिक्षा व विहार कर सकते है और अन्य समय मे ध्यान, कायोत्सर्ग आदि।

दिगम्वर साहित्य मे इसके वारे मे थोडा-सा मतभेद है। उसमे तीस वर्ष की उम्र वाले को इस सयम का अधिकारी माना है और नौ पूर्व का ज्ञान आवश्यक वताया है। तीर्थंकर के सिवाय और किसी के पास इस सयम को ग्रहण करने की मनाई की है तथा तीन सध्याओ को छोडकर दिन के किसी भाग मे दो कोस जाने की सम्मति दी है—

तीस वासो जम्मे वासुपुधत्त खु तित्थयरमूले ।
पच्चक्खाण पढिदो सझूण दुगाउय विहारो ॥

—गो० जीवकाण्ड, गा० ४७३

जन्म से लेकर तीस वर्ष तक सदा सुखी रहकर पुन दीक्षा ग्रहण करके श्री तीर्थंकर भगवान के पादमूल मे आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक नौवे पूर्व का अध्ययन करने वाले जीव को यह सयम होता है। इस सयम वाला तीन सध्याकालो को छोड कर प्रतिदिन दो कोस पर्यन्त गमन करता है।

इसके बाद वे जिनकल्प ग्रहण करते है, अथवा अपने पूर्व के गच्छ मे लौट जाते हैं या पुनः वैसी ही तपस्या प्रारम्भ कर देते हैं।

४ सूक्ष्मसम्पराय संयम—जिन क्रोधादि कषायो द्वारा संसार मे परिभ्रमण होता है, उनको संपराय कहते हैं। जिस संयम मे संपराय (कषाय) का उदय सूक्ष्म (अति स्वल्प) रहता है, वह सूक्ष्म संपराय संयम है।[1] इसमे लोभ कषाय का उदयमात्र होता है और यह सूक्ष्मसंपराय नामक दसवें गुणस्थान मे होता है। (१) संक्लिश्यमानक और (२) विशुद्धयमानक—सूक्ष्म संपराय संयम के दो भेद हैं।[2] उपशम-श्रेणि से गिरने वाला को दसवें गुणस्थान की प्राप्ति के समय होने वाला संयम 'संक्लिश्यमानक सूक्ष्मसंपराय संयम' है। क्योंकि पतन होने के कारण उस समय परिणाम संक्लेश प्रधान ही होते जाते हैं। लेकिन 'विशुद्धयमानक सूक्ष्मसंपराय संयम' उपशमश्रेणि या क्षपकश्रेणी का आरोहण करने वाला को दसवें गुणस्थान मे होता है। क्योंकि श्रेणि आरोहण के समय के परिणाम विशुद्धि प्रधान ही होते हैं।

५ यथाख्यात संयम—जिस संयम मे कषाय का उदय लेशमात्र भी नही है। समस्त मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय से जैसा आत्मा का स्वभाव है उस अवस्था रूप जो वीतराग संयम होता है उसे यथाख्यात संयम कहते हैं।[3] इसके छाद्मस्थिक और अछाद्मस्थिक

---

१ सम्परैति—पर्यटति संसारमनेनेति संपराय क्रोधादि कषाय सूक्ष्मो लोभांश-मात्रावशेषतया सम्परायो यत्र तत् सूक्ष्मसम्परायम्।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १३७

२ इदमपि संक्लिश्यमानकविशुद्धयमानकभेदात् द्विधा। तत्र श्रेणिप्रच्यवमानस्य संक्लिश्यमानकम् श्रेणिमारोहता विशुद्धयमानकमिति।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १३७

३ उवसंते खीणे वा असुहे कम्मम्मि मोहणीयम्मि।
छउमत्थो व जिणो वा अहक्खाओ संजओ साहू॥ —पंचसंग्रह १।१३३

(केवली) यह दो भेद है। यथाख्यात सयम के इन दो भेदो का कारण मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय तथा चारो घाति कर्मों का क्षय होकर आत्मा के स्वरूप में अवस्थित होने रूप दशा की प्राप्ति होना है।

छाद्मस्थिक यथाख्यात सयम उसे कहते है जो ग्यारहवें और वारहवे गुणस्थान वालो को होता है। ग्यारहवे गुणस्थानो मे तो मोहनीय कर्म (कपायो) का उपशम हो जाने से उदय नही रहता है, उसकी सत्ता मात्र रहती है, किन्तु वारहवें गुणस्थान मे मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने से कपायो की सत्ता भी नही रहती है। ग्यारहवे, वारहवे गुणस्थान मे यद्यपि मोहनीय कर्म नही है किन्तु अन्य छद्मो (घातिकर्मों) के रहने से इन दोनो गुणस्थानवर्ती जीवो के चारित्र को छाद्मस्थिक यथाख्यात सयम कहते हैं।

अछाद्मस्थिक यथाख्यात सयम केवलियो को होता है। क्योकि केवली को छद्मो (चार घातिकर्मों) का सर्वथा क्षय हो जाने से अछाद्मस्थिक दशा की प्राप्ति हो जाती है। केवली के दो भेद हैं— सयोगिकेवली और अयोगिकेवली। अतः इस अछाद्मस्थिक यथाख्यात सयम के भी सयोगिकेवली यथाख्यात और अयोगिकेवली यथाख्यात यह दो भेद हो जाते हैं। सयोगिकेवली के संयम को सयोगि-केवली यथाख्यात और अयोगि-केवली के सयम को अयोगि-केवली यथाख्यात कहते हैं।

६. **देशविरति संयम**—कर्मवधजनक आरभ-समारंभ से आशिक निवृत्त होना, निरपराध त्रस जीवो की संकल्पपूर्वक हिंसा न करना देशविरति संयम कहलाता है।[1] इसके अधिकारी सम्यग्दृष्टि श्रावक (गृहस्थ) हैं।

---

१ देशे—सकल्पनिरपराध त्रसवव विपये यत—यमन सयमो यस्य स देशयत, सम्यग्दर्शनयुत एकाणुव्रतादिधारी अनुमतिमात्रश्रावक इत्यर्थः।

—**चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १३७**

सावद्य योगो से पूर्णतया निवृत्त होना अथवा पापरूप व्यापार—आरभ-समारभ से आत्मा को नियन्त्रित करना, रोकना अथवा पच महाव्रतो जो यम कहलाते हैं, का पालन करना सयम कहलाता है। मुनि तो सावद्य योगो से पूर्णतया निवृत्त और अहिंसा आदि पाच महाव्रतो का पालन करने वाले होने से सब प्रकार की हिंसा आदि से मुक्त हैं किन्तु श्रावक मर्यादा सहित सयम का पालन करने वाले, अहिंसा अणुव्रत आदि श्रावक के बारह व्रतो के धारक होने से आशिक त्यागी, देशविरति सयमी कहलाते हैं।

सयम पालन की इस मर्यादा भिन्नता के कारण मुनि की अहिंसा (जीवदया) परिपूर्ण कही जाती है किन्तु श्रावक की नही। क्योकि समर्यादित व्रतो का पालन करने वाले होने से श्रावक की अहिंसा का प्रमाण आशिक (बहुत कम) होता है। यदि मुनियो की अहिंसा बीस विस्वा मानें तो श्रावक की सवा विस्वा होती है।

इस बात को शास्त्रो मे स्पष्ट करते हुए कहा है—साधु सूक्ष्म और बादर दोनो प्रकार के जीवो की हिंसा नही करते हैं किन्तु श्रावको के सूक्ष्म जीवो की अहिंसा—दया का पालन नही कर पाने से मुनियो की बीस विस्वा अहिंसा की अपेक्षा आधा परिमाण रह जाता है यानी श्रावक की अहिंसा दस विस्वा रह जाती है। बादर जीवो की हिंसा—विराधना भी सकल्प, आरभ इन दो प्रकारो से होती है। इनमे से श्रावक सकल्पी हिंसा का त्याग कर सकते हैं आरभजन्य हिंसा का नही। अतएव उस आधे (दस विस्वा) मे से भी आधा भाग निकल जाने पर पाँच विस्वा दया बाकी रहती है। सकल्प के भी दो प्रकार हैं—अपराधी सम्बन्धी और निरपराधी सम्बन्धी। इनमे से श्रावक अपराधी सम्बन्धी सकल्पी हिंसा का त्याग नही कर सकते हैं। जिससे ढाई विस्वा दया रहती है। निरपराधी जीव भी दो प्रकार के हैं—सापेक्ष और निरपेक्ष। इसमे से श्रावक निरपेक्ष जीवो की हिंसा का

त्याग कर सकते है सापेक्ष जीवो की नहीं, जिससे श्रावकों की दया सवा बिस्वा रह जाती है। इस भाव को जानने के लिये एक प्राचीन गाथा मे कहा गया है—

जीवा सुहुमा थूला संकप्पाऽरंभओ य ते दुविहा।
सावराह निरवराहा सविक्खा चेव निरविक्खा॥

सूक्ष्म और स्थूल जीवो की संकल्प और आरम्भ से, अपराधी और निरपराधी की, सापेक्ष और निरपेक्ष की हिंसा का त्याग होने की अपेक्षा से (मुनि और श्रावक के त्याग मे अन्तर है।)

७. अविरति—किसी प्रकार के संयम को स्वीकार न करना अविरति है।[1] अविरति के सात भेद हैं। यह अविरति अवस्था पहले से चौथे तक चार गुणस्थानो मे पाई जाती है।

दर्शन मार्गणा के भेद

गाथा मे 'चक्खु अचक्खू ओही केवलदंसण अणागारा' पद से दर्शन मार्गणा के चार भेद बतलाये हैं—

(१) चक्षुदर्शन, (२) अचक्षुदर्शन, (३) अवधिदर्शन, (४) केवलदर्शन।[2]

---

१ न विद्यते यत—विरत विरतिर्यस्य सोऽसन सर्वथा विरतिहीन.।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १३७

२ दर्शन के चक्षुदर्शन आदि केवलदर्शन पर्यन्त चार भेद प्रसिद्ध है। मन:-पर्यायदर्शन नही होने के कारण यह है कि मन.पर्यायज्ञान अवधिज्ञान की तरह स्वमुख से विषयों को नही जानता है किन्तु परकीय मन प्रणाली से जानता है। अत. जिस प्रकार मन अतीत, अनागत अर्थो का विचार चिंतन तो करता है किन्तु देखता नहीं है, उसी प्रकार मन पर्यायज्ञानी भी भूत, भविष्यत् को जानता तो है, पर देखता नही है। वह वर्तमान को भी मन के विषय विशेषाधिकार से जानता है। अत सामान्यावलोकनपूर्वक प्रवृत्ति न होने से मन.पर्यायदर्शन नहीं माना जाता है। किन्तु किन्ही-किन्ही आचार्यों ने मन.पर्यायदर्शन को भी स्वीकार किया है—केचित्तु मन्यन्ते प्रज्ञापनायां मन.पर्यायज्ञाने दर्शनता पठ्यते। —तत्त्वार्थ भाष्य १।२४ की टीका

१ चक्षुदर्शन—चक्षुइन्द्रिय के द्वारा जो पदार्थ के सामान्य अंश का बोध होता है, उसे चक्षुदर्शन कहते हैं। इसका अंतरंग कारण चक्षुदर्शनावरण कर्म का क्षयोपशम है।

२ अचक्षुदर्शन—चक्षु को छोड़कर अन्य इन्द्रियों और मन के द्वारा होने वाले पदार्थ के सामान्य अंश के बोध को अचक्षुदर्शन कहते हैं।[1]

३ अवधिदर्शन—अवधिदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से इन्द्रियों की सहायता के बिना रूपी द्रव्य का जो सामान्य बोध होता है वह अवधिदर्शन कहलाता है।

४ केवलदर्शन—सम्पूर्ण द्रव्य पर्यायों को सामान्य रूप से विषय करने वाले बोध को केवलदर्शन कहते हैं।[2] समस्त आवरण के अत्यन्त क्षय से सिर्फ आत्मा ही मूर्त-अमूर्त द्रव्यों का पूर्णतया सामान्यरूप से अवबोध करती है।

दर्शन को अनाकार इसलिये कहा जाता है कि यद्यपि पदार्थों में सामान्य, विशेष दोनों ही धर्म रहते हैं किन्तु दर्शन द्वारा केवल सामान्य धर्म की अपेक्षा से स्व-पर सत्ता का अभेद रूप निर्विकल्प अवभासन होता है। इसीलिये वह निराकार है और शब्दों द्वारा इसका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है।[3]

संयम और दर्शन मार्गणा के भेदों का कथन करने के बाद अब आगे की गाथा में लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व और संज्ञी मार्गणा के भेदों को बतलाते हैं।

---

१ चक्खूण ज पयासइ दीसइ तं चक्खुदंसणं विंति।
सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खु त्ति॥ —पंचसंग्रह १३६

२ केवलदर्शन—सम्पूर्णवस्तुतत्त्वग्राहकबोधविशेषरूपं यद् दर्शन—सामान्यांश ग्रहणं तत् केवलदर्शनम्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १२७

३ भावाणं सामण्णविसेसयाणं सरूवमेत्तं जं।
वण्णणहीणग्गहणं जीवेण य दंसणं होदि॥ —गो० जीवकांड ४८३

लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व और संज्ञी मार्गणा के भेद—

किण्हा नीला काऊ तेऊ पम्हा य सुक्क भव्वियरा ।
वेयग खइगुवसम मिच्छ मीस सासाण सन्नियरे ॥१३॥

शब्दार्थ—किण्हा—कृष्ण, नीला—नील, काऊ—कापोत, तेऊ—तेज, पम्हा—पद्म, य—और, सुक्क—शुक्ल, भव्वियरा—भव्य और इतर (अभव्य), वेयग—वेदक, खइगुवसम—क्षायिक, औपशमिक, मिच्छ—मिथ्यात्व, मीस—मिश्र, सासाण—सासादन, सन्नियरे—संज्ञी तथा इतर असंज्ञी ।

गाथार्थ—कृष्ण, नील, कापोत, तेजः (पीत), पद्म और शुक्ल यह लेश्यायें हैं । भव्य और उसके उल्टे अभव्य यह दो भेद भव्यत्व मार्गणा के हैं । वेदक, क्षायिक और औपशमिक, मिथ्यात्व, मिश्र तथा सासादन यह भेद सम्यक्त्व मार्गणा के होते हैं । संज्ञित्व मार्गणा के संज्ञी और असंज्ञी यह दो भेद हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में लेश्या से लेकर संज्ञी मार्गणा पर्यन्त चार मार्गणाओं के भेद बतलाये हैं । 'किण्हा··· सुक्क' तक के पद द्वारा लेश्या मार्गणा के 'भव्वियरा' पद से भव्यत्व मार्गणा के, 'वेयग····· सासाण' पद द्वारा सम्यक्त्व मार्गणा के और 'सन्नियरे' पद से संज्ञी मार्गणा के भेदों को बतलाया है। उक्त भेदों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

लेश्या मार्गणा—(१) कृष्ण लेश्या, (२) नील लेश्या, (३) कापोत लेश्या, (४) तेजोलेश्या, (५) पद्म लेश्या, (६) शुक्ल लेश्या ।

भव्यत्व मार्गणा—(१) भव्यत्व, (२) अभव्यत्व ।

सम्यक्त्व मार्गणा—(१) वेदक सम्यक्त्व, (२) क्षायिक सम्यक्त्व, (३) औपशमिक सम्यक्त्व, (४) मिथ्यात्व, (५) मिश्र (सम्यग्-मिथ्यात्व), (६) सासादन सम्यक्त्व ।

संज्ञी मार्गणा—(१) संज्ञित्व, (२) असंज्ञित्व ।

उक्त भेदो के लक्षण क्रमश नीचे लिखे अनुसार है।

लेश्या मार्गणा के भेद

१ कृष्ण लेश्या—काजल के समान कृष्ण वर्ण के लेश्या जातीय पुद्‌गलो के सम्बन्ध से आत्मा मे ऐसे परिणामो का होना जिससे हिंसा आदि पाच आस्रवो मे प्रवृत्ति हो। मन, वचन, काय का सयम न रहना, गुण दोष की परीक्षा किये बिना ही कार्य करने की आदत बन जाना, क्रूरता आ जाना आदि। यह परिणाम कृष्ण लेश्या है।

२ नील लेश्या—अशोक वृक्ष के समान नीले रग के लेश्या पुद्‌गलो से आत्मा मे ऐसा परिणाम उत्पन्न होता है कि जिससे ईर्ष्या, असहिष्णुता, छल कपट आदि होने लगते हैं, निर्लज्जता आ जाती है विषयो के प्रति उत्कट लालसा होती है आदि। इन परिणामो को नील लेश्या कहते हैं।

३ कापोत लेश्या—इस लेश्या वाले के परिणाम कबूतर के गले के समान रक्त तथा कृष्ण वर्ण के पुद्‌गलो जैसे होते है। ऐसे परिणामो के होने से मन, वचन, काय की प्रवृत्ति मे वक्रता ही वक्रता रहती है, दूसरो को कष्ट पहुँचे ऐसे भाषण करने की प्रवृत्ति होती है, किसी भी विषय मे सरलता नही होती है और नास्तिकता रहती है।

४ तेजोलेश्या—तोते की चोच के समान रक्त वर्ण के लेश्या पुद्‌गलो से आत्मा म ऐसे परिणाम होते हैं जिससे कि नम्रता आ जाती है, शठता और चपलता नही रहती है धर्म रुचि दृढ होती है, दूसरो का हित करने की इच्छा होती है। यह परिणाम तेजोलेश्या है।

५ पद्म लेश्या—हल्दी के समान पीले रग के लेश्या पुद्‌गलो से आत्मा मे एक तरह का परिणाम होता है जिससे कापायिक प्रवृत्ति काफी अशो मे कम हो जाती है। चित्त प्रशान्त रहता है। आत्मसयम और जितेन्द्रियता की वृत्ति आ जाती है। यह परिणाम पद्म लेश्या है।

६ शुक्ल लेश्या—इस लेश्या वाला परम धार्मिक होता है। कषाय

उपशात रहती हैं। वीतराग भाव सम्पादन करने की अनुकूलता आ जाती है। मन, वचन, काय की वृत्ति अत्यन्त सरल होती है। इस लेश्या के परिणाम शख के समान श्वेत वर्ण जैसे होते है।[1]

भव्यत्व मार्गणा के भेद

१. भव्य—जो मोक्ष को प्राप्त करते हैं या पाने की योग्यता रखते है अथवा जिनमें सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रगट होने की योग्यता है, वे भव्य है।

भव्य जीवो मे से कुछ ऐसे होते हैं जो निकट काल में अति शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करने वाले है, कुछ बहुत काल के बाद मोक्ष प्राप्त करने वाले हैं और कुछ ऐसे भी होते हैं जो मोक्ष की योग्यता रखते हुए भी उसको प्राप्त नहीं कर पाते हैं। उन्हें ऐसी अनुकूल सामग्री नही मिल पाती है जिससे वे मोक्ष प्राप्त कर सकें। जैसे कि किसी मिट्टी में सोने का अश तो है परन्तु अनुकूल साधन मिलने का अभाव होने पर सोने का अश प्रगट नही हो पाता है। भव्यो के उक्त तीनो प्रकारों को क्रमश. आसन्नभव्य, दूरभव्य और जातिभव्य[2] कहते है।

२ अभव्य—जो अनादि तथाविध पारिणामिक भाव के कारण किसी भी समय मोक्ष पाने की योग्यता ही नही रखते उन्हें अभव्य कहते हैं।[3]

---

१ लेश्याओ के विशद ज्ञान के लिये उत्तराध्ययन का लेश्याध्ययन (३४वां) देखिये। उसमे लेश्याओ का वर्ण, रस, गंध, स्पर्श आदि द्वारो से विस्तृत विवेचन किया गया है।

गो० जीवकाड गा० ४९५ मे लेश्याओ के वर्ण क्रमश. भ्रमर के समान, नीलमणि के समान, कबूतर के समान, सुवर्ण के समान, कमल के समान और शंख के समान बतलाये हैं।

२ दिगम्बर साहित्य मे जातिभव्य को 'अभव्यसमभव्य' कहा है।

३ भव्य. मुक्तिगमनार्ह., अभव्य कदाचनापि सिद्धिगमनानर्ह.।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ, स्वोपज्ञ टीका, पृ० १३८

सम्यक्त्व मागणा के भेद

गाथागत क्रम के वजाय औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, सासादन, मिश्र और मिथ्यात्व के क्रम से सम्यक्त्व मागणा के भेदो के लक्षण कहने के पूव सम्यक्त्व परिणाम सहेतुक है या निर्हेतुक, सम्यक्त्व व औपशमिक, क्षायोपशमिक आदि भेदो के वनने के कारण के वारे म विचार करते हैं।

सम्यक्त्व परिणाम सहेतुक है। क्याकि निर्हेतुक वस्तु या तो सदैव एक जसी रहती है या उसका अभाव होता है। किन्तु सम्यक्त्व परिणाम न तो सव मे समान है और न उसका अभाव ही है। इसीलिये सम्यक्त्व परिणाम को सहेतुक माना जाता है।

सम्यक्त्व परिणामो को सहेतुक मान लेने पर प्रश्न होता है कि उसके नियत हेतु निमित्त कारण क्या हैं? इसका उत्तर यह है कि वाह्य और अतरग के भेद से हेतु के दो प्रकार हैं। इनमे से सम्यक्त्व परिणाम का नियत हेतु (आन्तरिक कारण) जीव का भव्यत्व नामक अनादि पारिणामिक स्वभाव विशेष है। जव इस अनादि पारिणामिक भाव—भव्यत्व का परिपाक होता है, तभी सम्यक्त्व का लाभ हो जाता है और उस समय प्रवचन-श्रवण आदि वाह्य हेतु भी उसके निमित्त कारण वन जाते हैं। इनसे भव्यत्व भाव के परिपाक मे सहायता मिलती है। लेकिन सिफ प्रवचन श्रवण, अध्ययन आदि वाह्य निमित्त सम्यक्त्व के नियत हेतु नही हो सकते हैं। क्याकि वाह्य निमित्तो के रहने पर भी अनक भव्यो को अभव्या की तरह सम्यक्त्व की प्राप्ति नही होती हैं।

इसका साराश यह है कि भव्यत्व भाव का विपाक ही सम्यक्त्व-प्राप्ति का अव्यभिचारी निश्चित कारण है और प्रवचन श्रवण आदि वाह्य कारण हैं और ये प्रवचन-श्रवण आदि वाह्य कारण सहकारी मात्र होते हैं।

सम्यक्त्व प्राप्ति का आतरिक कारण—भव्यत्व भाव होने पर भी अभिव्यक्ति के आभ्यन्तर कारणो की विविधता से सम्यक्त्व के औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक आदि भेद बनते है। जैसे अनन्तानुबधी चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक इन सात प्रकृतियो का क्षयोपशम क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का, उपशम औपशमिक सम्यक्त्व का और क्षय क्षायिक सम्यक्त्व का, सम्यक्त्व से गिराकर मिथ्यात्व की ओर झुकाने वाला अनन्तानुबधी कषाय का उदय सासादन सम्यक्त्व का, मिश्र मोहनीय का उदय मिश्र सम्यक्त्व का और सम्यक्त्व के प्रतिपक्षी मिथ्यात्व का उदय मिथ्यात्व का कारण है।

अभिव्यक्ति के कारणो की उक्त विविधता से ही सम्यक्त्व मार्गणा के छह भेद होते है। जिनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. औपशमिक सम्यक्त्व—अनन्तानुबधी कषायचतुष्क और दर्शनमोहनीयत्रिक—कुल सात प्रकृतियों के उपशम से प्राप्त होने वाले तत्त्वरुचिरूप आत्मपरिणाम को औपशमिक सम्यक्त्व कहते है।[1] इसके दो भेद हैं—(१) ग्रथिभेदजन्य और उपशमश्रेणिभावी। ग्रथिभेदजन्य औपशमिक सम्यक्त्व अनादिमिथ्यात्वी भव्य जीवों को होता है और उपशमश्रेणिभावी औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति चौथे, पाँचवे, छठे या सातवे इन चार गुणस्थानो में से किसी भी गुणस्थान मे हो सकती है परन्तु आठवें गुणस्थान मे तो अवश्य ही उसकी प्राप्ति होती है।[2]

---

१ दंसणमोहस्सुदए उवसते सच्चभावसद्दहण।
उवसमसम्मत्तमिण पसण्णकलुस जहा तोयं॥ —पंचसंग्रह १६५

२ ग्रन्थिभेदजन्य और श्रेणिभावी उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति का विचार द्वितीय कर्मग्रन्थ गाथा २ की व्याख्या मे किया गया है। ग्रन्थिभेदजन्य उपशम सम्यक्त्व को प्रथमोपशम सम्यक्त्व भी कहते है।

औपशमिक सम्यक्त्व के समय आयुबंध, मरण, अनतानुबधी कषाय का बंध व उदय—ये चार बातें नही होती है। किन्तु उससे च्युत होने के बाद सासादनभाव के समय ये चार बातें हो सकती है।

२ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—अनन्तानुबधी कषायचतुष्क मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियो के उदयभावी क्षय और इन्ही के सद्वस्थारूप उपशम से तथा देशघाती स्पधकवाली सम्यक्त्व प्रकृति के उदय मे जो तत्त्वाथ श्रद्धान रूप परिणाम होता है वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है।[1] इसको वेदक सम्यक्त्व भी कहते हैं।

औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे अन्तर

उपशमजन्य पर्याय को औपशमिक और क्षयोपशमजन्य पर्याय को क्षायोपशमिक कहते है। इनका विशद अथ इस प्रकार समझना चाहिये।

क्षयापशम शब्द मे दो पद हैं—क्षय और उपशम। क्षयोपशम शब्द का मतलब कम के क्षय और उपशम दोनो से है। क्षय यानी आत्मा से कम का सम्बन्ध टूट जाना और उपशम यानी कम का अपने स्वरूप मे आत्मा के साथ सलग्न रहकर भी उस पर असर न डालना। इस शाब्दिक अथ की अपेक्षा क्षयोपशम के पारिभाषिक अथ म यह विशेषता है कि बधावलि के पूण हो जाने पर जब किसी विवक्षित कम का क्षयोपशम प्रारम्भ होता है तब विवक्षित वतमान समय से आवलिका पयन्त के कमदलिका[2] का तो प्रदेशादय व विपाकोदय द्वारा

---

१ (क) अनन्तानुबधिकषायचतुष्टयस्य मिथ्यात्वसम्यङमिथ्यात्वयोश्चादय क्षयात्सदुपशमाच्च सम्यक्त्वस्य देशघातिस्पधकस्योदय तत्त्वाथश्रद्धान क्षायोपशमिक सम्यक्त्वम्। —सर्वाथसिद्धि २।८।१५७।६

(ख) मिच्छत्त जमुइन्न त खीण अणुदिय च उवसत।
मीसीभावपरिणय वेइज्जत खओवसम॥
—विशेषावश्यक, ५३२

(ग) तत्रोदीणस्य मिथ्यात्वस्य क्षयण अनुदीणस्य चोपशमन विष्कम्भितोदय स्वरूपेण यद् निवृत्त तत क्षायोपशमिकम्।
—चतुथ कमग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १३८

२ उदयावलिकाप्राप्त या उदीणदलिक।

क्षय होता रहता है और जो दलिक विवक्षित वर्तमान समय से आवलिका पर्यन्त मे उदय आने योग्य नही है[1] उनका उपशम (विपाकोदय की योग्यता का अभाव या तीव्र रस से मंद रस मे परिणमन) हो जाता है। जिससे वे दलिक अपनी उदयावलि को प्राप्त होने पर प्रदेशोदय या मद विपाकोदय द्वारा क्षीण हो जाते है यानि आत्मा पर अपना फल प्रगट नही कर सकते या कम प्रगट करते है।

इस प्रकार आवलिका पर्यन्त के उदयप्राप्त कर्मदलिको का प्रदेशोदय व विपाकोदय द्वारा क्षय और आवलिका के वाद उदय पाने योग्य कर्मदलिको की विपाकोदय सम्वन्धिनी योग्यता का अभाव या तीव्र रस का मद रस मे परिणमन होते रहने से कर्म का क्षयोपशम कहते है।

लेकिन औपशमिक के उपशम शव्द का अर्थ क्षयोपशम के उपशम शव्द की व्याख्या से कुछ भिन्न है। अर्थात् क्षयोपशम के उपशम शव्द का अर्थ सिर्फ विपाकोदय सम्वन्धी योग्यता का अभाव या तीव्र रस का मंद रस मे परिणमन होना है किन्तु औपशमिक के उपशम शव्द का अर्थ प्रदेशोदय और विपाकोदय दोनो का अभाव है। क्षयोपशम मे कर्म का क्षय भी चालू रहता है। यह क्षय प्रदेशोदय रूप होता है किंतु उपशम मे यह वात नही है, क्योकि जव कर्म का उपशम होता है तभी से उसका क्षय रुक जाता है, अतएव इसके प्रदेशोदय होने की आवश्यकता नही रहती है। इसीलिये उपशम अवस्था तभी मानी जाती है जवकि अन्तरकरण[2] होता है और अन्तरकरण मे वेद्य दलिको का अभाव होता है।

---

१ उदयावलिका वहिर्भूत या अनुदीर्ण दलिक।

२ अन्तरकरण के अन्तर्मुहूर्त मे उदय पाने योग्य दलिको मे से कुछ तो पहले ही भोग लिये जाते है और कुछ दलिक वाद मे उदय पाने योग्य वना दिये जाते है।

। क्षयोपशम और उपशम की उक्त व्याख्या का साराश यह है कि क्षयोपशम के समय प्रदेशोदय या मद विपाकोदय होता है किन्तु उपशम के समय वह भी नही होता है। औपशमिक सम्यक्त्व के समय दशनमोहनीय के किसी प्रकार का उदय नही होता किन्तु क्षयोपशम सम्यक्त्व के समय सम्यक्त्व मोहनीय का विपाकोदय और मिथ्यात्व मोहनीय का प्रदेशोदय होता है। इसीलिये औपशमिक सम्यक्त्व को भाव सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को द्रव्य सम्यक्त्व भी कहते हैं।

औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की उक्त व्याख्यागत विशेषता के अतिरिक्त दोनो मे यह भी विशेषता है कि उपशम और क्षयोपशम होने योग्य घातिकर्म[1] हैं, लेकिन औपशमिक सम्यक्त्व म तो घातिकर्मों मे से सिर्फ मोहनीय कम का उपशम होता है लेकिन क्षायोपशमिक सम्यक्त्व म क्षयोपशम सभी घातिकर्मों का होता है। घातिकम के देशघाति[2] और सर्वघाति[3] यह दो भेद हैं और इन दोनो के क्षयोपशम मे होने वाली भिन्नता का रूप इस प्रकार है—

---

१ आठ मूल कर्मों म स ज्ञानावरण दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय घाती कम कहलाते हैं।

२ १ ४ मति श्रुत अवधि, मनपर्याय ज्ञानावरण, ५ ७ चक्षु, अचक्षु अवधि दर्शनावरण ८ ११ सज्वलन क्रोध मान, माया लोभ १२ २० हास्य रति, अरति, शोक भय जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद नपु सकवेद, २१ २५ दान लाभ, भोग उपभोग वीय अन्तराय। यह २५ प्रकृतियाँ देशघाती हैं।

३ १ केवलज्ञानावरण, २ केवलदर्शनावरण ३ ७ निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला, प्रचलाप्रचला स्त्यानर्द्धि ८-१९ अनन्तानुबधी कषाय चतुष्क (क्रोध, मान, माया, लोभ) अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क २० मिथ्यात्व। यह २० प्रकृतियाँ सवघाती है।

देशघाती कर्मों के क्षयोपशम के समय मद रस युक्त कुछ दलिकों का विपाकोदय साथ ही रहता है और ये विपाकोदय प्राप्त दलिक अल्प रस युक्त होने से अपने आवरण करने योग्य गुण का घात नही कर सकते है। देशघाति कर्म के क्षयोपशम के समय विपाकोदय विरुद्ध नही है, अर्थात् वह क्षयोपशम के कार्य—आवरण करने योग्य अपने गुण के विकास—को नही रोक सकता है। लेकिन यह ध्यान मे रखना चाहिये कि देशघाती कर्म के विपाकोदय मिश्रित क्षयोपशम के समय सर्वघाती रस युक्त कोई भी दलिक उदयमान नही होता है। जब सर्व-घाति रस शुद्ध अध्यवसाय से देशघाति रूप मे परिणत हो जाता है तभी (देशघाति स्पर्धक के ही विपाकोदय काल मे) क्षयोपशम प्रवृत्त होता है।

घातिकर्म की सर्वघातिनी प्रकृतियाँ बीस है। उनमे से केवलज्ञाना-वरण और केवलदर्शनावरण इन दो का क्षयोपशम नही होता है। क्योंकि इनके दलिक कभी भी देशघाति रस युक्त बनते ही नही है और न इनका विपाकोदय रोका जा सकता है। शेष अठारह प्रकृतियाँ ऐसी है जिनका क्षयोपशम हो सकता है किन्तु देशघातिनी प्रकृतियो के क्षयोपशम के समय जैसे विपाकोदय होता है वैसे इन अठारह सर्वघातिनी प्रकृतियो के समय नही होता है। इन अठारह प्रकृतियो का क्षयोपशम तभी सम्भव है जब उनका प्रदेशोदय ही हो। इसीलिये यह सिद्धान्त माना है कि विपाकोदयवती प्रकृतियो का क्षयोपशम यदि होता है तो देशघातिनी का ही, सर्वघातिनी का नही।

दिगम्बर ग्रन्थो मे उदय की अपेक्षा देशघाती और सर्वघाती प्रकृतियो की सख्या बताई है अत' सर्वघाती २१ और देशघाती २६ प्रकृतियाँ है। सम्यग्मिथ्यात्व सर्वघाती और सम्यक्त्व देशघाती। कर्मग्रन्थ मे बध की अपेक्षा देश व सर्वघाती का भेद किया है। अत २० सर्वघाती और २५ देशघाती प्रकृतियाँ बताई है।

घातिकर्मो की पच्चीस प्रकृतियां देशघातिनी है। उनमे से मति व श्रुतज्ञानावरण, अचक्षुदर्शनावरण और पाँच अतराय इन आठ प्रकृतियो का क्षयोपशम तो सदा होता रहता है। अवधिज्ञानावरण, मनपर्यायज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण इन चार प्रकृतियो का क्षयोपशम कादाचित्क (अनियत) है। यानी जब इनके सर्वघाति रस स्पर्धक देशघाति रूप म परिणत हो जाते हैं तभी उनका क्षयोपशम होता है। शेष तेरह प्रकृतिया (चार सज्वलन और नौ नोकषाय) अध्रुवोदयिनी हैं। इसलिए जब उनका क्षयोपशम प्रदेशोदय मात्र से युक्त होता है तब वे अपने गुण का लेशमात्र भी घात नही करती है और न देशघातिनी मानी जाती है, लेकिन जब उनका क्षयोपशम विपाकोदय से मिश्रित होता है तब वे अपने आवरण करने योग्य गुण का कुछ घात करने से देशघातिनी कहलाती हैं।

३ क्षायिक सम्यक्त्व—अनन्तानुवन्धी कषाय चतुष्क और दर्शन मोहत्रिक इन सात प्रकृतियो के क्षय से आत्मा मे जो तत्त्वरुचि रूप परिणाम प्रगट होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव कभी मिथ्यात्व को प्राप्त नही करता है तथा मिथ्यात्वजन्य अतिशयो को देखकर विस्मित या शकित नही होता है। आयुबध करने के बाद क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाले जीव तो तीन चार भव म मोक्ष जाते है और अबद्धायुष्क (अगले भव की आयुबध से पहले क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले) वर्तमान भव म ही मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

४ सासादन—औपशमिक सम्यक्त्व का त्याग कर मिथ्यात्व के अभिमुख होने के समय जीव का जो परिणाम होता है उसे सासादन सम्यक्त्व कहते हैं। इसकी स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिका प्रमाण है। इसके समय मे अनन्तानुबधी कषायो का

उदय होने से जीव के परिणाम निर्मल नहीं होते हैं। जिससे सम्यक्त्व की विराधना होती है।

५. मिश्र सम्यक्त्व—सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से तत्त्व और अतत्त्व इन दोनों की रुचिरूप जो मिश्र परिणाम होता है वह मिश्र सम्यक्त्व कहलाता है। इसमें न तो मिथ्यात्व रूप और न सम्यक्त्व रूप ही आत्मपरिणाम होते हैं किन्तु दोनों से मिश्रित परिणाम होते हैं।

६. मिथ्यात्व—मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय से होने वाला आत्म-परिणाम मिथ्यात्व है। इस परिणाम वाला जीव तत्त्वार्थ का श्रद्धान करने वाला नहीं होता है। जड-चेतन के भेद को नहीं जानता है और न आत्मोन्मुख प्रवृत्ति वाला होता है।

सासादन, मिश्र और मिथ्यात्व में यह अंतर है कि सासादन में अतत्त्व रुचि अव्यक्त होती है और मिथ्यात्व में व्यक्त किन्तु मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) अवस्था में तत्त्व और अतत्त्व के प्रति समान रुचि रहती है।

संज्ञी मार्गणा के भेद

१. संज्ञित्व—विशिष्ट मनःशक्ति, दीर्घकालिकी संज्ञा का होना संज्ञित्व है और संज्ञायुक्त जीव संज्ञी कहलाते हैं।

२. असंज्ञित्व—उक्त संज्ञा का न होना असंज्ञित्व है और संज्ञित्व विहीन जीव असंज्ञी कहलाते हैं।[१]

इस गाथा में लेश्या से लेकर संज्ञी मार्गणा तक चार मार्गणाओं के भेदों का कथन करने से अभी तक गति आदि तेरह मार्गणाओं के अवान्तर भेदों की संख्या बतलाई जा चुकी है। आगे की गाथा में

---

१ विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानभाक् संज्ञी, इतरोऽसंज्ञी सर्वोऽप्येकेन्द्रियादि.।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ, स्वोपज्ञ टीका, पृ० १४२

चौदहवी आहारक मार्गणा के भेद और मार्गणास्थान मे वर्णन किये जाने वाले विषयो का निरूपण प्रारभ करते हैं।

आहारक मार्गणा के भेद और मार्गणाओ मे जीवस्थान

आहारेयर भेया सुरनरयविभगमइसुओहिदुगे।
सम्मत्ततिगे पम्हा सुक्का सन्नीसु सन्निदुग ॥१४॥

शब्दार्थ—आहार—आहारक इयर—इतर (अनाहारक) भेया—भेद होते हैं सुर—देवगति, नरय—नरकगति, विभग—विभग ज्ञान मइसुअ—मतिज्ञान श्रुतज्ञान, ओहिदुगे—अवधिद्विक मे (अवधिज्ञान और अवधिदर्शन मे) सम्मत्ततिगे—सम्यक्त्वत्रिक मे, पम्हा—पद्म लेश्या सुक्का—शुक्ल लेश्या सन्निसु—सज्ञी मे, सन्निदुग—सज्ञीद्विक।

गाथार्थ—आहारक मार्गणा के आहारक और इतर—अनाहारक—ये दो भेद हैं। देवगति, नरकगति, विभगज्ञान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिद्विक (अवधिज्ञान और अवधिदर्शन), सम्यक्त्वत्रिक (औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक), पद्म और शुक्ल लेश्या तथा सज्ञित्व इन तेरह मार्गणाओ मे अपर्याप्त सज्ञी और पर्याप्त सज्ञी ये दो जीवस्थान होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे चौदहवी आहारक मार्गणा के भेद को बतलाने के बाद मार्गणास्थान मे वर्णन किये जाने वाले विषयो मे से जीवस्थान विषय का विचार प्रारभ किया है कि देवगति आदि तेरह मार्गणाओ मे पर्याप्त और अपर्याप्त सज्ञी यह दो जीवस्थान होते हैं।

आहारक मार्गणा के भेद

आहारक मार्गणा के दो भेद हैं—(१) आहारक, (२) अनाहारक।

१ आहारक—ओज, लोम और कवल इनमे से किसी भी प्रकार के आहार को करने वाले जीव को आहारक कहते हैं।

२. अनाहारक—उक्त तीन प्रकार के आहारों मे से किसी भी प्रकार के आहार को ग्रहण न करने वाला जीव अनाहारक कहलाता है।[1]

इस प्रकार मार्गणास्थान के मूल भेद चौदह और उनके चार, पाँच, छह, आदि अवान्तर भेदो की कुल संख्या वासठ है। वासठ भेदो की संख्या इस प्रकार है—गति ४, इद्रिय ५, काय ६, योग ३, वेद ३, कषाय ४, ज्ञान ८, (पाँच ज्ञान, तीन अज्ञान) संयम ७, (पाँच सयम, देश विरति, अविरति) दर्शन ४, लेश्या ६, भव्य २, सम्यक्त्व ६, (सम्यक्त्व-त्रय, मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र) सज्ञी २, आहारक २। इन सब भेदो को मिलाने पर मार्गणाओ के उत्तरभेद वासठ होते हैं।[2]

मार्गणाओं में जीवस्थान

गति आदि—मार्गणाओ के उत्तर भेदो को वतलाने के वाद मार्गणास्थान के वर्ण्य-विषयों का विचार प्रारभ करते है।

मार्गणास्थान मे (१) जीवस्थान, (२) गुणस्थान, (३) योग, (४) उपयोग, (५) लेश्या और (६) अल्प-वहुत्व इन छह विषयो की विवेचना की गई है। अतः क्रमानुसार सर्वप्रथम वासठ मार्गणास्थानों मे जीवस्थानो की संख्या वतलाते है।

गाथा मे 'सुरनरय··· ·· ·· · सन्नीसु' पर्यन्त तेरह मार्गणाओं मे 'सन्निदुगं' पद से दो जीवस्थान होने का सकेत दिया है कि (१) देवगति, (२) नरकगति, (३) मतिज्ञान, (४) श्रुतज्ञान, (५) अवधिज्ञान, (६) विभगज्ञान (कु-अवधि), (७) अवधिदर्शन, (८) पद्म लेश्या, (९) शुक्ल लेश्या, (१०) औपशमिक सम्यक्त्व, (११) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, (१२) क्षायिक सम्यक्त्व, (१३) सज्ञी। इन तेरह मार्गणाओ

---

१ ओजोलोमप्रक्षेपाहाराणामन्यतममाहारमाहारयतीत्याहारक। इतर अनाहारक।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १४२

२ चउ पण छ तिय तिय चउ अड सग चउ छच्च दु छग दो दुन्नि।
गइयाइमग्गणाण इय उत्तरभेय वासट्ठी॥

मे संज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त और संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त यह दो जीवस्थान होते है।

गतिमार्गणा के देवगति और नरकगति, इन दो भेदो मे संज्ञीद्विक् (अपर्याप्त, पर्याप्त) जीवस्थान मानने का कारण यह है कि देव और नरक गति मे वर्तमान कोई भी जीव असंज्ञी नही होते हैं। चाहे वह अपर्याप्त हो या पर्याप्त किन्तु सभी संज्ञी होते हैं। इसीलिये इन दो गतियो मे संज्ञीद्विक जीवस्थान माने हैं।

विभगज्ञान प्राप्ति की योग्यता असंज्ञी जीवो मे नही होती है। अत उसमे भी अपर्याप्त-पर्याप्त संज्ञी ये दो जीवस्थान माने जाते हैं। यद्यपि पचसग्रह द्वार १ गाथा २७[1] मे अपेक्षादृष्टि से विभगज्ञान मे संज्ञी पर्याप्त यह एक जीवस्थान बताया है और इसका स्पष्टीकरण करते हुए टीका मे कहा है कि विभगज्ञान मे जो पर्याप्त संज्ञी रूप एक ही जीवस्थान माना है, वह तिर्यंच, मनुष्य और असंज्ञी नारक की अपेक्षा समझना चाहिये। क्योकि संज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य का अपर्याप्त अवस्था मे विभगज्ञान उत्पन्न नही होता है तथा असंज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यचो मे से जो रत्न-प्रभा नरक मे उत्पन्न होते हैं उनको असंज्ञी नारक इस नाम से व्यवहार होता है और उनको भी अपर्याप्त अवस्था मे विभगज्ञान उत्पन्न नही होता है परन्तु सपूर्ण पर्याप्तियो के पूर्ण होने के बाद पैदा होता है। इसीलिये विभगज्ञान मे संज्ञी पर्याप्त यह एक जीवस्थान माना जाता है।

लेकिन उक्त कथन के साथ यहाँ बताये गये 'विभगज्ञान मे दो जीवस्थान होते हैं' का विरोध नही है। क्योकि वह आपेक्षिक कथन है और अन्य अपेक्षा से विभगज्ञान मे दो जीवस्थान भी पचसग्रह-

---

१ दो मइसुयओहिदुगे एक्कं मणनाणकेवलविभंगे।
छ तिग व चक्खुमचक्खुस पउदस ठाणाणि सेस तिग ॥

कार को इष्ट है। जो टीका के निम्नलिखित अर्थ से स्पष्ट हो जाता है—

'सामान्य विचार करने पर विभंगज्ञान मार्गणा मे संज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त यह दोनो जीवस्थान होते है। क्योकि सज्ञी तिर्यच और मनुष्यो मे से उत्पन्न होने वाले नारक, देवो को अपर्याप्त अवस्था मे भी विभगज्ञान उत्पन्न होता है।'

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिद्विक इन चार मार्गणाओ मे सज्ञी-द्विक जीवस्थान मानने का कारण यह है कि—

किसी असज्ञी मे सम्यक्त्व सभव नही है और सम्यक्त्व के सिवाय मति-श्रुत ज्ञान आदि का होना असभव है तथा कोई-कोई जीव जव मति आदि तीन ज्ञानो सहित जन्म ग्रहण करते है, उस समय उन जीवो के अपर्याप्त अवस्था मे भी मति, श्रुत, अवधिद्विक होते है।

सज्ञी के सिवाय दूसरे जीवो मे पद्म और शुक्ल लेश्या के परिणाम न होने से इन दो लेश्याओ मे अपर्याप्त और पर्याप्त सज्ञी यह दो जीव-स्थान माने है।

औपशमिक आदि सम्यक्त्वत्रिक मे सज्ञी पर्याप्त और सज्ञी अपर्याप्त यह दो जीवस्थान होते है। इसका कारण यह है कि जो जीव आयु वाँधने के वाद क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है, वह वाँधी हुई आयु के अनुसार चारो गतियो मे से किसी भी गति मे जन्म ले सकता है। इसी अपेक्षा से अपर्याप्त अवस्था मे क्षायिक सम्यक्त्व माना जाता है। इसी प्रकार अपर्याप्त अवस्था मे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मानने का कारण यह है कि भावी तीर्थकर आदि जव देव आदि गति से च्यवन कर मनुष्य-जन्म ग्रहण करते है तव वे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व सहित होते है। औपशमिक सम्यक्त्व के लिये यह जानना कि आयु के पूर्ण हो जाने पर जव कोई औपशमिक सम्यक्त्वी ग्यारहवे

गुणस्थान से च्युत होकर अनुत्तर विमान मे पैदा होता है तब अपर्याप्त अवस्था मे औपशमिक सम्यक्त्व पाया जाता है।[1]

अन्य सब जीवस्थान असज्ञी होने से सज्ञी मार्गणा मे उक्त सज्ञीद्विक जीवस्थानो के सिवाय अन्य कोई जीवस्थान सभव नही है।

देवगति आदि उपर्युक्त तेरह मार्गणाओ मे अपर्याप्त सज्ञी शब्द करण अपर्याप्त के लिये प्रयुक्त हुआ है न कि लब्धि-अपर्याप्त के लिये। क्योकि देवगति और नरकगति मे लब्धि-अपर्याप्त रूप से कोई भी जीव पैदा नही होता है और न लब्धि-अपर्याप्त को मतिज्ञान आदि ज्ञान और क्षायिक आदि सम्यक्त्व तथा पद्म आदि लेश्यायें होती है।

तमसन्नि अपज्जजुय नरे सबायर अपज्ज तेऊए।
थावर इगिंदि पढमा चउ बार असन्नि दु दु विगले ॥१५॥

शब्दार्थ—तम—वे (पूर्वोक्त दो) असन्नि—असज्ञी अपज्जजुय—अपर्याप्त सहित, नरे—मनुष्यगति में सबायर अपज्ज—बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त सहित, तेऊए—तेजोलेश्या में थावर—स्थावर इगिंदि—एकेन्द्रिय, पढमा—प्रथम पहल, चउ—चार, बार—बारह असन्नि—असज्ञी में, दु दु—दो दो विगले—विकलेन्द्रियो में।

गाथार्थ—मनुष्यगति मे पूर्वोक्त सज्ञीद्विक (अपर्याप्त और पर्याप्त सज्ञी) और अपर्याप्त असज्ञी ये तीन जीवस्थान है। तेजोलेश्या मे बादर अपर्याप्त सहित सज्ञीद्विक यह तीन जीवस्थान होते हैं। पाच स्थावरो और एकेन्द्रिय मे पहले

---

१ अपर्याप्त सज्ञी अवस्था में भी औपशमिक सम्यक्त्व पाये जाने का मन्तव्य सप्ततिका (छठे कर्मग्रन्थ) और पचसग्रह के मतानुसार समझना चाहिए। सम्बन्धित विशेष विवरण परिशिष्ट में दिया गया है।

चार तथा असज्ञी जीवों मे संज्ञीद्विक के सिवाय आदि के बारह और विकलेन्द्रियत्रिक मे दो-दो जीवस्थान हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे मनुष्यगति, तेजोलेश्या, पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावरो और एकेन्द्रिय, असज्ञी और विकलेन्द्रियत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) कुल बारह मार्गणाओं मे जीवस्थानो की संख्या बतलाई है।

मनुष्यगति मे अपर्याप्त सज्ञी, पर्याप्त सज्ञी, अपर्याप्त असज्ञी यह तीन जीवस्थान बतलाये है। मनुष्यगति मे अपर्याप्त असज्ञी जीवस्थान मानने का कारण यह है कि मनुष्य दो प्रकार के है—गर्भज और सम्मूर्च्छिम। इनमे से गर्भज मनुष्य तो संज्ञी ही होते है और वे अपर्याप्त और पर्याप्त दोनो प्रकार के पाये जाते है, लेकिन समूर्च्छिम मनुष्य भी होते हैं, जो ढाई द्वीप समुद्र में गर्भज मनुष्यो के मल-मूत्र, शुक्र-शोणित आदि में पैदा होते है और जिनकी आयु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण की ही होती है। वे स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना ही मर जाते है। इसीलिये समूर्च्छिम मनुष्यो[1] को ग्रहण करने से मनुष्यगति मे अपर्याप्त-पर्याप्त सज्ञीद्विक और अपर्याप्त असज्ञी यह तीन जीवस्थान पाये जाते है।

---

१ समूर्च्छिम मनुष्यो की उत्पत्ति आदि के बारे मे प्रज्ञापना सूत्र में वर्णन है कि—'कहि ण भते ! सम्मुच्छिममणुस्सा सम्मुच्छति ? गोयमा ! अतो मणुस्सखेत्तस्स पणयालीसाए जोयणसयसहस्सेसु अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पन्नाए अतरदीवेसु गब्भवक्कतियमणुस्साणं चेव उच्चारेसु वा पासवणेसु वा खेलेसु वा सिंघाणेसु वा वतेसु वा पित्तेसु वा पूएसु वा सोणिएसु वा सुक्केसु वा सुक्कपुग्गलपरिसाडेसु वा विगयजीवकलेवरेसु वा थीपुरिससंजोगेसु वा नगरनिद्धमणेसु वा सव्वेसु चेव असुइट्ठाणेसु इत्थ ण सम्मुच्छिममणुस्सा समुच्छति अगुलस्स असखेज्जभाग मित्ताए ओगाहणाए। असन्नी-मिच्छादिट्ठी अन्नाणी सव्वाहिं पज्जत्तीहिं अपज्जत्ता अन्तमुहुत्ताउया चेव काल करति त्ति।

तेजोलेश्या पर्याप्त और अपर्याप्त दोनो प्रकार के सज्ञी जीवो तथा बादर एकेन्द्रिय जीवो के अपर्याप्त अवस्था मे होती है। इस दृष्टि से तेजोलेश्या मे पर्याप्त, अपर्याप्त सज्ञी तथा बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त यह तीन जीवस्थान माने हैं।

बादर एकेन्द्रिय जीवो के अपर्याप्त अवस्था मे तेजोलेश्या इस अपेक्षा से मानी जाती है कि भवनपति, व्यतर[1] आदि देव जिनमे तेजोलेश्या सम्भव है, तेजोलेश्या सहित मरकर पृथ्वी, जल या वनस्पति मे जन्म ग्रहण करते हैं,[2] तब उनको अपर्याप्त अवस्था (करण-अपर्याप्त) मे कुछ काल तक तेजोलेश्या रहती है।

आदि के चार जीवस्थानो मे—(१) सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त,

—सम्मूच्छिम मनुष्यो के बारे मे गौतम गणधर द्वारा पूछने पर भगवान महावीर कहते हैं कि पैतालीस लाख योजन प्रमाण मनुष्य क्षेत्र के भीतर ढाई द्वीप समुद्र मे पन्द्रह कर्मभूमि तीस अकर्मभूमि और छप्पन्न अन्त द्वीपो मे गर्भज मनुष्यो के मल-मूत्र कफ, शोणित, शुक्र रज आदि सभी अशुचि पदार्थों मे सम्मूच्छिम पैदा होते है। जिनका देह प्रमाण अगुल के असख्यातवें भाग होता है तथा वे मिथ्यात्वी, अज्ञानी और अपर्याप्त होते हैं और अन्तर्मुहूर्त मात्र मे मर जाते हैं।

१ किण्हा नीला काऊ तेऊलेसा य भवणवतरिया।
जोइससोहम्मीसाणि तेउलेसा मुणेयव्वा॥

—बृहत्सग्रहणी पत्र ८१

—भवनपति और व्यतर देवो मे कृष्ण आदि चार लेश्यायें होती हैं किन्तु ज्योतिष और सौधर्म ईशान स्वर्गों मे तेजोलेश्या ही होती है।

२ पुढवीआउवणस्सइ गब्भे पज्जत्तसखजीवासु।
सग्गचुयाण वासो सेसा पडिसेहिया ठाणा॥

—बृहत्सग्रहणी पत्र ७७

—पृथ्वी जल वनस्पति और सख्यात वर्ष आयु वाले गर्भज पर्याप्त इन स्थानो मे ही स्वर्ग-च्युत देव पैदा होते हैं अन्य स्थानों मे नहीं।

(२) सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त, (३) वादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, (४) वादर एकेन्द्रिय पर्याप्त के सिवाय अन्य किसी जीवस्थान मे एकेन्द्रिय तथा स्थावरकायिक जीव नही है। इसीलिये एकेन्द्रिय तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन छह मार्गणाओ मे पहले चार जीवस्थान माने जाते है।

सज्ञित्व और असज्ञित्व का भेद पचेन्द्रिय जीवो में ही पाया जाता है, लेकिन शेप वारह जीवस्थान असज्ञी जीवो के हैं। इसीलिये असज्ञी मार्गणाओ में वारह जीवस्थान समझना चाहिये।

विकलेन्द्रियत्रिक मे दो-दो जीवस्थान है। यानी द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय—यह विकलेन्द्रिय कहलाते है और ये पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो-दो प्रकार के है। इसलिये इन प्रत्येक मे दो-दो जीवस्थान हैं। अर्थात् द्वीन्द्रिय मे द्वीन्द्रिय अपर्याप्त और पर्याप्त, त्रीन्द्रिय मे त्रीन्द्रिय अपर्याप्त और पर्याप्त, चतुरिन्द्रिय मे चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त और पर्याप्त, इस प्रकार से दो-दो जीवस्थान समझना चाहिये।

दस चरम तसे अजयाहारग तिरि तणु कसाय दु अनाणे।
पढमतिलेसा भवियर अचक्खु नपु मिच्छि सव्वे वि ॥१६॥

शब्दार्थ—**दस**—दस, **चरम**—अत के, **तसे**—त्रसकाय में, **अजयाहारग**—अविरति और आहारक मार्गणा में, **तिरि**—तिर्यंच गति, **तणु**—काय योग, **कसाय**—कपाय, **दु**—दो, **अनाणे**—अज्ञान मे, **पढम**—पहली, **तिलेसा**—तीन लेश्याओ में, **भवियर**—भव्य और अभव्य, **अचक्खु**—अचक्षुदर्शन, **नपु**—नपुसक वेद, **मिच्छि**—मिथ्यात्व में, **सव्वेवि**—सभी जीवस्थान हैं।

गाथार्थ—त्रसकाय मे अतिम दस, अविरति, आहारक, तिर्यंच गति, काययोग, चार कपाय, मति-श्रुत-अज्ञान, कृष्ण आदि तीन लेश्या, भव्यत्व, अभव्यत्व, अचक्षुदर्शन, नपुंसक वेद और मिथ्यात्व इन मार्गणाओं मे सभी जीवस्थान होते है।

विशेषार्थ—गाथा में त्रसकाय में दस जीवस्थान तथा 'अजयाहारग मिच्छि' तक के पद में बतलाई गई अठारह मार्गणाओं में सभी (चौदह) जीवस्थान होना बतलाया है। जिनका विवेचन नीचे लिखे अनुसार है।

'तसे चरम दस' यानी त्रस जीवों में अंतिम दस जीवस्थान हैं। त्रस नामकर्म के उदय वाले जीवों को त्रस कहते हैं। त्रस नामकर्म का उदय द्वीन्द्रिय आदि पंचेन्द्रिय पर्यन्त के जीवों को होता है। इसीलिये अपर्याप्त-पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय और अपर्याप्त-पर्याप्त बादर-एकेन्द्रिय इन चार जीवस्थानों को छोड़कर शेष दस जीवस्थान त्रस काय में अपर्याप्त पर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय माने जाते हैं।

(१) अविरति, (२) आहारक, (३) तिर्यंचगति, (४) काययोग, (५-८) कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ चारों में) (९) मतिअज्ञान, (१०) श्रुत-अज्ञान, (११) कृष्ण लेश्या, (१२) नील लेश्या, (१३) कापोत लेश्या, (१४) भव्य, (१५) अभव्य, (१६) अचक्षुदर्शन, (१७) नपुंसक वेद, और (१८) मिथ्यात्व इन अठारह मार्गणाओं में सभी (चौदह) जीवस्थान होते हैं। इन अठारह मार्गणाओं में सभी जीवस्थान इसलिये माने जाते हैं कि सब प्रकार के जीवों में यह मार्गणायें संभव हैं और सब जीवस्थानों में सामान्यतः इन अठारह मार्गणाओं गत बाह्य शरीर आदि और आंतरिक भाव आदि पाये जाते हैं।

अचक्षुदर्शन में सब जीवस्थान मानने का कारण

उक्त अठारह मार्गणाओं में अचक्षुदर्शन को भी ग्रहण करके उसमें सब जीवस्थान मानने पर जिज्ञासा होती है कि अचक्षुदर्शन में जो सात अपर्याप्त जीवस्थान माने जाते हैं सो इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पश्चात् और स्वयोग्य पर्याप्तियाँ अभी पूर्ण न हुई हों वैसे

अपर्याप्त अवस्था की अपेक्षा रखकर है या इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले भी अचक्षुदर्शन होता है, यह मानकर ?

यदि प्रथम पक्ष माना जाये कि इन्द्रिय पर्याप्ति के पूर्ण होने के पश्चात् स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न हुई हो तो उस स्थिति मे सभी जीवस्थान अचक्षुदर्शन मे माने जा सकते है। लेकिन दूसरा पक्ष माना जाये कि इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले भी अचक्षुदर्शन होता है, जिसका श्री जयसोमसूरि ने अपने टबे मे उल्लेख करते हुए सिद्धात के आधार से बताया है कि विग्रहगति और कार्मण योग मे अवधिदर्शन रहित जीवो को अचक्षुदर्शन होता है, तो इस पक्ष मे यह प्रश्न होता है कि इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले द्रव्येन्द्रिय नही होने से उस अवस्था मे अचक्षुदर्शन कैसे माना जा सकता है ?

इसके समाधान के निम्नलिखित दो प्रकार है—

१. द्रव्येन्द्रिय होने पर भी द्रव्य और भाव, उभय इन्द्रियजन्य उपयोग अथवा द्रव्येन्द्रिय के अभाव मे केवल भावेन्द्रियजन्य उपयोग, यह उपयोग के दो प्रकार होते है। इनमे से विग्रहगति मे और इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पूर्व पहले प्रकार का उपयोग तो नही हो सकता है किन्तु दूसरे प्रकार का दर्शनात्मक सामान्य उपयोग माना जा सकता है।

२. अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम रूप जो अचक्षुदर्शन इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले होता है, वह शक्ति रूप (लब्धि रूप) होता है किन्तु उपयोग रूप नही। क्योकि प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ की ४९वी गाथा की टीका मे कहा है—

त्रयाणांमप्यचक्षुदर्शनं तस्यानाहारकावस्थायामपि लब्धिमाश्रित्याभ्युपगमात्।

इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले शक्ति रूप मे अचक्षुदर्शन मानने पर पुन प्रश्न होता है कि अचक्षुदर्शन की तरह चक्षुदर्शन

भी शक्ति रूप में मानना चाहिये। तो इसका समाधान यह है कि चक्षुदर्शन नेत्र रूप विशेष इन्द्रियजन्य दर्शन को कहते हैं। ऐसा दर्शन तभी माना जा सकता है जब द्रव्य नेत्र हों। इसलिये चक्षुदर्शन को इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद ही माना है। लेकिन अचक्षुदर्शन कोई एक इन्द्रियजन्य दर्शन नहीं है, वह नेत्र इन्द्रिय के सिवाय किसी भी इन्द्रियजन्य दर्शन है। जिसमें वह शक्ति रूप अथवा द्रव्य इन्द्रिय और भाव-इन्द्रिय दोनों रूपों में अथवा भावेन्द्रिय रूप में होता है। इसी से अचक्षुदर्शन को इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले और पीछे दोनों अवस्थाओं में माना है।

मिथ्यात्व में जो सब जीवस्थान कहे हैं यानी सब जीवस्थानों में सामान्यतः मिथ्यात्व कहा है, सो पहले बारह जीवस्थानों में अनाभोग जन्य (अज्ञानजन्य अतत्त्वरुचि) मिथ्यात्व समझना चाहिये।

पजसन्नी केवलदुग संजयमणनाणदेसमणमीसे।
पण चरम पज्ज वयणे तिय छ व पज्जियर चक्खुम्मि ॥१७॥

शब्दार्थ—पजसन्नी—पर्याप्त संज्ञी में, केवलदुग—केवलद्विक (केवलज्ञान और दर्शन) संजय—संयम, मणनाण—मनपर्याय ज्ञान, देस—देशविरति, मण—मनोयोग, मीस—मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व), पण—पाँच, चरम—अंत के, पज्ज—पर्याप्त, वयणे—वचन योग में, तिय—तीन, छ—छह, व—अथवा, पज्जियर—पर्याप्त अपर्याप्त, चक्खुम्मि—चक्षुदर्शन में।

गाथार्थ—केवलद्विक, संयम, मनपर्याय ज्ञान, देशविरति, मनोयोग और मिश्र सम्यक्त्व मार्गणा में सिर्फ पर्याप्त संज्ञी जीवस्थान होता है। वचनयोग में अंत के पाँच पर्याप्त जीवस्थान हैं। चक्षुदर्शन में अन्त के तीन पर्याप्त अथवा पर्याप्त-अपर्याप्त के भेद से अंत के तीन यानी कुल छह जीवस्थान होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे (१) केवलज्ञान, (२) केवलदर्शन, (३) सामायिक, (४) छेदोपस्थापना, (५) परिहारविशुद्धि, (६) सूक्ष्मसपराय, (७) यथाख्यात-सयम, (८) मनपर्याय ज्ञान, (९) देशविरति, (१०) मनोयोग, (११) मिश्रदृष्टि, इन ग्यारह मार्गणाओं में संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त यह एक जीवस्थान बताया है तथा (१२) वचन योग मे अतिम पाँच पर्याप्त जीवस्थान (पर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय) और (१३) चक्षुदर्शन में तीन और मतान्तर से छह जीवस्थान कहे है।

केवलज्ञान आदि मिश्रदृष्टि तक ग्यारह मार्गणाओ मे सिर्फ एक संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान माने जाने का कारण यह है कि पर्याप्त सज्ञी के सिवाय अन्य प्रकार के जीवों मे सर्वविरति और देशविरति सयम संभव नही हैं। जिससे विरति से सम्बन्ध रखने वाले केवलदर्शन, सामायिक आदि पाँच संयम, देशविरति और मनपर्याय ज्ञान नही होते है। इसी तरह पर्याप्त सज्ञी के सिवाय अन्य जीवों मे मन का सद्भाव न होने से मनोयोग नही होता है तथा सज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवो के सिवाय अन्य जीवो मे तथाविध परिणामों की योग्यता न होने से मिश्रदृष्टि (सम्यग्मिथ्यात्व) भी नही होती है।[1]

वचनयोग मे पाँच पर्याप्त जीवस्थान—पर्याप्त द्वीन्द्रिय, पर्याप्त त्रीन्द्रिय, पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, पर्याप्त असज्ञी पचेन्द्रिय, पर्याप्त संज्ञी पचेन्द्रिय—मानने का कारण यह है कि पर्याप्त अवस्था में स्वर या

---

१ तत्र केवलद्विके सयतेषु मन.पर्यायज्ञाने देशविरते च सज्ञिपर्याप्तलक्षण जीवस्थानक विना नान्यद् जीवस्थानक सम्भवति तत्र सर्वविरतिदेशविरत्योरभावात्। मनोयोगेऽप्येतदन्तरेणाऽन्यद् जीवस्थानक न घटते, तत्र मन.सद्भावायोगात्। मिश्रे पुनः पर्याप्तसज्ञिव्यतिरेकेण शेष जीवस्थानक तथाविध परिणामाभावादेव न सम्भवतीति।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १४५

शब्दोच्चारण होता है, उससे पूर्व नहीं तथा वचन का सम्बन्ध भाषा-पर्याप्ति से है।

एकेन्द्रिय जीवों में आदि की चार पर्याप्तियाँ—आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोछ्वास होती हैं, भाषा पर्याप्ति नहीं। किन्तु द्वीन्द्रिय आदि जीवों में भाषा पर्याप्ति संभव है। जब वे स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण कर लेते हैं तब उनमें भाषापर्याप्ति के पूर्ण हो जाने से वचनयोग हो सकता है। इसीलिये वचनयोग में पर्याप्त द्वीन्द्रिय आदि पाँच जीवस्थान माने हैं।

'तिय छ व पज्जियर चक्खुम्मि' यानी चक्षुदर्शन में तीन अथवा पर्याप्त और अपर्याप्त के भेदों को भी मिलायें तो छह जीवस्थान होते हैं। इस प्रकार से चक्षुदर्शन में तीन अथवा छह जीवस्थान होने का कारण यह है कि चक्षुदर्शन आँखों वालों के ही होता है और आँखें चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय इन तीन प्रकार के जीवों के पर्याप्त अवस्था में होती हैं। इनके सिवाय अन्य प्रकार के जीवों में चक्षुदर्शन का अभाव है। अतएव चक्षुदर्शन में तीन जीवस्थान माने जाते हैं।

लेकिन दूसरे मत के अनुसार स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण होने के पहले भी—अपर्याप्त अवस्था में भी—चक्षुदर्शन माना जाता है। किन्तु इसके लिए इन्द्रिय पर्याप्ति का पूर्ण बन जाना आवश्यक है। क्योंकि इन्द्रिय पर्याप्ति न बन जाये तब तक आँख के पूर्ण न बनने से चक्षुदर्शन हो ही नहीं सकता है। इसलिए इस दूसरे मत के अनुसार चक्षुदर्शन में छह जीवस्थान और पहले मत के अनुसार तीन जीवस्थान हैं।

चक्षुदर्शन में जीवस्थानों की मतभिन्नता का कारण

चक्षुदर्शन में तीन और छह जीवस्थान मानने सम्बन्धी मतभिन्नता का कारण इन्द्रिय पर्याप्ति की निम्नलिखित दो व्याख्यायें हैं—

१ इन्द्रिय पर्याप्ति जीव की वह शक्ति है जिसके द्वारा धातु रूप

मे परिणत आहार पुद्गलों मे से योग्य पुद्गल इन्द्रिय रूप से परिणत किये जाते है।

२ इन्द्रिय पर्याप्ति जीव की वह शक्ति हे जिसके द्वारा योग्य आहार पुद्गलों को इन्द्रिय रूप मे परिणत करके इन्द्रियजन्य वोध का सामर्थ्य प्राप्त किया जाता है।

इन्द्रियपर्याप्ति की प्रथम व्याख्या प्रज्ञापना वृत्ति मे है। इस व्याख्या के अनुसार स्वयोग्य सम्पूर्ण पर्याप्तियाँ पूर्ण होने के वाद ही इन्द्रिय-जन्य उपयोग प्रवृत्त होता है। अपर्याप्त अवस्था मे चतुरिन्द्रिय आदि को चक्षु होने पर भी उसका उपयोग नही होता है। इस अपेक्षा से चक्षुदर्शन मे तीन जीवस्थान होते है।

दूसरी व्याख्या वृहत्सग्रहणी तथा भगवती वृत्ति मे है। इस व्याख्या के अनुसार इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के पश्चात् इन्द्रियजन्य उपयोग प्रवृत्त होता है, यानी उस अपेक्षा से स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न की हों और इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण कर ली हो ऐसे जीव को चक्षुदर्शन होता है और उस अपेक्षा से छह जीवस्थान चक्षुदर्शन मे माने जाते हैं। इस मत की पुष्टि पचसग्रह मलयगिरि वृत्ति के इस मंतव्य से होती है—

करणापर्याप्तेषु चतुरिन्द्रियादिष्विन्द्रियपर्याप्तौ सत्या चक्षुर्दर्शनमपि प्राप्यते।

—करण-अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय आदि मे इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने पर चक्षुदर्शन होता है।

उक्त दोनो मतो का सक्षेप मे साराश यह है कि प्रथम मत के अनुसार इन्द्रिय पर्याप्ति का मतलव इन्द्रियजनक शक्ति से है और स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण वन जाने के वाद (पर्याप्त अवस्था मे) सवको इन्द्रियजन्य उपयोग होता है, अपर्याप्त अवस्था मे नही। इसलिए इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण वन चुकने के वाद नेत्र होने पर भी अपर्याप्त अवस्था मे चतुरिन्द्रिय आदि को चक्षुदर्शन नही माना जाता है। लेकिन

दूसरे मत के अनुसार इन्द्रिय पर्याप्ति का मतलब इन्द्रियरचना से लेकर इन्द्रियजन्य उपयोग तक की सब क्रियाओं को करने की शक्ति से है। इसके अनुसार इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण बन जाने से अपर्याप्त अवस्था में भी सबको इन्द्रियजन्य उपयोग होता है। इसलिए इन्द्रिय पर्याप्ति बन जाने के बाद नेत्रजन्य उपयोग होने के कारण अपर्याप्त अवस्था में भी चतुरिन्द्रिय आदि को चक्षुदर्शन मानना चाहिए।

थीनरपणिंदि चरमा चउ अणहारे दु सन्नि छ अपज्जा।
ते सुहुमअपज्ज विणा सासणि इत्तो गुणे वुच्छं ॥१८॥

शब्दार्थ—थीनरपणिंदि—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और पचेन्द्रिय, चरमा—अंत के, चउ—चार, अणहारे—अनाहारक मार्गणा में, दु सन्नि—दो संज्ञी, छ अपज्जा—छह अपर्याप्त ते—वे, सुहुम अपज्ज—सूक्ष्म अपर्याप्त, विणा—बिना सिवाय सासणि—सासादन में, इत्तो—इसके पश्चात् गुण—गुणस्थान, वुच्छं—कहूंगा।

गाथार्थ—स्त्री वेद, पुरुष वेद, पचेन्द्रिय मार्गणा में अन्त के चार तथा अनाहारक मार्गणा में दो संज्ञी और छह अपर्याप्त कुल आठ जीवस्थान हैं तथा सासादन सम्यक्त्व में उक्त आठ में से सूक्ष्म अपर्याप्त को छोड़कर शेष सात जीवस्थान होते हैं। अब आगे गुणस्थान का कथन किया जा रहा है।

विशेषार्थ—गाथा में स्त्रीवेद, पुरुषवेद, पचेन्द्रिय जाति, अनाहारक तथा सासादन सम्यक्त्व में जीवस्थानों को बतलाकर आगे की गाथा से मार्गणास्थानों में गुणस्थानों की संख्या बतलाने का संकेत किया है।

स्त्रीवेद, पुरुषवेद और पचेन्द्रिय इन तीन मार्गणाओं में अपर्याप्त पर्याप्त असंज्ञी पचेन्द्रिय तथा अपर्याप्त-पर्याप्त संज्ञी पचेन्द्रिय यह चार जीवस्थान रह जाते हैं। यहाँ अपर्याप्त का मतलब करण-अपर्याप्त है,

लब्धि-अपर्याप्त नही, क्योकि लब्धि-अपर्याप्त को तो नपुसक वेद होता है ।

यद्यपि कार्मग्रन्थिको ने असज्ञी पचेन्द्रिय को स्त्री और पुरुप ये दो वेद माने है और सिद्धान्त मे नपुसक वेद[1], लेकिन इसमे किसी प्रकार का विरोध नही है क्योकि सिद्धान्त का कथन भाववेद की अपेक्षा से और कार्मग्रन्थिको कथन द्रव्यवेद की अपेक्षा से हे ।[2]

अनाहारक मार्गणा मे निम्नलिखित आठ जीवस्थान होते है—

अपर्याप्त—पर्याप्त सज्ञी तथा अपर्याप्त, सूक्ष्म-बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय । इन आठ में से सात अपर्याप्त और एक पर्याप्त जीवस्थान है । सब प्रकार के अपर्याप्त जीव अनाहारक उस समय होते है जिस समय वे विग्रहगति मे (वक्रगति मे) एक, दो या तीन समय तक आहार ग्रहण नही करते ।[3]

---

१ ते ण भते ! असन्निपचेन्दियतिरिक्खजोणिया किं इत्थिवेयगा, पुरिसवेयगा, नपुंसकवेयगा ? गोयमा ! नो इत्थिवेयगा नो पुरिसवेयगा नपु सगवेयगा ।
—भगवती

२ तथापीह स्त्रीपुसलिगाकारमात्रमगीकृत्य स्त्रीवेदे नरवेदे चासज्ञी निर्दिष्ट इत्यदोप. । उक्त च पचसग्रह मूल टीकायाम्—

यद्यपि चासज्ञिपर्याप्तापर्याप्तौ नपुसकौ तथापि स्त्रीपुसलिगाकारमात्रमगीकृत्य स्त्रीपुसावुक्ताविति ।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १४६

३ विग्गहगइमावन्ना केवलिणो समुहया अजोगी य ।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारगा जीवा ॥
—श्रावकप्रदीप, गा० ६८

जन्मान्तर ग्रहण करने के लिये छद्मस्थ जीव को पूर्व स्थान छोडकर दूसरे स्थान पर जाना पडता है । यदि दूसरा स्थान पहले स्थान से विश्रेणि पतित (वक्ररेखा) मे हो तब उसे वक्रगति करनी पडती है । उस स्थिति मे कोई उत्पत्ति स्थान ऐसा होता है जिसको जीव एक विग्रह (घुमाव)

लेकिन पर्याप्त संज्ञी को अनाहारत्व इस अपेक्षा से माना है कि केवलज्ञानी केवलिसमुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में कार्मण काययोगी होने के कारण किसी प्रकार के आहार को ग्रहण नहीं करते हैं।[1]

करके प्राप्त कर लेता है, किसी स्थान के लिए दो और किसी के लिए तीन विग्रह भी करने पड़ते हैं। ये विग्रह उत्पत्तिस्थान की वक्रता पर निर्भर हैं। लेकिन यह निश्चित है कि तीन विग्रह में अवश्य ही उस स्थान को प्राप्त कर लिया जाता है। इस विषय में दिगम्बर साहित्य में विचार भेद नहीं है—

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः। —तत्त्वार्थसूत्र २।२८

एक द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः। —तत्त्वार्थसूत्र २।३०

इनकी टीकाओं (सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थराजवार्तिक) में व गो० जीवकांड (गा० ६६६) में इसी मत का समर्थन किया है।

लेकिन श्वेताम्बर साहित्य में मतान्तर का उल्लेख है—

एक द्वौ वाऽनाहारकः। —तत्त्वार्थसूत्र २।३०

आचार्य उमास्वाति ने अपने भाष्य में तथा इसकी टीका में व श्री सिद्धसेनगणि ने त्रिविग्रह गति का भी उल्लेख किया है। साथ ही चतुर्विग्रह गति का मतान्तर भी दिया है। बृहत्संग्रहणी (गाथा ३२५) व भगवती ७।१ तथा १४।१ की टीका में भी इसका संकेत किया है। लेकिन मतान्तर का उल्लेख करके साथ ही यह स्पष्ट कर दिया है कि चतुर्विग्रह गति का उल्लेख किसी मूल सूत्र में नहीं है। इसमें तीन विग्रह वाली गति का पक्ष बहुमान्य है।

तीन विग्रह वाली गति तक चार समय लगने के बारे में श्वेताम्बर दिगम्बर साहित्य में समानता है कि एक विग्रह में दो समय, दो विग्रह में तीन समय और तीन विग्रह में चार समय। लेकिन जहाँ चार विग्रह का मत है वहाँ पाँच समय बताये हैं।

समय मान की भिन्नता अपेक्षा विशेष से समझना चाहिए लेकिन तीन विग्रह और चार समय का मत बहुमान्य समझना चाहिये।

१ कार्मणशरीरयोगी तृतीयके पंचमे चतुर्थे च।
समयत्रये च तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात्॥ —प्रशमरति० २७७

सासादन सम्यक्त्व मे सात जीवस्थान कहे है। इन सात जीवस्थानो मे छह अपर्याप्त और एक पर्याप्त जीवस्थान है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय को छोडकर अन्य छह प्रकार के जीवस्थानो मे सासादन सम्यक्त्व इसलिये माना जाता है कि जब कोई औपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव उस सम्यक्त्व को छोडता हुआ बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय या संज्ञी पचेन्द्रिय मे जन्म ग्रहण करता है तब उसके अपर्याप्त अवस्था मे सासादन सम्यक्त्व पाया जाता है। परन्तु कोई भी जीव औपशमिक सम्यक्त्व का वमन करते हुए सूक्ष्म-एकेन्द्रिय मे पैदा नही होता है, इसलिए सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त अवस्था मे सासादन सम्यक्त्व नही माना जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि सासादन सम्यक्त्व कुछ शुभ परिणाम रूप है और सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवो मे महा सक्लिष्ट परिणाम वाला ही उत्पन्न होता है।

संज्ञी पचेन्द्रिय के सिवाय कोई भी जीव पर्याप्त अवस्था मे सासादन सम्यक्त्व वाला नही होता है क्योकि औपशमिक सम्यक्त्व पाने वाले जीव सज्ञी ही होते है, दूसरे नही।

मार्गणाओं के ६२ भेदो मे जीवस्थानों की सख्या का सक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार समझना चाहिए।[१]

---

१ जीवस्थान बोधक सकेत चिह्न—स प प —सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त। स प अप —सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त। अस प अप —असज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त। अस प प —असज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त। सू ए अप —सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त। सू ए प —सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त। वा. ए प.—वादर एकेन्द्रिय पर्याप्त। वा. ए. अप —वादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त। द्वि अप —द्वीन्द्रिय अपर्याप्त। द्वी प —द्वीन्द्रिय पर्याप्त। त्री अप.—त्रीन्द्रिय अपर्याप्त। त्री प —त्रीन्द्रिय पर्याप्त। चतु अप —चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त। चतु प —चतुरिन्द्रिय पर्याप्त।

क्रम संख्या	मार्गणा नाम	जीवस्थान संख्या	जीवस्थान नाम
	गति मार्गणा		
१	१ नरक गति	२	स प प, स प अप
२	२ तिर्यंच गति	१४	सभी जीवस्थान
३	३ मनुष्य गति	३	स प प, स प अप, अस प अप
४	४ देव गति	२	स प प, स प अप
	इन्द्रिय मार्गणा		
५	१ एकेन्द्रिय	४	सू ए अप, सू ए प, बा ए अप, बा ए प
६	२ द्वीन्द्रिय	२	द्वि अप, द्वि प
७	३ त्रीन्द्रिय	२	त्रि अप, त्रि प
८	४ चतुरिन्द्रिय	२	चतु अप, चतु प
९	५ पंचेन्द्रिय	४	अस प अप, अस प प, स प अप, स प प
	काय मार्गणा		
१०	१ पृथ्वीकाय	४	सू ए अप, सू ए प, बा ए अप, बा ए प
११	२ जलकाय	४	सू ए अप, सू ए प, बा ए अप, बा ए प
१२	३ तेजस्काय	४	सू ए अप, सू ए प, बा ए अप, बा ए प
१३	४ वायुकाय	४	सू ए अप, सू ए प, बा ए अप, बा ए प
१४	५ वनस्पतिकाय	४	सू ए अप, सू ए प, बा ए अप, बा ए प

	सम्यक्त्व मार्गणा		
५३	१ औपशमिक	२	स. पं प., सं. प अप.
५४	२ क्षायोपशमिक	२	,, ,,
५५.	३ क्षायिक	२	,, ,,
५६	४ मिश्र	१	सं. प. प
५७	५ सासादन	७	सं पं. अप स. पं. प अप-वा ए. द्वि, त्रि, चतु, अस प
५८	६ मिथ्यात्व	१४	सभी जीवस्थान
	सज्ञी मर्गणा		
५९	१ सज्ञी	२	स प प., स प अप.
६०	२ असज्ञी	१२	आदि के १२ जीवस्थान (सज्ञीद्विक को छोड़)
	आहारक मार्गणा		
६१	१ आहारक	१४	सभी जीवस्थान
६२	२ अनाहारक	८	स. पं अप, स पं प, अप-सू. ए, वा ए, द्वि, त्रि, चतु, अस. प.

इस प्रकार से मार्गणाओं मे जीवस्थानो के भेदों की संख्या वतलाकर अव आगे मार्गणाओ मे गुणस्थानो की संख्या वतलाते है।

मार्गणाओ में गुणस्थान

पण तिरि चउ सुरनरए नर सन्नि पणिंदि भव्व तसि सव्वे।
इग विगल भू दग वणे दु दु एगं गइतस अभव्वे ॥१६॥

शव्दार्थ—पण—पाँच, तिरि—तिर्यंचगति में, चउ—चार, सुरनरए—देव और नरक गति में, नर—मनुष्य गति, सन्नि—सज्ञी, पणिंदि—पचेन्द्रिय, भव्व—भव्य, तसि—त्रसकाय में, सव्वे—सभी,

इग—एकेंद्रिय, विगल—विकलेंद्रिय, भू—पृथ्वीकाय दग—जल काय वण—वनस्पतिकाय दु-दु—दो-दो एग—एक गइतस—गतित्रस, अभ वे—अभव्य में।

गाथार्थ—तिर्यंच गति मे पाच, देव और नरक गति मे चार, मनुष्य, सज्ञी, पचेन्द्रिय भव्य, और त्रस मार्गणाओ मे सभी गुणस्थान होते हैं। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पृथ्वी, जल और वनस्पति काय मे दो-दो गुणस्थान है। गतित्रस (तेजस्काय और वायु काय) और अभव्य जीवो म एक ही गुणस्थान होता है।

विशेषार्थ—वर्णन-क्रम के अनुसार मार्गणाओ मे जीवस्थानो का कथन करने के बाद इस गाथा से गुणस्थानो की[1] सख्या बतलाई है।

'पण तिरि' तिर्यंचगति म आदि के पाच गुणस्थान—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरति, देशविरति—होते है। क्योकि उसम जाति-स्वभाव से सर्वविरति होना सम्भव नही है, और छठे आदि आगे के गुणस्थान सर्वविरति के ही होते हैं। सर्वविरति का धारण-पालन सिर्फ मनुष्यगति मे हो सकता है।

सयम धारण करने की शक्ति की अभिव्यक्ति न होने से देव और नारक स्वभाव से ही विरति रहित होते हैं। जिससे उनमे आदि के चार गुणस्थान माने जाते हैं—चउ सुरनरए।

मनुष्यगति, सज्ञी, पचेन्द्रिय, भव्य और त्रसकाय इन पाँच मार्गणाओ म सभी प्रकार के परिणाम सम्भव होने से सब गुणस्थान पाये जाते हैं। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियत्रिक—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय, इन सात मार्गणाओ म मिथ्यात्व और सासादन यह दो गुणस्थान पाये जाते

---

१ गुणस्थानो के नाम और उनकी व्याख्या द्वितीय कर्मग्रन्थ गा २ में देखिए।

है। अज्ञान के कारण तत्त्वश्रद्धाहीन होने से मिथ्यात्व गुणस्थान तो सामान्यत: इन सभी जीवो मे पाया जाता है और सासादन गुणस्थान इनकी अपर्याप्त अवस्था मे ही होता है। क्योकि एकेन्द्रिय आदि की आयु का वंध हो जाने के वाद जव किसी को औपशमिक सम्यक्त्व होता है, तव वह उसे त्याग करता हुआ सासादन सम्यक्त्व सहित एकेन्द्रिय आदि मे जन्म ग्रहण करता है तव अपर्याप्त अवस्था मे कुछ काल के लिये दूसरा गुणस्थान पाया जाता है।

अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदि जो सासादन सम्यक्त्व के अधिकारी कहे गये है वे करण-अपर्याप्त समझना चाहिए, लब्धि-अपर्याप्त नही। क्योकि लब्धि-अपर्याप्त जीव तो मिथ्यात्वी ही होते हैं।

'एग गइतस अभव्वे' गतित्रस—तेजस्काय और वायुकाय तथा अभव्य जीवो मे पहला मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। तेजस्काय और वायुकाय इन दोनों मे सिर्फ पहला मिथ्यात्व गुणस्थान मानने का कारण यह है कि न तो इनमे औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है और न औपशमिक सम्यक्त्व का वमन करने वाला जीव ही इनमे पैदा होता है।

अभव्यों मे पहला गुणस्थान इसलिये माना जाता है कि वे स्वभाव से ही सम्यक्त्व लाभप्राप्ति की योग्यता नही रखते है और सम्यक्त्व प्राप्ति के विना दूसरे आदि गुणस्थान होना सम्भव नही है।

वेय ति कसाय नव दस लोभे चउ अजइ दु ति अनाणतिगे।
बारस अचक्खुचक्खुसु पढमा अहखाइ चरम चउ ॥२०॥

शब्दार्थ—**वेय तिकसाय**—वेद और तीन कषाय, **नव**—नौ, **दस**—दस, **लोभे**—लोभ मे, **चउ**—चार, **अजइ**—अविरति मे, **दु ति**—दो अथवा तीन, **अनाणतिगे**—अज्ञानत्रिक मे, **बारस**—बारह, **अचक्खु-चक्खुसु**—अचक्षु और चक्षु दर्शन मे, **पढमा**—पहले, आदि के, **अहखाइ**—यथाख्यात मे, **चरम**—अत के, **चउ**—चार।

गाथार्थ—तीन वेद और तीन कषायों में आदि के नौ गुणस्थान तथा लोभकषाय में पहले दस गुणस्थान पाये जाते हैं। अविरति में चार तथा अज्ञानत्रिक में दो या तीन गुणस्थान होते हैं। अचक्षुदर्शन और चक्षुदर्शन में पहले बारह गुणस्थान और यथाख्यात चारित्र में अंत के चार गुणस्थान हैं।

विशेषार्थ—गाथा में वेद, कषाय, ज्ञान, संयम आदि दर्शन मार्गणा के अवान्तर भेदों में गुणस्थानों की संख्या बतलाई है।

'वेद ति कसाय' पद में 'ति' शब्द मध्यदीपक न्याय से वेद मार्गणा के तथा कषाय मार्गणा के तीन-तीन भेदों का बोध कराता है कि पुरुष, स्त्री और नपुंसक इन तीन वेदों तथा कषाय मार्गणा के क्रोध, मान, माया इन तीन भेदों में आदि के नौ गुणस्थान—मिथ्यात्व से लेकर अनिवृत्तिबादर पर्यन्त—होते हैं। पुरुष आदि माया पर्यन्त छह मार्गणाओं में नौ गुणस्थान उनके उदय की अपेक्षा समझना चाहिये। क्योंकि नौवें गुणस्थान के अंतिम समय में तीन वेद और क्रोध आदि तीन संज्वलन कषाय या तो क्षीण हो जाते हैं या उपशांत, इस कारण आगे के गुणस्थानों में उनका उदय नहीं रहता है। लेकिन सत्ता की दृष्टि से इन छह मार्गणाओं में गुणस्थानों का विचार किया जाये तो इनके ग्यारहवें उपशांत मोह गुणस्थान तक पाये जाने से ग्यारह गुणस्थान होंगे।

इसी प्रकार से लोभ (संज्वलन लोभ) का उदय भी दसवें गुणस्थान तक रहता है। अतएव इसमें दस गुणस्थान समझना चाहिये और सत्ता तो ग्यारहवें गुणस्थान तक पाई जा सकती है।

संयम मार्गणा के भेद अविरति में आदि के चार गुणस्थान-मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र और अविरति सम्यग्दृष्टि होते हैं। क्योंकि पाँचवें और उससे आगे के सब गुणस्थान विरति रूप हैं।

'दु ति अनाणतिगे' अज्ञान-त्रिक—मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और अवधिअज्ञान (विभगज्ञान) मे आदि के दो—मिथ्यात्व और सासादन यह दो गुणस्थान अथवा मतान्तर मे आदि के तीन गुणस्थान—मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र गुणस्थान—माने जाते हैं। अज्ञानत्रिक मे दो या तीन गुणस्थान मानने सम्बन्धी मतभिन्नता कार्मग्रथिक है। सिद्धात मे तो सासादन को ज्ञान रूप माना है। अत. अज्ञानत्रिक मे पहला मिथ्यात्व गुणस्थान बताया है। लेकिन कुछ एक कार्मग्रथिक आचार्यों ने अज्ञानत्रिक मे आदि के दो गुणस्थान और कुछ एक ने तीन गुणस्थान माने है। इस प्रकार से अज्ञानत्रिक में दो या तीन गुणस्थान मानने सम्बन्धी दो मत है।[१] इन दोनो मतो का दृष्टिकोण नीचे लिखे अनुसार है—

अज्ञानत्रिक मे मिथ्यात्व और सासादन यह दो गुणस्थान मानने वाले आचार्यों का अभिप्राय यह है कि तीसरे मिश्र गुणस्थान के समय भले ही शुद्ध सम्यक्त्व—यथार्थ रूप से वस्तु तत्त्व का निर्णय—न हो किन्तु उस गुणस्थान मे मिश्रदृष्टि होने से यर्थाथ ज्ञान की थोड़ी-बहुत मात्रा रहती है। क्योकि मिश्रदृष्टि के समय जब मिथ्यात्व का उदय अधिक प्रमाण मे रहता है तब तो अज्ञान का अश अधिक और ज्ञान का अश अल्प होता है। लेकिन जब मिथ्यात्व का उदय मद और सम्यक्त्व पुद्गलो का उदय तीव्र रहता है तब ज्ञान की मात्रा अधिक और अज्ञान की मात्रा अल्प होती है।[२] इस

---

१ दिगम्बर साहित्य मे अज्ञानत्रिक मे पहले दो गुणस्थान माने हैं—
थावरकायप्पहुदी मदिसुदअण्णाणय विभगो दु।
सण्णीपुण्णप्पहुदी सासणसम्मोत्ति णायव्वो ॥ —गो० जीवकाड ६८७

२ मिथ्यात्वाधिकस्य मिश्रदृष्टेरज्ञानबाहुल्य सम्यक्त्वाधिकस्य पुन. सम्यग्ज्ञान-बाहुल्यमिति। —जिनवल्लभीय षडशीति टीका
—मिथ्यात्व अधिक होने पर मिश्रदृष्टि मे अज्ञान की बहुलता और सम्यक्त्व अधिक होने पर ज्ञान की बहुलता होती है।

प्रकार से मिश्रदृष्टि की चाहे कैसी भी अवस्था हो, किन्तु उसमें न्यून-अधिक प्रमाण में ज्ञान सम्भव होने के कारण उस समय के ज्ञान को अज्ञान न मानकर ज्ञान मानना उचित है। इसीलिये अज्ञानत्रिक में दो गुणस्थान मानना चाहिये।[1]

अज्ञानत्रिक में तीन गुणस्थान मानने वाले आचार्यों का आशय यह है कि तीसरे गुणस्थान के समय यद्यपि अज्ञान को ज्ञान मिश्रित कहा है।[2] तथापि मिश्रज्ञान को ज्ञान मानना उचित नहीं है, अज्ञान ही मानना चाहिये। क्योंकि शुद्ध सम्यक्त्व के बिना कैसा भी ज्ञान हो, वह अज्ञान ही है। यदि सम्यक्त्व के अंश के कारण तीसरे गुणस्थान में ज्ञान को अज्ञान न मानकर ज्ञान मान लिया जाये तो दूसरे गुणस्थान में भी सम्यक्त्व का अंश होने से ज्ञान को अज्ञान न मानकर ज्ञान मानना पड़ेगा। लेकिन यह इष्ट नहीं है और इसका कारण यही है कि अज्ञानत्रिक में दो गुणस्थान मानने वाले भी दूसरे गुणस्थान में मति आदि को अज्ञान मानते हैं। इस कारण सासादन की तरह मिश्र गुणस्थान में भी मति आदि को अज्ञान मानकर अज्ञानत्रिक में तीन गुणस्थान मानना उचित है।[3]

---

१ अज्ञानत्रिके प्रथमद्वे गुणस्थानके भवत न मिश्रमपि। यतो यद्यपि मिश्रगुणस्थानके यथावस्थितवस्तुतत्त्वनिर्णयो नास्ति तथापि न वा यथानायथ सम्यग्ज्ञानलेशाव्यामिश्रत्वाद् अतएव न मिश्र गुणस्थान कमभिधीयते। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १४७

२ मिस्सम्मी वा मिस्सा। —पंचसंग्रह १।२०
मिश्रज्ञान से मिश्रित अज्ञान ही होता है शुद्ध ज्ञान नहीं होता है।

३ अन्ये पुनराहुः—अज्ञानत्रिके त्रीणि गुणस्थानानि ज्ञानव्यामिश्राण्य ज्ञानानि प्राप्यन्ते न शुद्धज्ञानानानि तथापि वा अज्ञानान्येव शुद्धसम्यक्त्व मूलत्वाज्ज्ञानस्य प्रसिद्धत्वात् अन्यथाहि यद्यशुद्धसम्यक्त्वस्यापि ज्ञान मभ्युपगम्यते तदा सास्वादनस्यापि ज्ञानाभ्युपगम स्यात् न चैतदस्ति

अचक्षुदर्शन और चक्षुदर्शन मे पहले मिथ्यात्व से लेकर वारहवें क्षीणमोह पर्यन्त वारह गुणस्थान माने हैं। वे इस अभिप्राय से माने जाते हैं कि उक्त दोनों दर्शन क्षायोपशमिक हैं और क्षायोपशमिक भाव क्षायिक भाव के पूर्व तक पाये जाते हैं। क्षायिक भाव तेरहवें और चौदहवे गुणस्थान मे तथा क्षायोपशमिक भाव वारहवे गुणस्थान तक पाये जाते हैं और क्षायिक भाव होने पर क्षायोपशमिक भाव का अभाव हो जाता है। उन दोनों का साहचर्य नही रहता है।

यथाख्यात संयम में अन्तिम चार गुणस्थान हैं—'अहखाइ चरम चउ।' मोहनीय कर्म का उदयभाव ग्यारहवे उपशान्त मोह गुणस्थान से लेकर चौदहवे अयोगि केवली गुणस्थान तक चार गुणस्थानों मे रहने के कारण यथाख्यात सयम मे अन्त के चार गुणस्थान माने जाते है।

मणनाणि सग जयाई समइय छेय चउ दुन्नि परिहारे।
केवलदुगि दो चरमाऽजयाइ नव मइसु ओहिदुगे ॥२१॥

शब्दार्थ—**मणनाणि**—मनपर्याय ज्ञान मे, **सग**—सात, **जयाई**—प्रमत्तसयत आदि, **समइय**—सामायिक, **छेय**—छेदोपस्थापना, **चउ**—चार, **दुन्नि**—दो, **परिहारे**—परिहारविशुद्धिसयम मे, **केवलदुगि**—केवल द्विक मे, **दो**—दो, **चरमा**—अंत के, **अजयाइ**—अविरति आदि, **नव**—नौ, **मइसुओहिदुगे**—मति श्रुत ज्ञान और अवधिद्विक मे।

गाथार्थ—मनपर्याय ज्ञान मे प्रमत्तसंयत आदि सात, सामायिक तथा छेदोपस्थापनीय संयम मे प्रमत्तसंयत आदि चार, परिहारविशुद्धिसयम मे प्रमत्तसयत आदि दो तथा केवल-

---

तस्याज्ञानित्वेनानन्तरमेवेह प्रतिपादितत्वात् तस्माद् अज्ञानत्रिके प्रथम गुणस्थानकत्रयमवाप्यत इति।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १४८

द्विक मे अन्त के दो गुणस्थान होते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिद्विक—अवधिज्ञान, अवधिदर्शन—इन चार मार्गणाओं मे अविरति आदि नौ गुणस्थान हैं।

विशेषार्थ—गाथागत 'जयाई' पद का 'प्रमत्तसयत' नामक छठा गुणस्थान अर्थ है और इस छठे गुणस्थान को आदि मानकर मनपर्याय ज्ञान मे सात, सामायिक, छेदोपस्थापना सयम मे चार, परिहार-विशुद्धिसयम मे दो गुणस्थान बतलाये है। केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण का आत्यन्तिक क्षय अन्तिम दो गुणस्थानो मे होने से केवलद्विक मे अन्त के दो तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान तथा अवधिद्विक इन चार के क्षायोपशमिक भाव होने से चौथे अविरति आदि नौ गुणस्थान कहे हैं।

मनपर्याय ज्ञान की प्राप्ति तो सातवें गुणस्थान मे होती है और मनपर्याय ज्ञानी प्रमत्तसयत से लेकर क्षीणमोह गुणस्थान तक पाये जाते है। इसीलिये छठे से लेकर बारहवे गुणस्थान तक सात गुणस्थान माने है।

मनपर्याय ज्ञान की प्राप्ति प्रमादरहित सर्वविरति-सयम सापेक्ष है और परिपूर्ण सयम पालन के अधिकारी मनुष्य है। क्योकि देव और नारक अपनी स्वभावगत विशेषता से सयम पालन करने मे सक्षम नही हैं और तिर्यच भी एकदेश चारित्र पालन कर सकते है। मनुष्यो मे भी सभी प्रकार के मनुष्यो को नही लेकिन उनमे पाया जाता है जो कर्मभूमिज सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त, गर्भज, सम्यग्दृष्टि, सर्वविरति है और प्रवर्धमान चारित्र वाले है।

सामायिक से लेकर यथाख्यात पर्यन्त पाँचो सयमो के लिये यह सामान्य नियम है कि इनका पालन सयत मुनि करते है और उनकी प्राप्ति भी सर्वसयम सापेक्ष है। लेकिन भेदो की अपेक्षा उनमे पाये जाने वाले गुणस्थानो की सख्या नीचे लिखे अनुसार समझनी चाहिये।

पहले मिथ्यात्व गुणस्थान मे विभंगज्ञान संभव है, दूसरे आदि में नही। इसीलिये दूसरे आदि ग्यारह गुणस्थानों मे अवधिज्ञान के साथ और पहले गुणस्थान मे विभगज्ञान के साथ अवधिदर्शन का साहचर्य मानकर एक से वारह तक गुणस्थान माने जाते है। अवधिज्ञानी और विभगज्ञानी के दर्शन मे निराकारता अश समान ही है। इसी-लिए विभगज्ञानी के दर्शन का विभंगदर्शन ऐसा अलग नाम न रखकर अवधिदर्शन ही नाम रखा है।

कार्मग्रन्थिक विद्वानो के अवधिदर्शन में चौथे से वारह तक नौ गुणस्थान तथा तीसरे से वारह तक दस गुणस्थान[1] मानने सम्वन्धी दोनो पक्षो के कथन का सारांश इस प्रकार है कि—

१. पहला पक्ष चौथे से लेकर वारहवे तक नौ गुणस्थानो मे अवधिदर्शन मानता है। यह पक्ष प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ गाथा २९ मे भी निर्दिष्ट है। जिसके आधार से इस ग्रथ मे श्रीमद् देवेन्द्रसूरि ने मूल और टीका मे चौथे से लेकर वारह तक नौ गुणस्थान माने हैं जो पहले तीन गुणस्थानो मे अज्ञान मानने वाले कार्मग्रथिकों को मान्य है। इस पक्ष का सकेत सर्वार्थसिद्धि टीका (तत्त्वार्थसूत्र १७) मे भी किया गया है—

अवधिदर्शने असयत सम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि।

---

१ गो० जीवकाड मे भी दोनो पक्षो का सकेत गा० ६९१ और ७०५ मे किया गया है—

चउरक्खयावराविरद सम्माइट्ठी दु खीणमोहो त्ति।
चक्खु अचक्खु ओही जिण सिद्धे केवल होदि ॥६९१
दोण्हं पंच य छच्चेव दोसु मिस्सम्मि होति वामिस्सा।
सत्तुव जोगा मत्तसु दो चेव जिणे य सिद्धे य ॥७०५

२ दूसरा पक्ष तीसरे आदि दस गुणस्थानों में अवधिदर्शन मानता है। यह पक्ष इसी ग्रन्थ की ४८वी गाथा तथा प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ की गाथा ७० ७१ में निर्दिष्ट है। यह पक्ष पहले दो गुणस्थान तक अज्ञान तथा मिश्रित दृष्टि को ज्ञान मानने वाले कार्मग्रन्थिक विद्वानों को मान्य है।

इन दोनो पक्षों का तात्पर्य इस प्रकार है कि पहले तीन गुणस्थानों में अज्ञान मानने वाले और पहले दो गुणस्थानो में अज्ञान मानने वाले दोनों प्रकार के कार्मग्रन्थिक विद्वान अवधिज्ञान से अवधिदर्शन को अलग मानते हैं पर विभंगज्ञान से अवधिदर्शन का उपयोग अलग नही मानते हैं। इसका कारण यह है कि जैसे विभंगज्ञान से विषय का यथार्थ ज्ञान नही होता है वैसे ही मिथ्यात्व युक्त अवधिदर्शन से भी विषय का यथार्थ ज्ञान नही होता है। इस अभेद-विवक्षा के कारण पहले मत के अनुसार चौथे से बारह तक और दूसरे मत के अनुसार तीसरे से बारह गुणस्थान तक अवधिदर्शन माना जाता है।

इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हैं कि विशेष अवधि उपयोग से सामान्य उपयोग भिन्न है इसलिये जिस प्रकार अवधि उपयोग वाले सम्यग्दृष्टि में अवधिज्ञान और अवधिदर्शन दोनों अलग-अलग हैं उसी प्रकार अवधि उपयोग वाले अज्ञानी में भी विभंगज्ञान और अवधिदर्शन ये दोनों वस्तुतः भिन्न हैं, तो भी विभंगज्ञान और अवधिदर्शन इन दोनों के पारस्परिक भेद की अविवक्षा मात्र है। भेद विवक्षित न करने का कारण दोनों का साहचर्यमात्र है। अर्थात् जैसे विभंगज्ञान विषय का यथार्थ निश्चय नहीं कर सकता वैसे ही अवधिदर्शन भी सामान्य रूप होने के कारण विषय का निश्चय नहीं कर सकता है। इसी अभेद विवक्षा के कारण पहले मत के अनुसार चौथे

आदि नौ गुणस्थानो मे और दूसरे मत के अनुसार तीसरे आदि दस गुणस्थानो मे अवधिदर्शन समझना चाहिए।

कार्मग्रथिक पक्ष विभगज्ञान और अवधिदर्शन इन दोनों के भेद की विवक्षा नही करता है किन्तु सैद्धातिक पक्ष करता है।

अड उवसमि चउ वेयगि खइगे इक्कार मिच्छतिगि देसे।
सुहुमे य सठाणं तेर जोग आहार सुक्काए ॥२२॥

शब्दार्थ—**अड**—आठ, **उवसमि**—औपशमिक मे, **चउ**—चार, **वेयगि**—वेदक, क्षायोपशमिक मे, **खइगे**—क्षायिक मे, **इक्कार**—ग्यारह, **मिच्छतिगि**—मिथ्यात्वत्रिक मे, **देसे**—देशविरति मे, **सुहुमे**—सूक्ष्म-सपराय मे, **य**—और, **सठाणं**—अपने-अपने नाम वाला गुणस्थान, **तेर**—तेरह, **जोग**—योगमार्गणा मे, **आहार**—आहारक मार्गणा मे, **सुक्काए**—शुक्ल लेश्या मे।

गाथार्थ—औपशमिक सम्यक्त्व मे आठ, वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व मे चार, क्षायिक सम्यक्त्व मे ग्यारह तथा मिथ्यात्वत्रिक—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र एव देश विरति, सूक्ष्मसपराय मे अपने-अपने नाम वाले तथा योग, आहारक और शुक्ल लेश्या मे तेरह गुणस्थान होते है।

विशेषार्थ—गाथा मे सम्यक्त्व मार्गणा के भेदो के साथ-साथ सयम, योग, आहारक व लेश्या मार्गणा के भेदों मे गुणस्थानो की सख्या वतलाई है। सम्यक्त्व मार्गणा के औपशमिक आदि छह भेदो के नाम पहले वतलाये जा चुके हैं। उनमे गुणस्थानो की सख्या नीचे लिखे अनुसार है।

सम्यक्त्व प्राप्ति की प्रारभिक भूमिका अविरति सम्यग्दृष्टि नामक चौथा गुणस्थान है, अत. औपशमिक सम्यक्त्व आदि मे गुणस्थानों की सख्या की गणना चौथे अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से प्रारम्भ करनी चाहिये।

औपशमिक सम्यक्त्व में आठ गुणस्थान 'अड उवसमि' हैं। अर्थात् औपशमिक सम्यक्त्व में चौथे से लेकर ग्यारहवें तक आठ गुणस्थान होते हैं। इनमें से चौथा आदि चार गुणस्थान ग्रंथिभेद-जन्य प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय और आठवें से लेकर ग्यारहवें तक चार गुणस्थान उपशम श्रेणि के समय होते हैं। इन दोनों प्रकार के औपशमिक सम्यक्त्व के कुल मिलाकर आठ गुणस्थान होते हैं जो औपशमिक सम्यक्त्व में माने जाते हैं।

वेदक सम्यक्त्व यानी क्षायोपशमिक सम्यक्त्व। यह सम्यक्त्व श्रेणि आरोहण के पूर्व तक ही रहता है और तभी होता है जब सम्यक्त्व मोहनीय का उदय हो। श्रेणि का आरम्भ आठवें गुणस्थान से होता है तथा सम्यक्त्व मोहनीय का उदय उससे पूर्व गुणस्थान अर्थात् सातवें तक रहता है। इसीलिये वेदक सम्यक्त्व में चौथे से लेकर सातवें तक चार गुणस्थान समझना चाहिये।

क्षायिक सम्यक्त्व चौथे-पाँचवें आदि गुणस्थान में प्राप्त होता है और प्राप्ति के बाद सदा के लिये रहता है। इसीलिये इसमें 'खइगे इयार' चौथे आदि ग्यारह गुणस्थान कहे गये हैं।

'मिच्छतिगि देस सुहुमे य सठाण'—यानी सम्यक्त्व मार्गणा के मिथ्यात्वत्रिक—मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीन भेदों में क्रमशः अपने-अपने नाम वाला पहला, दूसरा, तीसरा तथा संयम मार्गणा के भेद देशविरति व सूक्ष्मसंपराय संयम में पाँचवाँ, दसवाँ एक-एक गुणस्थान होता है। क्योंकि पहला गुणस्थान मिथ्यात्व रूप, दूसरा सासादन भाव रूप, तीसरा मिश्रदृष्टि रूप, पाँचवाँ ही देशविरति रूप और दसवाँ ही सूक्ष्मसंपराय रूप है। इसीलिए मिथ्यात्व आदि में एक-एक गुणस्थान कहा गया है।

योग मार्गणा के भेद—मनोयोग वचनयोग और काययोग इन

तीन योगो[1] तथा आहारक[2] तथा शुक्ललेश्या मे मिथ्यात्व से लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान होते है। क्योकि चौदहवे अयोगिकेवलिगुणस्थान मे न तो किसी प्रकार का योग रहता है, न किसी प्रकार का आहार ग्रहण किया जाता है और न लेश्या ही रहती है। इसीलिये इन मार्गणाओ मे तेरह गुणस्थान माने है।

---

१ योगमार्गणा मे गुणस्थानो का कथन मनोयोग आदि सामान्य योगो की अपेक्षा से किया गया है। उनके अवान्तर भेदो की अपेक्षा गुणस्थान इस प्रकार हैं—

१ सत्यमन, असत्यामृपामन, सत्यवचन, असत्यामृपावचन और औदारिक काययोग इन पाँच योगो मे तेरह गुणस्थान होते है।
२ असत्यमन, मिश्रमन, असत्यवचन, मिश्रवचन, इन चार योगो मे पहले बारह गुणस्थान होते है।
३ औदारिकमिश्रयोग तथा कार्मण काययोग मे पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवाँ ये चार गुणस्थान है।
४ वैक्रिय काययोग में पहले सात और वैक्रियमिश्र काययोग मे पहला, दूसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा ये पाँच गुणस्थान हैं।
५ आहारक काययोग मे छठा और सातवाँ ये दो गुणस्थान और आहारकमिश्र काययोग मे सिर्फ छठा गुणस्थान होता है।

२ तेरहवें गुणस्थान मे आहारकत्व को दिगम्बर साहित्य मे भी माना है—
आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्ट्यादीनि सयोगकेवल्यन्तानि।

—सर्वार्थ सिद्धि टीका, १।८

तेरहवें गुणस्थान मे असातावेदनीय का उदय भी दोनो सम्प्रदाय के साहित्य मे माना है तथा आहारसज्ञा न होने पर भी कार्मणशरीर नाम-कर्म के उदय से कर्म पुद्गलो की तरह औदारिक शरीर नामकर्म के उदय से औदारिक पुद्गलो का ग्रहण दिगम्बर ग्रन्थो मे माना है। इस तरह केवलज्ञानी मे आहारकत्व उसका कारण असातावेदनीय का उदय और औदारिक पुद्गलो का ग्रहण दोनो सम्प्रदायो मे समान रूप से मान्य है।

अस्सन्निसु पढमदुगं पढमतिलेसासु छच्च दुसु सत्त।
पढमतिमदुगअजया, अणहारे मग्गणासु गुणा ॥२३॥

शब्दार्थ—अस्सन्निसु—असंज्ञी मार्गणा में, पढमदुगं—आदि के दो, पढम तिलेसासु—पहली तीन लेश्याओं में, छच्च—छह, दुसु—बाद की दो में, सत्त—सात, पढमतिम दुग अजया—पहले और अंतिम दो-दो तथा अविरति, अणहारे—अनाहारक मार्गणा में, मग्गणासु—मार्गणाओं में, गुणा—गुणस्थान।

गाथार्थ—असंज्ञियों में पहले दो गुणस्थान होते हैं। कृष्ण आदि तीन लेश्याओं में पहले छह तथा बाद की दो लेश्याओं में सात, अनाहारक मार्गणा में पहले दो, अंतिम दो और अविरति गुणस्थान होते हैं। इस प्रकार से मार्गणाओं में गुणस्थानों का कथन किया गया है।

विशेषार्थ—इस गाथा में पूर्वोक्त मार्गणाओं के अवान्तर भेदों से शेष रहे भेदों में गुणस्थानों की संख्या बतलाकर मार्गणाओं में गुणस्थान के कथन की समाप्ति का संकेत किया है। शेष रहे मार्गणाओं के अवान्तर भेदों के नाम यह हैं—असंज्ञी, कृष्ण, नील, कापोत, तेज और पद्म लेश्या, अनाहारकत्व।

असंज्ञी में पहले दो गुणस्थान होते हैं। पहला गुणस्थान तो सामान्यतः सभी असंज्ञी जीवों को होता है, दूसरा गुणस्थान लब्धि-पर्याप्तकों को करण-अपर्याप्त अवस्था में होता है।[1] क्योंकि लब्धि-अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदि में कोई जीव सासादन भाव सहित आकर जन्म ग्रहण नहीं करता है।

---

१ मिथ्यात्वमविशेषेण सर्वत्र द्रष्टव्यम्, सासादनं तु लब्धिपर्याप्तानाम् करणापर्याप्तावस्थायामिति।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १४६

कृष्ण, नील और कापोत इन तीन लेश्याओं में छह गुणस्थान माने जाते हैं। इनमें से पहले चार गुणस्थान तो ऐसे हैं जिनकी प्राप्ति के समय और प्राप्ति के बाद भी उक्त तीन लेश्यायें होती हैं, परन्तु पाँचवाँ और छठा गुणस्थान सम्यक्त्वमूलक विरति रूप है और इनकी प्राप्ति तेजः आदि शुभ लेश्याओं के समय होती है, कृष्ण आदि अशुभ लेश्याओं के समय नहीं, तो भी प्राप्ति हो जाने के बाद परिणाम-शुद्धि कुछ घट जाने पर इन दो गुणस्थानों में अशुभ लेश्यायें भी आ जाती हैं।[1] इसीलिये कृष्ण आदि तीन लेश्याओं में पाँचवाँ और छठा यह दो गुणस्थान माने जाते हैं।

तेजोलेश्या और पद्मलेश्या में पहले मिथ्यात्व से लेकर सातवें अप्रमत्तसंयत तक यह सात गुणस्थान हैं। इसका कारण यह है कि यह दोनों लेश्यायें सातों गुणस्थानों को प्राप्त करने के समय (प्रतिपद्यमान स्थिति में) और प्राप्ति के बाद (पूर्वप्रतिपन्न) भी रहती हैं।

---

१ (क) सम्मत्तसुय सव्वासु लहइ सुद्धासु तीसु य चरित्तं ।
पुव्वपडिवन्नओ पुण अन्नयरीए उ लेसाए ॥
—आव० निर्युक्ति ८८२

—सम्यक्त्व की प्राप्ति सब लेश्याओं में होती है किन्तु चारित्र की प्राप्ति पिछली तीन शुद्ध लेश्याओं में होती है और चारित्र प्राप्त होने के बाद छह में से कोई भी लेश्या हो सकती है।

(ख) सामाइयसंजए णं भंते ! कइ लेसासु हुज्जा ? गोयमा ! छसु लेसासु होज्जा, एवं छेओवट्ठावणियसंजए वि। —भगवती २५।७

कहीं-कहीं कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याओं में पहले चार गुणस्थान ही माने जाते हैं, सो गुणस्थानों की प्राप्ति की अपेक्षा से यानी उक्त तीन लेश्याओं के समय पहले चार गुणस्थानों के सिवाय अन्य कोई गुणस्थान प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

सम्बन्धित विशेष जानकारी के लिये देखें पंचसंग्रह १।२६, ३०।—तृतीय कर्मग्रन्थ गा० २४ और गो० जीवकांड गा० ५३२।

अनाहारक मार्गणा में 'पढमतिम दुगअजया अणहारे' पद से आदि के दो—पहला मिथ्यात्व, दूसरा सासादन तथा अंतिम दो—तेरहवाँ सयोगिकेवली, चौदहवाँ अयोगिकेवली और चौथा अविरति यह पाँच गुणस्थान बतलाये हैं। अर्थात् पहला, दूसरा, चौथा, तेरहवाँ और चौदहवाँ गुणस्थान अनाहारक मार्गणा में होते हैं। इनमें से पहला, दूसरा और चौथा गुणस्थान तो विग्रहगति की अनाहारक-कालीन अवस्था की अपेक्षा से, तेरहवाँ गुणस्थान केवली समुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में होने वाली अनाहारकत्व अवस्था की अपेक्षा से और चौदहवाँ गुणस्थान योगनिरोधजन्य अनाहारकत्व की अपेक्षा से यानी योग का अभाव हो जाने से औदारिक, वैक्रिय, आहारक शरीरपोषक पुद्गलों को ग्रहण न करने की एवं उन-उन पुद्गलों का आगमन रुक जाने की अपेक्षा से समझना चाहिये।

तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान में केवली समुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में अनाहारकत्व माना है। अतः यहाँ केवली समुद्घात[1] संबंधी प्रक्रिया आदि पर विचार करते हैं।

केवलीसमुद्घात का स्वरूप

केवली समुद्घात सयोगिकेवली करते हैं। यह समुद्घात अन्त-र्मुहूर्त प्रमाण आयु शेष रहने पर वेदनीय आदि अघाति कर्मों की स्थिति व दलिक आयु कर्म की स्थिति और दलिक से अधिक होने पर उन्हें आयु कर्म की स्थिति आदि के बराबर करने के लिये किया जाता है।

---

[1] जैन दर्शन में वेदनीय आदि कर्मों को शीघ्र भोगने के लिए समुद्घात क्रिया मानी जाती है वैसे ही पातंजल योग दर्शन में 'बहुकाय निर्माण' क्रिया मानी है। जिसको तत्त्वसाक्षात्कर्ता योगी सोपक्रम कर्म शीघ्र भोगने के लिए करता है।
—देखिये पातं० सूत्र ३।२२ का भाष्य व वृत्ति, ४।४ का भाष्य व वृत्ति।

केवली समुद्घात रचने के पूर्व केवली द्वारा आयोजिकाकरण[1] रूप एक विशेष क्रिया की जाती है जो शुभयोग रूप है, स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और इसका कार्य उदयावलिका में कर्मदलिको का निक्षेप करना है।

केवली समुद्घात का कालमान आठ समय का है। इन आठ समय के कालमान के प्रथम समय मे आत्मा के प्रदेशों को शरीर से बाहर निकाल कर दडाकार रूप मे फैला दिया जाता है। इस दड की ऊँचाई लोक-प्रमाण होती है, अर्थात् लोक के ऊपर से लेकर नीचे तक चौदह राजू प्रमाण होती है, लेकिन मोटाई सिर्फ शरीर के बराबर। दूसरे समय मे उस दड को पूर्व-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण फैलाकर कपाट (किवाड) जैसा आकार बनाया जाता है।

तीसरे समय मे कपाटाकार आत्म-प्रदेशो को पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण दोनो तरफ फैलाया जाता है जिससे उनका आकार मथनी जैसा बन जाता है। चौथे समय मे विदिशाओ के खाली भाग को आत्मप्रदेशो से पूर्ण करके सम्पूर्ण लोक को व्याप्त किया जाता है।

उक्त चार समयो मे की गई प्रक्रिया के बाद पाँचवे समय मे लोकव्यापी आत्मप्रदेशो को सहरण करके पुनः मथनी के आकार का बनाया जाता है। छठे समय मे मथनी आकार के आत्मप्रदेशों को कपाटाकार, सातवे समय मे कपाटाकार प्रदेशो को दडाकार बनाया जाता

---

१ मोक्ष की ओर आवर्जित (झुकी हुई) आत्मा के द्वारा किये जाने से इसको आवर्जितकरण भी कहते है। सभी केवलज्ञानियो द्वारा किये जाने के कारण आवश्यककरण भी कहते है। श्वेताम्बर साहित्य मे आयोजिकाकरण आदि तीन संज्ञाये प्रसिद्ध हैं, लेकिन दिगम्बर साहित्य मे सिर्फ आवर्जितकरण प्रसिद्ध है। इन सज्ञाओ की विशद व्याख्या आदि के लिए देखिये—विशेष आवश्यक भाष्य गा० ३०५०-५१ व पचसग्रह १।१६ की टीका।

है और आठवे समय मे इन दडाकार आत्मप्रदेशो को उनकी यथार्थ स्थिति—शरीरस्थ—मे किया जाता है।

केवली समुद्घात के उक्त आठ समयो मे से तीसरे (मथनी), चौथे (लोकपूर्ण) और पाचवे (मथनी) समय मे नोकर्माहार ग्रहण नही होने से अनाहारक दशा मानी जाती है[1] और इसीलिये तेरहवा गुणस्थान अनाहारक मार्गणा मे ग्रहण किया है।

ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि तीसरे, बारहवे और तेरहवे इन तीन गुणस्थानो मे मरण नही होता है शेष ग्यारह गुणस्थानो म मरण सम्भव है। इस पर प्रश्न होता है कि जब उक्त ग्यारह गुणस्थानो मे मरण सम्भव है तब विग्रहगति मे पहला, दूसरा, चौथा ये तीन गुणस्थान कसे माने जा सकते हैं? इसका समाधान यह है कि पाचवाँ देशविरति आदि आगे के गुणस्थान विरति रूप हैं और विरति का सम्बन्ध वर्तमान भव के अंतिम समय तक ही रहता है, लेकिन विग्रहगति मे किसी प्रकार का सयम सम्भव नही होने से पहला, दूसरा और चौथा यह तीन गुणस्थान माने जाते हैं।

इस प्रकार से मार्गणाओ म गुणस्थान बतलाये गये हैं, जिनका विवरण नीचे लिखे अनुसार जानना चाहिये—

क्रम सख्या	मार्गणा नाम	गुणस्थान सख्या व नाम
	गतिमार्गणा	
१	१ नरक गति	४ मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरति
२	२ तिर्यंच गति	५ मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरति, देशविरति

१ णवदि समुग्घादगदे पदर तह लोगपूरण पदर।
णत्थि तिसमय णियमा णोकम्माहारय तत्थ॥ —क्षपणासार ६१९

३	३ मनुष्य गति	१४	मिथ्यात्व से अयोगिकेवलि पर्यन्त
४	४ देव गति	४	मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरति
	इन्द्रियमार्गणा		
५	१ एकेन्द्रिय	२	मिथ्यात्व, सासादन
६	२ द्वीन्द्रिय	२	,, ,,
७	३ त्रीन्द्रिय	२	,, ,,
८	४ चतुरिन्द्रिय	२	,, ,,
९	५ पचेन्द्रिय	१४	मिथ्यात्व आदि अयोगिकेवलि पर्यन्त
	कायमार्गणा		
१०	१ पृथ्वीकाय	२	मिथ्यात्व, सासादन
११	२ जलकाय	२	,, ,,
१२	३ तेजस्काय	१	मिथ्यात्व
१३	४ वायुकाय	१	,,
१४	५ वनस्पतिकाय	२	मिथ्यात्व, सासादन
१५	६ त्रसकाय	१४	मिथ्यात्व आदि अयोगि केवली पर्यन्त
	योगमार्गणा		
१६	१ मनोयोग	१३	मिथ्यात्व आदि सयोगिकेवली पर्यन्त
१७	२ वचनयोग	१३	,, ,,
१८	३ काययोग	१३	,, ,,
	वेदमार्गणा		
१९	१ पुरुष वेद	९	मिथ्यात्व आदि अनिवृत्ति वादर पर्यन्त
२०	२ स्त्री वेद	९	,, ,,
२१	३ नपुसक वेद	९	,, ,,
	कषायमार्गणा		
२२	१ क्रोध	९	मिथ्यात्व आदि अनिवृत्ति वादर पर्यन्त
२३	२ मान	९	,, ,,

२४	३ माया	९ मिथ्यात्व आदि अनिवृत्ति बादर पर्यन्त
२५	४ लोभ	१० मिथ्यात्व आदि सूक्ष्म संपराय पर्यन्त
	ज्ञानमार्गणा	
२६	१ मतिज्ञान	९ अविरति आदि क्षीणमोह पर्यन्त
२७	२ श्रुतज्ञान	९ " "
२८	३ अवधिज्ञान	९ " "
२९	४ मनपर्यायज्ञान	७ प्रमत्तसंयत आदि क्षीणमोह पर्यन्त
३०	५ केवलज्ञान	२ सयोगिकेवली, अयोगिकेवली
३१	६ मतिअज्ञान	२ या ३ मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र
३२	७ श्रुतअज्ञान	२ या ३ " " "
३३	८ अवधिअज्ञान (विभंगज्ञान)	२ या ३ मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र
	संयममार्गणा	
३४	१ सामायिक	४ प्रमत्तसंयत आदि अनिवृत्ति बादर पर्यन्त
३५	२ छेदोपस्थापनीय	४ प्रमत्तसंयत आदि अनिवृत्ति बादर पर्यन्त
३६	३ परिहारविशुद्धि	२ प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत
३७	४ सूक्ष्मसंपराय	१ सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान
३८	५ यथाख्यात	४ उपशान्त मोह आदि अयोगिकेवली पर्यन्त
३९	६ देशविरति	१ देशविरति गुणस्थान
४०	७ अविरति	४ मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरति
	दर्शनमार्गणा	
४१	१ चक्षुदर्शन	१२ मिथ्यात्व आदि क्षीणमोह पर्यन्त
४२	२ अचक्षुदर्शन	१२ " "

४३.	३ अवधिदर्शन	९	अविरति आदि क्षीणमोह पर्यन्त
४४	४ केवलदर्शन	२	सयोगि केवली, अयोगि केवली
	लेश्यामार्गणा		
४५	१ कृष्णलेश्या	६	मिथ्यात्व आदि प्रमत्तसंयत पर्यन्त
४६	२ नीललेश्या	६	" "
४७	३ कापोतलेश्या	६	" "
४८	४ तेजोलेश्या	७	मिथ्यात्व आदि अप्रमत्तसंयत
४९	५ पद्मलेश्या	७	" " "
५०	६ शुक्ललेश्या	१३	मिथ्यात्व आदि सयोगिकेवली पर्यन्त
	भव्यमार्गणा		
५१	१ भव्यत्व	१४	मिथ्यात्व आदि अयोगिकेवली पर्यन्त
५२	२ अभव्यत्व	१	मिथ्यात्व
	सम्यक्त्वमार्गणा		
५३	१ औपशमिक	८	अविरति आदि उपशातमोह पर्यन्त
५४	२ क्षायोपशमिक	४	अविरति आदि अप्रमत्तविरत पर्यन्त
५५	३ क्षायिक	११	अविरति आदि अयोगिकेवली पर्यन्त
५६	४ मिश्र	१	मिश्र गुणस्थान
५७	५ सासादन	१	सासादन गुणस्थान
५८	६ मिथ्यात्व	१	मिथ्यात्व गुणस्थान
	सञ्ज्ञीमार्गणा		
५९	१ सञ्ज्ञित्व	१४	मिथ्यात्व आदि अयोगिकेवली पर्यन्त
६०.	२ असञ्ज्ञित्व	२	मिथ्यात्व, सासादन
	आहारमार्गणा		
६१.	१ आहारक	१३	मिथ्यात्व आदि सयोगिकेवली पर्यन्त
६२	२ अनाहारक	५	मिथ्यात्व, सासादन, अविरति, सयोगि केवली, अयोगि केवली

अब आगे की गाथाओ मे मार्गणाओ मे योगो की संख्या बतलाते हैं—

मार्गणाओ मे योग

सच्चेयर मीस असच्चमोस मण वइ विउव्वियाहारा ।
उरल मीसा कम्मण इय जोगा कम्ममणहारे ॥२४॥

शब्दार्थ—सच्च—सत्य, इयर—इतर-असत्य मीस—मिश्र (सत्यासत्य), असच्चमोस—असत्यामृषा, मण—मनोयोग, वइ—वचनयोग विउव्वियाहारा—वैक्रिय, आहारक, उरल—औदारिक, मीसा—मिश्र, कम्मण—कार्मण, इय—इस तरह जोगा—योग, कम्म—कार्मण योग, अणहारे—अनाहारक मार्गणा मे।

गाथार्थ—सत्य, असत्य, मिश्र (सत्यासत्य) और असत्यामृषा ये चार चार भेद मनोयोग और वचनयोग के हैं। वैक्रिय, आहारक, औदारिक तथा इन तीनो के मिश्र और कार्मण यह काययोग के भेद हैं। अनाहारक मार्गणा में कार्मण योग होता है।

विशेषार्थ—मार्गणाओ मे योगो को बतलाने के पूर्व गाथा मे योग के मूलभेद मनोयोग, वचनयोग और काययोग के अवान्तर भेदो के नाम बताये हैं। योगो के उत्तर-भेदो को बतलाने का कारण यह है कि सामान्यत योग तो सभी संसारी जीवो मे पाये जाते हैं, लेकिन गति, इन्द्रिय, काय आदि की अपेक्षा उनके योगो मे भिन्नता होती है और इस भिन्नता का बोध योगो के भेद द्वारा ही स्पष्ट किया जा सकता है। मनोयोग के ४, वचनयोग के ४ और काययोग के ७ भेद होते हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

मनोयोग—(१) सत्य मनोयोग, (२) असत्य मनोयोग, (३) मिश्र मनोयोग (उभय), (४) असत्यामृषा मनोयोग (अनुभय)।

वचनयोग—(१) सत्य वचनयोग, (२) असत्य वचनयोग, (३) सत्यासत्य (मिश्र, उभय) वचनयोग, (४) असत्यामृषा वचनयोग।

काययोग—(१) औदारिक, (२) औदारिकमिश्र, (३) वैक्रिय, (४) वैक्रियमिश्र, (५) आहारक, (६) आहारकमिश्र, (७) कार्मण।

उक्त भेदो के लक्षण क्रमश नीचे लिखे अनुसार जानना चाहिये—

मनोयोग के भेदो का स्वरूप

सत्य मनोयोग—जिस मनोयोग के द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का विचार किया जाता है। जैसे जीव द्रव्यार्थिक नय से नित्य है और पर्यायार्थिक नय से अनित्य।

असत्य मनोयोग—जिस मनोयोग के द्वारा वस्तु के स्वरूप का विपरीत चिन्तन हो, वह असत्य मनोयोग है। जैसे जीव नित्य ही है, एक ही है, इत्यादि।

मिश्र मनोयोग—किसी अश मे यथार्थ और किसी अश मे अयथार्थ ऐसा चितन जिस मनोयोग के द्वारा हो उसे मिश्र मनोयोग कहते है। जैसे किसी मे गुण-दोष दोनो होने पर भी उसे सिर्फ दोषी या गुणी समझना। अथवा वन मे आम, नीम, जामुन आदि सभी प्रकार के वृक्षो के होने पर भी उसे आम, नीम या जामुन का वन मानना। मिश्र मनोयोग को सत्यासत्य मनोयोग भी कहते हैं।

असत्यामृपा मनोयोग—जिस मनोयोग का चितन विधि-निषेध शून्य हो, जो चिंतन न तो किसी वस्तु की स्थापना करता हो और न निषेध उसे असत्यामृपा मनोयोग कहते है। इस मनोयोग मे न सत्य का निर्णय होता है और न असत्य का, इसीलिये ऐसे मनोयोग का नाम असत्यामृपा मनोयोग है[१]।

---

१ न विद्यते सत्य यत्र सोऽसत्य. न विद्यते मृषा यत्र सोऽमृष, असत्यश्चासावमृषश्च इति असत्यामृष., असत्यामृषश्चासौ मनोयोगश्च असत्यामृषमनोयोगः।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १५१

मनोयोग के उक्त चार भेद व्यवहारनय सापेक्ष हैं, क्योंकि निश्चयनय की अपेक्षा सभी प्रकार के चिन्तन का समावेश सत्य और असत्य इन दो विकल्पो मे हो जाता है। अर्थात जिस मनोयोग मे किंचिमात्र भी छल-कपट आदि हैं, वह असत्य ही है और इसके विपरीत चिंतन यानी किसी भी प्रकार का छल-कपट आदि नही है वह सत्य है। छल-कपट मिश्रित मनोयोग असत्य मनोयोग और छल-कपट विहीन मनोयोग सत्य मनोयोग ही है।

वचनयोग के भेदो का स्वरूप

सत्य वचनयोग—जिस वचनयोग के द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का कथन किया जाता है वह सत्य वचनयोग है। जसे जीव सद्रूप भी है और असद्रूप भी। निश्चयनय की अपेक्षा सद्रूप और व्यवहारनय की अपेक्षा असद्रूप।

असत्य वचनयोग—किसी वस्तु को अयथाथ सिद्ध करन वाले वचनयोग को असत्य वचनयोग कहते हैं। जसे आत्मा का अस्तित्व नही है, लोक-परलोक नही है, इत्यादि।

मिश्र वचनयोग—अनेक रूप वाली वस्तु को एक रूप मे प्रतिपादन करन वाला वचनयोग, मिश्र वचनयोग है।

असत्यामृषा वचनयोग—जो वचनयोग किसी वस्तु के स्थापन-उत्थापन के लिये प्रवृत्त नही होता वह असत्यामृषा वचनयोग कहलाता है।

मनोयोग की तरह तात्त्विक दृष्टि से वचनयोग के भी सत्य और असत्य यह दो भेद ह। वचनयोग के चार भेद व्यवहारनय की अपेक्षा से माने जाते ह।

काययोग के भेदो का स्वरूप

औदारिक काययोग—जिस शरीर को तीथकर आदि महापुरुष धारण करते हैं, जिससे मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, जो औदारिक

वर्गणाओ से निष्पन्न मास-हड्डी आदि अवयवों से बना होता है, स्थूल है, आदि वह औदारिक शरीर[1] कहलाता है। औदारिक शरीर के वीर्य—शक्ति के व्यापार को औदारिक काययोग कहते है। यह योग औदारिक शरीरधारी जीवों को पर्याप्त अवस्था में होता है।

औदारिकमिश्र काययोग—औदारिक और कार्मण इन दोनो शरीरो की सहायता से होने वाले वीर्य—शक्ति के व्यापार को औदारिकमिश्र काययोग[2] कहते है। यह योग उत्पत्ति के दूसरे समय से लेकर अपर्याप्त दशा मे अथवा केवलि समुद्घात में दूसरे, छठे और सातवें समय में होता है[3]।

वैक्रिय काययोग—अनेक प्रकार की विविध क्रियायें करने मे समर्थ तथा वैक्रिय शरीर वर्गणाओ से निष्पन्न शरीर को वैक्रिय शरीर कहते हैं। इस शरीर के द्वारा कभी एक रूप, कभी अनेक रूप, कभी छोटा, कभी बडा, कभी आकाशगामी, कभी भूमिगामी, कभी दृश्य और कभी अदृश्य आदि अनेक प्रकार की विक्रियाएँ होती हैं। ऐसा शरीर देव

---

१ तत्थोदारमुराल आरोलमहव महल्लगत्तेण।
ओरालियं ति पटम पडुच्च तित्थेसरसरीर॥
भण्णइ य तहोरालं वित्थरवत वणस्सतिं पप्प।
पयईइ नत्थि अन्न इद्दहमित्त विसालं ति॥
उरल थेवपएसोवचियं पि महल्लगं जहा भिंड।
मंसट्ठिण्हारुबद्ध ओरालं समयपरिभासा॥

—अनुयोगद्वार, हारि० टीका

२ औदारिकं मिश्र यत्र कार्मणेनेति गम्यते स औदारिकमिश्रः।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १५३

३ कार्मग्रन्थिक मतानुसार अपर्याप्त अवस्था मे तथा केवली समुद्घात अवस्था मे औदारिकमिश्र काययोग होता है। लेकिन सिद्धात में उक्त दोनो अवस्थाओ के सिवाय उत्तर वैक्रिय के आरम्भ काल में मनुष्य और तिर्यंचों को तथा आहारक के प्रारम्भ काल मे मनुष्यो को होता है।

और नारकों को जन्म समय से ही प्राप्त होता है, जिसे औपपातिक कहते हैं। मनुष्यों और तिर्यंचों द्वारा जिस वैक्रिय शरीर द्वारा विविध विक्रियायें की जाती हैं, उसे लब्धिप्रत्यय कहते हैं। यह लब्धिप्रत्ययिक वैक्रिय शरीर मनुष्य और तिर्यंचों को ही होता है।

वैक्रिय शरीर के द्वारा वीर्य—शक्ति का जो व्यापार होता है, वह वैक्रिय काययोग है।

वैक्रियमिश्र काययोग—वैक्रिय और कार्मण तथा वैक्रिय और औदारिक इन दो-दो शरीरों के मिश्रत्व के द्वारा होने वाला वीर्य—शक्ति का व्यापार वैक्रियमिश्र काययोग है। वैक्रिय और कार्मण के मिश्रत्व से बनने वाला वैक्रिय शरीर देवों और नारकों को उत्पत्ति के दूसरे समय से लेकर अपर्याप्त अवस्था तक रहता है तथा वैक्रिय व औदारिक इन दोनों के मिश्रत्व से होने वाला शरीर बादर पर्याप्त वायुकाय, गर्भज तिर्यंच और मनुष्यों को लब्धिजन्य वैक्रिय शरीर के प्रारम्भ और परित्याग के समय होता है[1]।

आहारक काययोग—चतुर्दश पूर्वधर मुनि विशिष्ट कार्य हेतु—जैसे किसी विषय में सन्देह उत्पन्न हो जाये अथवा तीर्थंकरादि की ऋद्धि दर्शन की इच्छा हो जाये, आहारक वर्गणा द्वारा जो शरीर बनाते हैं, उस आहारक शरीर और आहारक शरीर की सहायता से होने वाले वीर्य—शक्ति के व्यापार को आहारक काययोग कहते हैं।

आहारकमिश्र काययोग—आहारक और औदारिक इन दो शरीरों के द्वारा होने वाले वीर्य—शक्ति के व्यापार को आहारकमिश्र काययोग कहते हैं। आहारक शरीर धारण करने के तथा उसके परित्याग के समय आहारकमिश्र काययोग होता है। सिद्धान्त के मतानुसार सिर्फ प्रारम्भ (परित्याग) के समय ही होता है।

1 उक्त अभिप्राय कार्मग्रन्थिक है। सिद्धान्त की [illegible] के समय ही वैक्रियमिश्र होता है।

कार्मण काययोग—कार्मण शरीर की सहायता से होने वाली आत्म-शक्ति की प्रवृत्ति को कार्मण काययोग कहते हैं। यह योग विग्रहगति में और उत्पत्ति के प्रथम समय सभी जीवों को होता है और केवली-समुद्घात अवस्था में तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में होता है। यह शरीर सभी शरीरों का कारण है तथा कार्मण वर्गणाओं से बना हुआ होता है। अत्यन्त सूक्ष्म होने से जीव के एक गति से दूसरी गति में जन्म लेने हेतु जाते समय भी देखा नहीं जा सकता है।[१]

प्रश्न—तैजस नाम का भी एक शरीर है जो ग्रहण किए हुए आहार को पचाता है और विशिष्ट लब्धि वाले उससे तेजोलेश्या का प्रयोग कर सकते हैं तो कार्मण काययोग की तरह तैजस काययोग क्यों नहीं माना गया है?

उत्तर—तैजस और कार्मण शरीर सदा साथ ही रहते हैं। औदारिक आदि दूसरे शरीर तो कार्मण शरीर को छोड़ देते हैं किन्तु तैजस शरीर किसी भी समय उससे अलग नहीं होता है। इसलिये आत्म-शक्ति का जो व्यापार कार्मण शरीर के द्वारा होता है वही नियम से

---

१ कम्मविगारो कम्मणमट्ठविहविचित्तकम्मनिप्फन्नं।
सव्वेसिं सरीराणं कारणभूयं मुणेयव्वं॥
—अनुयोगद्वार, हारि० टीका

अन्य दार्शनिक ग्रन्थों में कार्मणशरीर को 'सूक्ष्म शरीर' या 'लिंग शरीर' कहा है—

अन्तरा भवदेहोऽपि सूक्ष्मत्वान्नोपलक्ष्यते।
निष्क्रामन् प्रविशन् वाऽपि नाभावोऽनीक्षणादपि॥
—प्रभाकर गुप्त

उक्तस्य सूक्ष्मशरीरस्य स्वरूपमाह—'सप्तदशैकं लिंगम्।'
—सांख्यदर्शन ३।९

तैजस शरीर द्वारा भी होता है। इसीलिये कार्मण काययोग में ही तैजस काययोग का समावेश कर लेने से तैजस काययोग अलग से नहीं माना जाता है।[1]

योग की उक्त व्याख्या कारण में कार्य का उपचार करके की है, योग अर्थात् आत्मा या जीव—शक्ति व्यापार। इस प्रकार से योग के पन्द्रह भेदों का स्वरूप कथन करने के बाद अब मार्गणाओं में योगों का विचार करते हैं।

मार्गणाओं में योग

मार्गणाओं में योगों का विचार अनाहारकत्व से प्रारम्भ किया है। ऊपर जो पन्द्रह योग बतलाये हैं उनमें से कार्मण काययोग ही ऐसा है जो अनाहारक अवस्था में पाया जाता है। शेष चौदह योग आहारक अवस्था में ही होते हैं। लेकिन यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यह कोई नियम नहीं है कि अनाहारक अवस्था में कार्मणयोग होता ही है। क्योंकि चौदहवें गुणस्थान में अनाहारक अवस्था होने पर भी किसी प्रकार का योग नहीं रहता है और यह भी नियम नहीं है कि कार्मणयोग के समय अनाहारक अवस्था अवश्य होती है क्योंकि उत्पत्ति क्षण में विग्रहगति के समय कार्मणयोग होने पर भी जीव अनाहारक नहीं होता है, वह कार्मणयोग के द्वारा ही आहार लेता है। लेकिन यह नियम है कि जब जीव की अनाहारक अवस्था होती है तब कार्मण

[1] ननु तैजसमपि शरीरं विद्यते, यद् भुक्ताहारपरिणमनहेतुः तथा, विशिष्ट तपोविशेषसमुद्भूतलब्धिविशेषस्य पुरुषस्य तेजोलेश्याविनिर्गम, तत् [illegible] [illegible] शरीर [illegible], सत्यम् [illegible], तस्य कार्मणेन सहाव्यभिचारि [illegible] [illegible] विवक्षितम्।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १५४

काययोग के सिवाय अन्य कोई योग नही होता है।[1] इसीलिये अनाहार मार्गणा मे सिर्फ कार्मण काययोग माना जाता है।

नरगइ पणिंदि तस तणु अचक्खु नर नपु कसाय सम्मदुगे।
सन्नि छलेसाहारग भव्व मइ सुओहिदुगि सव्वे ॥२५॥

शब्दार्थ—नरगइ—मनुष्य गति, पणिदि—पचेन्द्रिय, तस—त्रसकाय, तणु—काययोग, अचक्खु—अचक्षुदर्शन, नर—पुरुष वेद, नपु—नपुसक वेद, कसाय—कषाय, सम्मदुगे—सम्यक्त्वद्विक, सन्नि—सज्ञी, छलेसा—छह लेश्या, आहारग—आहारक, भव्व—भव्य, मइ—मतिज्ञान, सुअ—श्रुतज्ञान, ओहिदुगि—अवधिद्विक मे, सव्वे—सभी योग (होते है)।

गाथार्थ—मनुष्य गति, पचेन्द्रिय, त्रसकाय, काययोग, अचक्षुदर्शन, पुरुष वेद, नपुसक वेद, कषाय, सम्यक्त्वद्विक (क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व), संज्ञी, छह लेश्याओ, भव्य, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिद्विक (अवधिज्ञान, अवधिदर्शन) इन छब्बीस मार्गणाओं में सभी (पन्द्रह) योग होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे मनुष्यगति आदि छब्बीस मार्गणाओं में सभी योग कहे गये है। इन छब्बीस मार्गणाओ का सम्बन्ध मनुष्य के साथ है और मनुष्य मे सभी योग सम्भव है इसीलिये मनुष्यगति

---

१ कार्मणमेवैकमनाहारके न शेषयोगा असम्भवादिति। न पुनरेवम्—कार्मणमनाहारकेष्वेवेति, आहारकेष्वपि उत्पत्तिप्रथमसमये कार्मणयोगसम्भवात्, 'जोएण कम्मएण आहारेई अणतर जीवो।' इति परममुनिवचनप्रामाण्यात्। नापि 'कार्मणमनाहारकेषु भवत्येव' इत्यवधारणमाधेयम्, अयोगिकेवल्यवस्थायामनाहारकस्यापि कार्मणकाययोगाभावात् 'गयजोगो उ अजोगी' इति वचनात्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १५४
विग्रह गति के १, २, ३ समय मे तथा केवली समुद्घात के ४, ५, ६वें समय मे जीव अनाहारी होता है।

आदि अवधिद्विक पर्यन्त छब्बीस मार्गणाओं मे सभी योग माने जाते है।

यद्यपि कहीं कहीं यह कथन मिलता है कि 'आहारक मार्गणा मे कार्मणयोग नही होता।'[1] यानी आहारक मार्गणा मे कार्मणयोग के सिवाय अन्य सभी (१४ योग) योग होते है। इस सम्बन्ध मे यह युक्ति है कि उत्पत्ति के प्रथम समय मे जीव जो आहार करता है, उसमे गृह्यमाण पुद्गलों के कारण होने से कार्मणयोग मानने की जरूरत नही है।

उक्त कथन का यह समाधान है कि प्रथम समय मे कार्मणयोग से ही आहार का ग्रहण होता है और ग्रहण किये गये पुद्गल दूसरे समय से लेकर शरीर पूर्ण होने तक आहार ग्रहण में कारण रूप बनते हैं।[2] किन्तु स्वयं अपने प्रथम समय मे कारण रूप नही बन सकते हैं, क्योंकि उस समय तो वे स्वयं ही कार्य रूप हैं। इसलिये पहले समय मे तो कार्मण काययोग द्वारा ही आहार ग्रहण होता है जिससे आहारक मार्गणा मे कार्मण काययोग भी माना जाता है। सारांश यह है कि जन्म के प्रथम समय मे कार्मणयोग के सिवाय अन्य कोई योग सम्भव नही है। अतएव उस समय कार्मण काययोग के द्वारा ही आहारकत्व माना जाता है।

तिरि इत्थि अजय सासण अनाण उवसम अभव्व मिच्छेसु।
तेराहारदुगूणा ते उरलदुगूण सुरनरए ॥२६॥

शब्दार्थ—तिरि—तिर्यंच गति, इत्थि—स्त्री वेद, अजय—अविरति, सासण—सासादन, अनाण—अज्ञान, उवसम—औपशमिक सम्यक्त्व, अभव्व—अभव्य, मिच्छेसु—मिथ्यात्व में, तेर—तेरह,

---

१ जाग अनाहारगेसु।

२ जोएण कम्मएणं आहारेई अणतरं जीवो।
तेण परं मीसेण जाव सरीरस्स निप्फत्ती ॥ —भद्रबाहु स्वामी

आहारदुगूणा—आहारकद्विक के विना, ते—वे, उरल दुगुण—औदारिकद्विक रहित, सुरनरए—देव और नारक मे।

गाथार्थ—तिर्यंच गति, स्त्रीवेद, अविरति, सासादन, अज्ञानत्रिक (मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभगज्ञान) उपशम-सम्यक्त्व, अभव्य और मिथ्यात्व मार्गणा मे आहारकद्विक (आहारक काययोग, आहारकमिश्र काययोग) के सिवाय शेप तेरह योग होते हैं। इन तेरह योगो मे से भी औदारिक-द्विक (औदारिक काययोग और औदारिकमिश्र काययोग) के सिवाय शेप ग्यारह योग होते है।

विशेषार्थ—गाथा मे तिर्यंचगति आदि मिथ्यात्व मार्गणा पर्यन्त दस मार्गणाओ मे तेरह और देवगति, नरकगति मे ग्यारह योग होने का सकेत किया है।

तिर्यंचगति, स्त्री वेद, अविरति, सासादन सम्यक्त्व, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभगज्ञान, उपशम सम्यक्त्व, अभव्य और मिथ्यात्व इन दस मार्गणाओ मे आहारकद्विक के सिवाय तेरह योग होते है। अर्थात् इन दस मार्गणाओ मे मनोयोग चतुष्क, वचनयोग चतुष्क, औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र और कार्मण योग यह तेरह योग होते है। इनमे से कार्मणयोग तो अतराल गति और उत्पत्ति के प्रथम समय मे, औदारिकमिश्र अपर्याप्त अवस्था मे तथा औदारिक, मनोयोग चतुष्क, वचनयोग चतुष्क पर्याप्त अवस्था मे तथा किन्ही-किन्ही तिर्यंचो को वैक्रिय लब्धि के निमित्त से वैक्रिय और वैक्रियमिश्र योग होने से तेरह योग माने जाते है।

आहारकद्विक योग सर्वविरत चतुर्दश पूर्वधर को होते है लेकिन तिर्यंचगति मे सर्वविरत चारित्र सम्भव नही होने से उसमे आहारक-द्विक—आहारक और आहारकमिश्र काययोग नही माने जाते है।

अविरति, सम्यग्दृष्टि, सासादन सम्यक्त्व, अज्ञानत्रिक—मति-

अज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभंगज्ञान, अभव्य और मिथ्यात्व इन सात मार्गणाओं में आहारकद्विक के बिना जो तेरह योग माने जाते हैं, उनमें से मनोयोग चतुष्क, वचनयोग चतुष्क, औदारिक और वैक्रिय यह दस योग तो पर्याप्त अवस्था में होते हैं, कार्मणयोग विग्रहगति में तथा उत्पत्ति के प्रथम समय में और औदारिकमिश्र व वैक्रियमिश्र यह दो योग अपर्याप्त अवस्था में होते हैं।

औपशमिक सम्यक्त्व और स्त्री वेद में आहारकद्विक के सिवाय शेष तेरह योग मानने को कारण सहित स्पष्ट करते हैं।

औपशमिक सम्यक्त्व में तेरह योग मानने का कारण

औपशमिक सम्यक्त्व में मनोयोग चतुष्क, वचनयोग चतुष्क, औदारिक और वैक्रिय यह दस योग पर्याप्त अवस्था में और औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और कार्मण अपर्याप्त अवस्था में पाये जाते हैं। वैक्रिय और वैक्रियमिश्र योग देवों की अपेक्षा से समझना चाहिये।

औपशमिक सम्यक्त्व में आहारकद्विक के सिवाय तेरह योग माने हैं सम्बन्ध में कुछ विचारणीय बातों की ओर संकेत करते हैं।

उपशम सम्यक्त्व के दो प्रकार हैं—ग्रंथिभेदजन्य, उपशमश्रेणि वाला। ग्रंथिभेदजन्य उपशम सम्यक्त्व प्रथम सम्यक्त्व प्राप्ति के समय होता है और तब चौदह पूर्व का अभ्यास होता ही नहीं, जिससे उस समय आहारकद्विक होते ही नहीं है। उपशमश्रेणि आरूढ़ जीव श्रेणि में प्रमाद का अभाव होने से आहारक शरीर करता ही नहीं है। क्योंकि आहारक शरीर का प्रारम्भ करने वाला लब्धि प्रयोग के समय उत्सुकतारूप प्रमाद युक्त होता है। शास्त्र में कहा है कि—

आहारगं तु पमत्तो उप्पाएइ न अप्पमत्तो।

—आहारक प्रमत्त करता है, अप्रमत्त नहीं और आहारक काययोग में विद्यमान ... उपशम श्रेणि का मांडना नहीं है।

यदि किन्हीं का कहना है कि उपशम श्रेणि से आयु क्षय होने

पर सर्वार्थसिद्धि विमान मे उत्पन्न होता है, वहाँ अपर्याप्त अवस्था में उपशम सम्यक्त्व होता है, उस अपेक्षा से कार्मण और वैक्रियमिश्र माना जा सकता है, लेकिन औदारिकमिश्र नही। इस सम्बन्ध मे विचार करते हैं कि मनुष्य, तिर्यंच को अपर्याप्त अवस्था मे और केवली समुद्घात इन तीन स्थितियो मे कर्मग्रथकारो के मतानुसार औदारिकमिश्र होता है। केवली को उपशम सम्यक्त्व होता नही है और मनुष्य, तिर्यंच अपर्याप्त अवस्था मे नवीन सम्यक्त्व प्राप्त नही करते है और श्रेणि-प्राप्त जीव मर कर देव के सिवाय अन्य गति मे जाते नहीं। अतएव यह विचारणीय है किंतु ग्रंथकार ने स्वयं इसको मतातर के रूप मे बताया है[1] अर्थात् यह सैद्धातिक और कार्मग्रंथिक मतभिन्नता है और सिद्धात के मतानुसार उत्तर वैक्रिय करते समय मनुष्य और तिर्यंचो को प्रारम्भ काल मे औदारिकमिश्र योग होता है और उस समय यदि जीव नवीन सम्यक्त्व प्राप्त करे तो उस अपेक्षा से औपशमिक सम्यक्त्व मे औदारिकमिश्र काययोग माना जा सकता है।

स्त्रीवेद में आहारकद्विक न मानने का कारण

स्त्रीवेद मे आहारकद्विक के सिवाय तेरह योग इस प्रकार सभव है—

मनोयोग चतुष्क, वचनयोग चतुष्क, वैक्रियद्विक और औदारिक ये ग्यारह योग मनुष्य, तिर्यंच स्त्री को पर्याप्त अवस्था मे, वैक्रियमिश्र काययोग देव स्त्री को अपर्याप्त अवस्था मे, औदारिकमिश्र काययोग मनुष्य, तिर्यंच स्त्री को अपर्याप्त अवस्था में और कार्मण काययोग पर्याप्त मनुष्य स्त्री को केवली समुद्घात अवस्था में होता है।

---

१ इस मतान्तर के लिए चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा० ४९ देखिये। जिसमे मतान्तर—'विउव्वगाहारगे उरलमिस्स' अश से निर्दिष्ट किया गया है।

लेकिन स्त्रीवेद मे आहारकद्विक योग न मानने का कारण यह है कि स्त्रीवेद मे सर्वविरति सम्भव होने पर भी आहारकयोग न होने का कारण स्त्री जाति को दृष्टिवाद—जिसमे चौदह पूर्व है— पढने का निषेध है। सम्बन्धित स्पष्टीकरण नीचे लिखे अनुसार है—

स्त्रीवेद को जो दृष्टिवाद के अध्ययन का निषेध किया गया है, उसमे भावरूप नही किन्तु द्रव्यरूप स्त्रीवेद जानना चाहिये। क्योकि यहा इसी प्रकार की विवक्षा है। पहले गुणस्थानो मे जो वेद बतलाये गये हैं वे भाव रूप स्त्रीवेद मे बतलाये है, वहा इसी प्रकार की विवक्षा है। द्रव्य वेद का मतलब बाह्य आकार मात्र समझना चाहिये। आहारकद्विक चौदह पूर्वधारी मुनि के ही होते है और स्त्रियो को दृष्टिवाद सूत्र पढने का निषेध होन से चौदह पूर्व का अभ्यास उनको होता नही है और जब स्त्रियो को चौदह पूर्व का अभ्यास नही है तो आहारकद्विक नही हो सकता है। इसका कारण विशेषावश्यक भाष्य गा० ५५२ मे स्पष्ट किया है—

तुच्छा गारवबहुला चलिंदिया दुब्बलाधिईए य।
इय अइसेसज्झयणा भूयवादो य नो याण॥

—तुच्छ स्वभाववाली, बहु गारव वाली, चपल इंद्रियवाली और बुद्धि से हीन होने से अतिशय वाले अध्ययन और भूतवाद (दृष्टिवाद) पढन का अधिकार स्त्री को नही है।[1]

---

१ हरिभद्रसूरि आदि ने अशुद्धि रूप शारीरिक दोष दिखाकर स्त्रिया को दृष्टिवाद के अध्ययन का निषध किया है—

कथ द्वादशागप्रतिषेध ? तथाविधविग्रहे ततो दोषात्।

—ललितविस्तरा

कुन्दकुन्दाचार्य सरीख अध्यात्म प्रतिपादक दिगम्बर आचार्य ने स्त्री जाति को शारीरिक और मानसिक दोष के कारण दीक्षा तक के लिय अयोग्य ठहराया है—

यहाँ पर कतिपय व्यक्ति शंका करते है कि स्त्री को मोक्ष माना और दृष्टिवाद सूत्र पढ़ने का अधिकार नहीं माना जो बाद मे प्रक्षेपित अंश है। क्योंकि मोक्ष जाने वाला श्रेणि माड़ता है तब शुक्ल-ध्यान होता है[१]। अतएव यह परस्पर विरुद्ध कथन है और जैसे स्त्रियों को मोक्ष का अधिकार माना है वैसे ही दृष्टिवाद के अध्ययन का भी अधिकारी मानना चाहिये।

उक्त कथन के लिए यह समझना चाहिए कि स्त्रियां मोक्ष जाती हैं, शुक्लध्यान भी ध्याती है किन्तु पूर्वोक्त कारणो से उन्हे दृष्टिवाद के अध्ययन का अधिकार नही है। प्रत्येक गुणस्थान के असंख्यात लोका-काश प्रमाण अध्यवसायस्थान होते हैं लेकिन यह नियम नहीं है कि उस गुणस्थान का स्पर्श करने वाला जीव उन सभी अध्यवसाय-स्थानों का स्पर्श करे। अतएव मध्यम अध्यवसाय स्थानों का स्पर्श करके भी आगे के गुणस्थान मे जाता है और उस अपेक्षा से कोई भी वेद वाला जीव श्रेणि माड़कर मोक्ष जा सकता है। जबकि पूर्वज्ञान लब्धि से प्राप्त होता है और ये लब्धि अमुक अंश के अध्यवसाय स्थानों का स्पर्श करे तभी प्राप्त होती है। स्त्री जिन स्थानो को पूर्व में संकेत किये गये कारणो से स्पर्श नहीं कर पाती अतः उनको पूर्वधर लब्धि प्राप्त नही होती है और पूर्व का अभ्यास भी उन्ही कारणों से स्त्रियों को होता नही है।

लिंगम्मि य इत्थीण थणंतरे णाहिकक्खदेसम्मि।
भणिओ सुहमो काओ तासं कह होइ पव्वज्जा॥

—षटपाहुड, सूत्रपाहुड, गा० २४-२५

वैदिक दर्शन मे शारीरिक शुद्धि को स्थान देकर स्त्री व शूद्र को वेदाध्ययन का अधिकार नही दिया है— स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्।

१ शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः।—तत्त्वार्थसूत्र ९।३९

उक्त कथन पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब पूर्व का अभ्यास न हो तो शुक्लध्यान स्त्रियों में कैसे सम्भव है ? और जब शुक्लध्यान न होवे तो क्षपक श्रेणि कैसे हो सकती है ? इसके समाधान के लिए यह समझना चाहिये कि श्रेणि माडने वाले प्रत्येक जीव को शब्द से पूर्व का ज्ञान होना चाहिये, ऐसा कोई नियम नहीं है। अर्थ से होना चाहिये और इस अपेक्षा सिर्फ नवकार मन्त्र के जानने वाले को भी अर्थ से चौदह पूर्व का ज्ञान होता है। क्योंकि शास्त्र में नवकार मन्त्र को चौदह पूर्व का सार कहा है तथा तीर्थंकर भगवान अर्थ की ही देशना करते हैं, जिसके सार रूप में गणधर चौदह पूर्वों की रचना करते हैं और उसके पश्चात् दूसरे अगों की। अर्थात् इस देशना को सुनने वाले और समझने वाले प्रत्येक जीव को अर्थ से चौदह पूर्व का ज्ञान होता है। इसके सिवाय यह भी ध्यान रखना चाहिये कि ग्यारह अंग भी चौदह पूर्व के ही एक अंग है।

शास्त्र में ऐसा भी उल्लेख है कि एक सामायिक पद की भावना करने मात्र से अनन्त जीवो ने मोक्ष प्राप्त किया है। अतएव यह कोई कारण नहीं कि शुक्लध्यान तभी हो सकता है जब शब्द से पूर्व का ज्ञान हो। इसी प्रकार स्त्रिया भी अर्थ से चौदह पूर्व के सार को जानती हैं, जिससे यह स्वाभाविक है कि उनके भी शुक्लध्यान के समय पूर्व का ज्ञान अर्थ से होता है और क्षपक श्रेणि माडकर स्त्रिया भी मोक्ष प्राप्त कर सकती हैं।

शास्त्र में स्त्रियों में दिखाये दोषों का आशय उन्हें अपमानित करने का नहीं है किन्तु उनके स्वभाव में रही हुई वस्तुस्थिति का निष्पक्ष भाव से वर्णन किया है। अतएव दृष्टिकोण के हार्द को समझकर अपनी जिज्ञासा का समाधान करना चाहिये।

देवगति और नरकगति में उक्त मनोयोग चतुष्क आदि तेरह योगो में से औदारिकद्विक को भी कम करने से ग्यारह योग माने

हैं। ग्यारह योगों के नाम इस प्रकार हैं—मनोयोग चतुष्क, वचनयोग चतुष्क, वैक्रियद्विक, कार्मणयोग। इनमें से कार्मणयोग अंतराल गति और उत्पत्ति के प्रथम समय में, वैक्रियमिश्र अपर्याप्त अवस्था में तथा मनोयोग चतुष्क, वचनयोग चतुष्क और वैक्रिय काययोग पर्याप्त दशा में पाये जाते हैं।

देव और नरकगति में आहारकद्विक, औदारिकद्विक न मानने का कारण यह है कि देव और नारकों के भवस्वभाव से विरति न होने तथा विरति के अभाव में चतुर्दश पूर्व का ज्ञान न होने से आहारकद्विक योग होते ही नहीं हैं तथा देव और नारकों का भव-प्रत्ययिक वैक्रिय शरीर होता है अतएव औदारिकद्विक सम्भव नहीं है। इसीलिये देव नारकों के आहारकद्विक और औदारिकद्विक इन चार योगों के सिवाय शेष ग्यारह योग माने जाते हैं।[1]

कम्मुरलदुगं थावरि ते सविउव्विदुग पंच इगि पवणे।
छ असन्नि चरमवइजुय ते विउविदुगूण चउ विगले ॥२७॥

शब्दार्थ—कम्मुरलदुग—कार्मण तथा औदारिकद्विक, थावरि—स्थावर काय में, ते—वे, सविउव्विदुग—वैक्रियद्विक सहित, पंच—पांच, इगि—एकेन्द्रिय में, पवणे—वायुकाय में, छ—छह, असन्नि—असंज्ञी में, चरमवइजुय—अन्तिम वचनयोग सहित, ते—उनमें से, विउविदुगूण—वैक्रियद्विक के सिवाय, चउ—चार, विगले—विकलेन्द्रियों में।

गाथार्थ—स्थावर काय में कार्मण और औदारिकद्विक यह तीन योग होते हैं। उक्त तीन योग तथा वैक्रियद्विक कुल

---

१ यत् पुनरौदारिकद्विकं तद् भवप्रत्ययादेव देवनारकाणाम् न सम्भवति। आहारकद्विकं तु सुरनारकाणां भवस्वभावतया विरत्यभावेन सर्वविरति-प्रत्ययचतुर्दशपूर्वाधिगमासम्भवादेव दूरापास्तमिति।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १५६

पाच योग एकेन्द्रिय और वायुकाय मे होते हैं। असज्ञी मे उक्त पाच और चरम वचन योग कुल छह योग तथा इन छह मे से वैक्रियद्विक को कम करने से चार योग विकलेन्द्रियो मे होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे जिन मार्गणाओ मे योगो का कथन किया गया है उनका विवेचन नीचे लिखे अनुसार जानना चाहिये।

स्थावर काय पद मे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति इन पाचो प्रकार के स्थावर जीवो का समावेश होता है और उनमे 'कम्मुरलदुग' कार्मण और औदारिकद्विक यह तीन योग समझना चाहिये। लेकिन इसी गाथा मे आगे वायुकाय मे पाये जाने वाले योगो की सख्या अलग से बतलाई है। अतएव इसका आशय यह हुआ कि पृथ्वी, जल, तेज और वनस्पति इन चार स्थावर जीवो मे कार्मण और औदारिकद्विक—कुल तीन योग होते हैं। इन तीन योगो मे से कार्मण काययोग, विग्रहगति तथा उत्पत्ति के प्रथम समय मे, औदारिकमिश्र काययोग उत्पत्ति के प्रथम क्षण को छोडकर शेष अपर्याप्त अवस्था मे तथा औदारिक काययोग पर्याप्त अवस्था मे पाया जाता है।

वायुकायिक जीवो तथा एकेन्द्रिय जीवो मे उक्त कार्मण, औदारिकद्विक व वैक्रियद्विक सहित कुल पाँच योग माने हैं। वायुकायिक जीव एकेन्द्रिय ही होते हैं, अत एकेन्द्रिय जाति मे वायुकायिक जीव भी आ जाते हैं इसलिये उनमे पाँच योग (कार्मण, औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र) कहे हैं।

वायुकाय मे अन्य स्थावरो की तरह कार्मणयोग आदि तीन योग तो पाए ही जाते हैं लेकिन वायुकाय के कुछ पर्याप्त बादर जीव वैक्रियलब्धि सम्पन्न भी होते हैं जिससे वे वैक्रियद्विक के अधिकारी माने जाते हैं। वैक्रिय शरीर बनाते समय वैक्रियमिश्र काययोग

और बनाने के बाद धारण करते समय वैक्रिय काययोग बादर वायुकाय के जीवो मे होता है।

पर्याप्त बादर वायुकायिक जीवो मे से कुछ एक को वैक्रियलब्धि मानने को लेकर जिज्ञासु तर्क करता है कि यह कैसे माना जाये कि किन्ही-किन्ही को वैक्रियलब्धि सभव है ? सभी बादर पर्याप्त वायु-कायिक जीव वैक्रियलब्धि सपन्न है और सवैक्रिय वायुकाय के जीव बहते है किन्तु अवैक्रिय जीवो मे वैसी प्रवृत्ति नही होती है।[1] लेकिन यह तर्क अयुक्त है कि सभी बादर पर्याप्त वायुकायिक जीव वैक्रिय-लब्धि सम्पन्न होते है। क्योकि वायुकाय के अपर्याप्त-पर्याप्त, सूक्ष्म-बादर इन चार भेदो मे से सूक्ष्म पर्याप्त, अपर्याप्त तथा बादर अपर्याप्त इन तीन प्रकार के वायुकायिक जीवों मे वैक्रियलब्धि होती ही नहीं है। किन्तु पर्याप्त बादर वायुकाय के जीवो के संख्यातवे भाग मे होती है,[2] लोक के सभी भागो मे—ऊर्ध्व, मध्य, अधो भागो मे ये जीव विद्यमान है और वर्तमान मे विक्रिया नही करने पर भी स्वभावत. उनमे वैक्रियलब्धि विद्यमान है।

असज्ञी में छह योग कहे गये है। इनमे से पॉच योग तो वायुकाय व एकेन्द्रिय जीवो की अपेक्षा से, क्योकि वे असज्ञी ही होते हैं और छठा 'चरमवइजुय' अतिम वचनयोग—असत्यामृषा द्वीन्द्रिय आदि असज्ञी, संमूर्च्छिम पचेन्द्रिय जीवो की अपेक्षा से। क्योकि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और समूर्च्छिम पचेन्द्रिय ये सभी जीव असज्ञी ही

---

१ केइ भणति—सव्वे वेउव्विया वाया वायति, अवेउव्वियाण चिट्ठा चेव न पवत्तइ। —अनुयोग द्वार हारिभद्री टीका

२ तिण्ह ताव रासीण वेउव्विअलद्धी चेव नत्थि।
बादर पज्जत्ताण सखेज्जइभागस्सत्ति ॥
—पंचसंग्रह द्वार १ की टीका मे प्रमाण रूप मे उद्धृत
यही बात अनुयोगद्वार टीका व प्रज्ञापना चूर्णि मे कही गई है।

होते हैं। द्वीन्द्रिय आदि वचनयोग के साधन भाषालब्धि से युक्त होते हैं, इसीलिये उनमें असत्यामृषा वचनयोग होता है।

विकलेन्द्रियत्रिक—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय में कार्मण, औदारिकद्विक और असत्यामृषा वचनयोग यह चार योग कहे हैं। इनके वैक्रियलब्धि न होने से वैक्रिय शरीर नहीं बना सकते हैं। इसलिये इनमें असंज्ञी सम्बन्धी कहे गये छह योगों में से वैक्रियद्विक योगों को कम करने से विकलेन्द्रियत्रिक में चार योग कहे गये हैं।

कम्मुरलमीस विणु मणवइ समइय छेय चक्खु मणनाणे।
उरलदुग कम्म पढमंतिम मणवइ केवलदुगम्मि ॥२८॥

शब्दार्थ—कम्म—कार्मण, उरलमीस—औदारिकमिश्र, विणु—विना, मण—मनोयोग, वइ—वचनयोग, समइय—सामायिक, छेय—छेदोपस्थापनीय संयम, चक्खु—चक्षुदर्शन, मणनाण—मनःपर्याय ज्ञान, उरलदुग—औदारिकद्विक, कम्म—कार्मण, पढमंतिम—पहला और अंतिम, मणवइ—मनोयोग-वचनयोग, केवलदुगम्मि—केवलद्विक में।

गाथार्थ—मनोयोग, वचनयोग, सामायिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र, चक्षुदर्शन और मनःपर्याय ज्ञान, इन छह मार्गणाओं में कार्मण तथा औदारिकमिश्र योग को छोड़ तेरह योग होते हैं। केवलद्विक में औदारिकद्विक, कार्मण, प्रथम और अंतिम मनोयोग व वचनयोग होते हैं।

विशेषार्थ—मनोयोग आदि मनःपर्यायज्ञान पर्यन्त छह मार्गणाओं में तेरह योग एवं केवलद्विक मार्गणा में सात योग होने का संकेत गाथा में किया गया है। जिनका स्पष्टीकरण नीचे लिखे अनुसार है—

मनोयोग, वचनयोग, सामायिक संयम, छेदोपस्थापनीय संयम, चक्षुदर्शन और मनःपर्याय ज्ञान यह छह मार्गणायें पर्याप्त अवस्था में ही पाई जाती हैं। इसलिये अपर्याप्त अवस्था भावी दो योग—

कार्मण और औदारिकमिश्र उनमे नही पाये जाते हैं।[1] किंतु शेष तेरह योग उनमे होते ह। यद्यपि केवली को केवली समुद्घात अवस्था मे कार्मण और औदारिकमिश्र यह दो योग होते हैं, जिससे पर्याप्त अवस्था मे भी यह सभव है, तथापि यह जानना चाहिये कि केवली समुद्घात मे जब ये दोनो योग होते हैं तब मनोयोग आदि मनपर्याय ज्ञान पर्यन्त उक्त छह मार्गणाओ मे से कोई भी मार्गणा नही होती है। इसीलिये इन छह मार्गणाओ मे कार्मण और औदारिकमिश्र योग के सिवाय शेष तेरह योग कहे गये है।

चक्षुदर्शन व मनपर्यायज्ञान मार्गणा में योग-विषयक स्पष्टीकरण

चक्षुदर्शन और मनपर्यायज्ञान मे तेरह योग कहे गये है, तत्सम्बन्धी स्पष्टीकरण यहाँ करते हैं।

कर्मग्रन्थ मे चक्षुदर्शन मे तेरह योग माने है, लेकिन श्री मलयगिरि ने पचसग्रह १।१२[2] की टीका मे ग्यारह योग बताये हैं। कार्मण, औदारिक-मिश्र के अतिरिक्त वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र भी छोड दिये हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे अपर्याप्त अवस्था मे चक्षुदर्शन न होने से अपर्याप्त अवस्थाभावी कार्मण और औदारिकमिश्र यह दो योग नही रहते हैं वैसे ही वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र योग भी नही होते हैं। अर्थात् जब तक वैक्रिय या आहारक शरीर अपूर्ण हो तब तक चक्षुदर्शन नही होता है। इसीलिये उसमें वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र योग भी नही मानना चाहिये।

इस पर प्रश्न होता है कि अपर्याप्त अवस्था मे इन्द्रिय पर्याप्ति

---

१ यौ तु कार्मणौदारिकमिश्रौ तौ तेषु सर्वथा न सम्भवत एव तयोरपर्याप्ताव-स्थाया भावात्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १५७

२ आहारदुग जायइ चौद्दसपुव्विस इइ विसेसणओ।
मणुयगइपचेंदियमाइएसु समईए जोएज्जा॥
—पंचसंग्रह १।१२

पूर्ण बन जाने के बाद मतान्तर[1] से चक्षुदर्शन मान लिया जाये तो उसमे अपर्याप्त अवस्थाभावी औदारिकमिश्र काययोग का अभाव कैसे माना जा सकता है ?

इसका समाधान यह है कि पचसग्रह मे एक मतान्तर है।[2] जोकि अपर्याप्त अवस्था मे शरीर पर्याप्ति पूर्ण न बन जाने तक मिश्रयोग मानता है और बन जाने के बाद नही मानता। इस मत के अनुसार अपर्याप्त अवस्था मे जब चक्षुदर्शन होता है तब मिश्रयोग न होने के कारण चक्षुदर्शन मे औदारिकमिश्र काययोग को न मानना ठीक है।

मनपर्यायज्ञान मे तेरह योग माने हैं उनमे आहारकद्विक का भी समावेश है। लेकिन दिगम्बर आचार्यों का ऐसा अभिमत है[3] कि परिहारविशुद्धि सयम और मनपर्यायज्ञान के समय आहारक शरीर और आहारक अगोपाग नामकर्म का उदय नही होता है और जब तक आहारकद्विक का उदय न हो तब तक आहारक शरीर की रचना नही की जा सकती है और इस रचना के सिवाय आहारकमिश्र व आहारक यह दोनो योग सम्भव नही है। लेकिन उक्त अभिमत का आशय इतना ही है कि मनपर्यायज्ञान, परिहारविशुद्धि सयम, प्रथमोपशम सम्यक्त्व और आहारकद्विक इन भावो मे से एक के प्राप्त होने पर शेष भाव प्राप्त नही होते हैं।[4]

---

१ चतुर्थ कर्मग्रन्थ गाथा १७ मे मतान्तर का उल्लेख किया है।

२ पचसग्रह १।७ की गाथा की टीका मे इस मत का सकेत है—

नद्दोण्ण करणंहि य उरालियमीसगो अपज्जत्ते।
पज्जत्ते ओरालो वेउव्वियमीसगो वावि॥

३ मणपज्जवपरिहारे णवरि य सविदिय हारदुग। —गो० कर्मकांड ३२४

४ मणपज्जवपरिहारो पढमुवसम्मत्त दोण्णि आहारा।
एदेसु एक्कपगदे णत्थिति असेसय जाणे॥
—गो० जीवकांड ७२९

केवलद्विक—केवलज्ञान और केवलदर्शन—मार्गणाओ मे औदारिक-द्विक—औदारिक व औदारिकमिश्र काययोग, कार्मण काययोग तथा सत्य तथा असत्यामृषा मनोयोग और सत्य व असत्यामृषा वचनयोग कुल सात योग माने हैं। जिसका कारण यह है कि सयोगि केवली को केवली-समुद्घात के दूसरे से सातवे तक छह समयो को छोडकर औदारिक योग तो सदैव रहता ही है तथा औदारिकमिश्र काययोग केवली-समुद्घात के दूसरे, छठे और सातवे समय मे तथा कार्मण योग तीसरे, चौथे, पाँचवे समय मे होता है। सत्य और असत्यामृषा यह दो वचनयोग देशना देने के समय तथा सत्य व असत्यामृषा यह दोनो मनोयोग मनपर्यायज्ञानी अथवा अनुत्तर विमानो के देवो के मन द्वारा शका पूछने और उसका उत्तर देते समय होते है। इसका अर्थ यह है कि जब कोई अनुत्तर विमानवासी देव अथवा मनपर्यायज्ञानी अपने स्थान पर रहकर मन से ही केवली को प्रश्न पूछते है तब उनके प्रश्नो को केवलज्ञान द्वारा जानकर केवली भगवान उनका उत्तर मन से ही देते है यानी मनोद्रव्य[1] को ग्रहण कर उसकी ऐसी रचना करते है कि जिसको प्रश्नकर्ता अवधिज्ञान या मनपर्यायज्ञान के द्वारा देखकर केवली भगवान द्वारा दिये गये उत्तर को अनुमान द्वारा जान लेते है।

मनोद्रव्य को अवधिज्ञान या मनपर्यायज्ञान द्वारा जान लेना स्वाभाविक ही है। यद्यपि मनोद्रव्य अत्यन्त सूक्ष्म है लेकिन अवधि-ज्ञान और मनपर्यायज्ञान मे उसको प्रत्यक्ष कर लेने की शक्ति है। जैसे कि कोई मानस-शास्त्री किसी के चेहरे पर आने-जाने वाले भावो

---

१ केवलज्ञानी के द्रव्यमन का सम्बन्ध गो० जीवकाड गा० २२८ मे भी माना है—

मणसहियाण वयण दिट्ठ तप्पुव्वमिदि सजोगम्मि।
उत्तो मणोवयारेणिंदियणाणेण हीणह्मि॥

को देखकर उसके मनोभावो का अनुमान द्वारा ज्ञान कर लेते है वैसे ही अवधिज्ञानी या मनपर्यायज्ञानी मनोद्रव्य की रचना देखकर अनुमान द्वारा यह जान लेते है कि अमुक प्रकार की मनोरचना द्वारा अमुक अर्थ का ही चिंतन किया हुआ होना चाहिये।

मणवइउरला परिहारि सुहुमि नव ते उ मीसि सविउव्वा।
देसे सविउव्विदुगा सकम्मुरलमिस्स अहखाए ॥२६॥

शब्दार्थ—मणवइउरला—मनोयोग वचनयोग औदारिक काययोग परिहारि—परिहारविशुद्धि सयम मे, सुहुमि—सूक्ष्मसपराय सयम मे नव—नौ, ते—वे (पूर्वोक्त) उ—तथा मीसि—मिश्रदृष्टि मे सविउव्वा—वैक्रियसहित देसे—देशविरति मे सविउव्विदुगा—वैक्रियद्विक सहित सकम्मुरलमिस्स—कार्मण और औदारिकमिश्र सहित अहखाए—यथाख्यात चारित्र मे।

गाथार्थ—परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसपराय सयम मे मनोयोग चतुष्क, वचनयोग चतुष्क और औदारिक यह नौ योग होते हैं। मिश्रदृष्टि (सम्यग्मिथ्यात्वदृष्टि) मे उक्त नौ के साथ वैक्रिय तथा देशविरति मे उक्त नौ के साथ वैक्रियद्विक तथा यथाख्यात सयम मे कार्मण और औदारिकमिश्र काययोग सहित योग हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे मिश्रदृष्टि तथा सयममार्गणा के परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसपराय, देशविरति और यथाख्यातसयम मे योगो की सख्या का कथन किया है। जिनमे से सर्वप्रथम परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसपराय सयम मे योग सख्या बतलाते हैं।

परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसपराय इन दोनो सयमो मे 'मणवइउरला परिहारि सुहुमि नव' मनोयोग चतुष्क, वचनयोग चतुष्क और औदारिक यह नौ योग है। किन्तु आहारकद्विक, वैक्रियद्विक, कार्मण और औदारिकमिश्र यह छह योग नही होते हैं। इसका कारण यह

है कि संयम पर्याप्त अवस्थाभावी है किन्तु अपर्याप्त अवस्था में नहीं होता है। इसलिये अपर्याप्त अवस्थाभावी कार्मण और औदारिकमिश्र यह दो योग परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसंपराय संयम में नहीं पाये जाते हैं[1] तथा वैक्रिय और वैक्रियमिश्र इन दोनों योगों के न होने का कारण यह है कि यद्यपि वैक्रियद्विक लब्धिप्रयोग करने वाले मनुष्य को होते हैं और लब्धिप्रयोग में औत्सुक्य एवं प्रमाद संभव है।[2] लेकिन परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसंपराय संयमधारी अप्रमादी होने से लब्धि का प्रयोग नहीं करते हैं।

आहारक और आहारकमिश्र यह दो योग चतुर्दश पूर्वधर प्रमत्त मुनि को ही होते हैं, किन्तु परिहारविशुद्धि संयमी कुछ कम दस पूर्व का पाठी होता है और सूक्ष्मसंपराय संयमी चतुर्दश पूर्वधर होने पर भी अप्रमत्त होने से उनमें आहारकद्विक योग नहीं माने हैं।

इसीलिये परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसंपराय संयम में कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र, आहारक और आहारकमिश्र यह छह योग संभव नहीं होने से शेष मनोयोग चतुष्क, वचनयोग चतुष्क, औदारिक काययोग कुल नौ योग होते हैं।

मिश्रदृष्टि में उक्त नौ योगों के साथ 'सविउव्वा' वैक्रिययोग भी होने से दस योग होते हैं। मिश्रसम्यक्त्व में वैक्रिययोग को भी मानने का कारण यह है कि देव और नारक सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवर्ती होते हैं। मिश्र सम्यक्त्व की यह विशेषता है कि इस सम्यक्त्व के समय मृत्यु नहीं होती है[3]। जिससे अपर्याप्त अवस्था में यह सम्यक्त्व

---

१ कार्मणमौदारिकमिश्रं चापर्याप्ताद्यवस्थायामेवेति संयम द्वयेऽपि तस्याऽभाव.।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १५८

२ वैक्रियारम्भे च लब्ध्युपजीवनेन औत्सुक्यभावात् प्रमादसम्भवात्।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १५८

३ न सम्ममिच्छो कुणइ कालं।

(मिश्रदृष्टि) नही पाया जाता है। इसीलिए अपर्याप्त अवस्थाभावी कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र ये तीनो योग नही हैं। मिश्र सम्यक्त्व के समय चौदह पूर्व का ज्ञान संभव नही होने से आहारकद्विक योग भी नही होते हैं। इस कारण से कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और आहारकद्विक इन पाँच योगो को छोडकर शेष दस योग मिश्र सम्यक्त्व मे होते है।

मिश्रदृष्टि मे वैक्रियमिश्र योग नही मानने पर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि अपर्याप्त अवस्थाभावी वैक्रियमिश्र योग मिश्रदृष्टि मे नही माना है सो तो ठीक है लेकिन वैक्रियलब्धि का प्रयोग करते समय मनुष्य और तिर्यच को पर्याप्त अवस्था मे होने वाले वैक्रियमिश्र योग को मिश्र सम्यक्त्व मे नही मानने का क्या कारण है? इसका समाधान यही है कि मिश्र सम्यक्त्व और लब्धिजन्य वैक्रियमिश्र योग ये दोनो पर्याप्त अवस्थाभावी हैं, किन्तु इनका साहचर्य नही है। यानी मिश्र सम्यक्त्व के समय लब्धि का प्रयोग न किये जाने के कारण वैक्रियमिश्र काययोग नही होता है।[1]

देशविरति संयम मे 'देसे सविउव्विदुगा' पद से पूर्वोक्त नौ योगो के अतिरिक्त वैक्रियद्विक योगो को मिलाने से ग्यारह योग बताये हैं। वैक्रियद्विक को देशविरति संयम मे मानने का कारण यह है कि अंबड आदि श्रावको द्वारा वैक्रियलब्धि से वैक्रिय शरीर बनाये जाने की बात शास्त्र मे प्रसिद्ध है।[2] श्रावक चतुर्दश पूर्वधर नहीं होता है जिससे उसमे आहारकद्विक योग तथा व्रत का पालन पर्याप्त

---

१ कर्मग्रन्थकार ने स्वोपज्ञ टीका मे तथाविध संप्रदाय का अभाव होने के कारण मात्र इतना कहा है कि उनके द्वारा इस पर विशेष विवेचन नही किया है।

२ देशविरतानामम्बडादीनां वैक्रियलब्धिमतां वैक्रियद्विकसम्भवात्।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १५८

अम्बड परिव्राजक के परिचय के लिये औपपातिक सूत्र देखिये।

अवस्था मे ही सम्भव होने से औदारिकमिश्र और कार्मणयोग नही माने जाते हैं। इसीलिये आहारकद्विक एवं औदारिकमिश्र और कार्मण इन चार योगो के सिवाय शेष ग्यारह योग देशविरति संयम मे होते हैं।

यथाख्यात सयम मे भी ग्यारह योग हैं। मनोयोग चतुष्क, वचन-योग चतुष्क, औदारिकयोग इन पूर्वोक्त नौ योगो के साथ इस संयम मे, 'सकम्मुरलमिस्स अहखाए' कार्मण और औदारिकमिश्र यह दो योग और भी पाये जाते हैं। इन दोनों योगों का ग्रहण केवली-समुद्घात[1] की अपेक्षा से किया गया है। क्योकि आठ समय वाले इस समुद्घात के दूसरे, छठे और सातवे समय मे औदारिकमिश्र और तीसरे, चौथे, पाँचवें समय मे कार्मण योग होता है। यथाख्यात संयम मे आहारकद्विक एव वैक्रियद्विक इन चार योगों के न मानने का कारण यह है कि ये चारों प्रमाद सहचारी है और यथाख्यात संयम अप्रमाद अवस्था वाले ग्यारह, बारह, तेरह, चौदह इन चार गुणस्थानो मे होता है।

मार्गणाओ में योगों की संख्या नीचे लिखे अनुसार है—

क्रम संख्या	मार्गणा नाम	योगों की सख्या व नाम
	१ गतिमार्गणा	
१	१ नरकगति	११ औदारिकद्विक, आहारकद्विक को छोड़कर
२	२ तिर्यंचगति	१३ आहारकद्विक को छोड़कर
३.	३ मनुष्यगति	१५ मन, वचन, काय योग के सभी भेद

1 तत्र सम्यग्—अपुनर्भाविन उत्—प्राबल्येन कर्मणो हनन—घात. प्रलयो यस्मिन् प्रयत्नविशेषे स समुद्घात ।

जिस प्रयत्न विशेष मे सम्यक् प्रकार से अथवा प्रमुख रूप से कर्मो का क्षय किया जाता है, उसे समुद्घात कहते हैं।

४	४ देवगति	११ औदारिकद्विक, आहारकद्विक को छोड़कर
	२ इन्द्रियमार्गणा	
५	१ एकेन्द्रिय	५ कार्मण, औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक
६	२ द्वीन्द्रिय	४ कार्मण, औदारिकद्विक, असत्यामृषा वचनयोग
७	३ त्रीन्द्रिय	४ कार्मण, औदारिकद्विक, असत्यामृषा वचनयोग
८	४ चतुरिन्द्रिय	४ कार्मण, औदारिकद्विक, असत्यामृषा वचनयोग
९	५ पंचेन्द्रिय	१५ मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७
	३ कायमार्गणा	
१०	१ पृथ्वीकाय	३ कार्मण, औदारिकद्विक
११	२ जलकाय	३ " "
१२	३ वायुकाय	५ कार्मण, औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक
१३	४ अग्निकाय	३ कार्मण, औदारिकद्विक
१४	५ वनस्पतिकाय	३ " "
१५	६ त्रसकाय	१५ मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७
	४ योगमार्गणा	
१६	१ मनोयोग	१३ कार्मण और औदारिकमिश्र को छोड़कर
१७	२ वचनयोग	१३ कार्मण और औदारिकमिश्र को छोड़कर
१८	३ काययोग	१५ मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७
	५ वेदमार्गणा	
१९	१ पुरुषवेद	१५ मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७

२०.	२ स्त्रीवेद	१३	आहारकद्विक को छोड़कर
२१	३ नपुंसकवेद	१५	पुरुष वेदवत्
	६ कषायमार्गणा		
२२.	१ क्रोध	१५	मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७
२३	२ मान	१५	,, ,, ,,
२४	३ माया	१५	,, ,, ,,
२५	४ लोभ	१५	,, ,, ,,
	७ ज्ञानमार्गणा		
२६	१ मतिज्ञान	१५	मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७
२७	२ श्रुतज्ञान	१५	,, ,, ,,
२८	३ अवधिज्ञान	१५	,, ,, ,,
२९	४ मनपर्यायज्ञान	१३	कार्मण, औदारिकमिश्र को छोडकर
३०	५ केवलज्ञान	७	औदारिकद्विक, कार्मण, सत्य, असत्यामृषा मनोयोग तथा सत्य, असत्यामृषा वचनयोग
३१	६ मतिअज्ञान	१३	आहारकद्विक को छोडकर
३२	७ श्रुतअज्ञान	१३	,, ,,
३३	८ विभंगज्ञान	१३	,, ,,
	८ संयममार्गणा		
३४.	१ सामायिक	१३	कार्मण, औदारिकमिश्र को छोडकर
३५	२ छेदोपस्थापनीय	१३	,, ,,
३६	३ परिहारविशुद्धि	९	मनोयोग ४, वचनयोग ४, औदारिक
३७	४ सूक्ष्मसंपराय	९	,, ,, ,,
३८	५ यथाख्यात	११	मनोयोग ४, वचनयोग ४, कार्मण, औदारिकद्विक

३९	६ देशविरति	११ मनोयोग ४, वचनयोग ४, औदारिक, वैक्रियद्विक
४०	७ अविरति	१३ आहारकद्विक को छोड़कर
	९ दर्शनमार्गणा	
४१	१ चक्षुदर्शन	१३ कार्मण, औदारिकमिश्र को छोड़कर
४२	२ अचक्षुदर्शन	१५ मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७
४३	३ अवधिदर्शन	१५ ,, ,, ,,
४४	४ केवलदर्शन	७ औदारिकद्विक, कार्मण, सत्य, असत्यामृपा मनोयोग व सत्य, असत्यामृपा वचनयोग
	१० लेश्यामार्गणा	
४५	१ कृष्णलेश्या	१५ मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७
४६	२ नीललेश्या	१५ ,, ,, ,,
४७	३ कापोतलेश्या	१५ ,, ,, ,,
४८	४ तेजोलेश्या	१५ ,, ,, ,,
४९	५ पद्मलेश्या	१५ ,, ,, ,,
५०	६ शुक्ललेश्या	१५ ,, ,, ,,
	११ भव्यत्वमार्गणा	
५१	१ भव्यत्व	१५ मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७
५२	२ अभव्यत्व	१३ आहारकद्विक को छोड़कर
	१२ सम्यक्त्वमार्गणा	
५३	१ उपशम	१३ आहारकद्विक को छोड़कर
५४	२ क्षायोपशमिक	१५ मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७
५५	३ क्षायिक	१५ ,, ,, ,,
५६	४ सासादन	१३ आहारकद्विक को छोड़कर

५७.	५ मिश्र	१०	मनोयोग ४, वचनयोग ४, औदारिक, वैक्रिय
५८.	६ मिथ्यात्व	१३	आहारकद्विक को छोड़कर
	१३ संज्ञीमार्गणा		
५९	१ सज्ञी	१५	मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७
६०	२ असज्ञी	६	कार्मण, औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक, असत्यामृपा वचनयोग
	१४ आहारकमार्गणा		
६१	१ आहारकत्व	१५	मनोयोग ४, वचनयोग ४, काययोग ७
६२	२ अनाहारकत्व	१	कार्मणयोग

इस प्रकार से मार्गणाओं मे योगो का कथन करने के पश्चात् अव वर्ण्य विपयो के क्रमानुसार मार्गणाओ मे उपयोगो की सख्या वतलाते है।

तिअनाण नाण पण चउ दंसण वार जिय लक्खणुवओगा।
विणु मणनाण दुकेवल नव सुरतिरिनिरयअजएसु ॥३०॥

शब्दार्थ—**ति अनाण**—तीन अज्ञान, **नाण**—ज्ञान, **पण**—पाँच, **चउ**—चार, **दसण**—दर्शन, **वार**—वारह, **जियलक्खण**—जीव का लक्षण रूप, **उवओगा**—उपयोग, **विणु**—विना, **मणनाण**—मनपर्याय-ज्ञान, **दुकेवल**—केवलद्विक, **नव**—नौ, **सुरतिरिनिरय अजएसु**—देव, तिर्यंच, नरक गति और अविरति मे।

गाथार्थ—तीन अज्ञान, पाँच ज्ञान और चार दर्शन यह वारह उपयोग हैं, जो जीव के लक्षण है। इनमे से मनपर्याय ज्ञान और केवलद्विक—केवलज्ञान और केवलदर्शन के सिवाय नौ उपयोग देवगति, तिर्यंचगति, नरकगति और अविरति मे पाये जाते है।

विशेपार्थ—गाथा मे 'जीव का लक्षण उपयोग है'—की ओर ध्यान

दिखाते हुए उपयोग के तीन अज्ञान, पाच ज्ञान और चार दशन कुल वारह भेद होने का सकेत करने के बाद मागणाओ मे उपयोगो की सख्या का निरूपण प्रारम्भ किया गया है।

अन्य वस्तुओ से लक्ष्य को भिन्न बतलाना लक्षण का उद्देश्य होता है। अन्य वस्तुओ से लक्ष्य की भिन्नता उसके असाधारण धम द्वारा ही प्रदर्शित की जा सकती है। उपयोग जीव का असाधारण धम इसलिये माना जाता है कि उपयोग सिफ जीव मे है और उससे अजीव द्रव्यो से जीव की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। इसीलिये उपयोग को जीव का लक्षण माना है।

उपयोग के मुख्य दो भेद है—ज्ञान और दशन तथा इनमे से ज्ञानोपयोग के मतिज्ञान आदि आठ भेद और दशनोपयोग के चक्षुदशन आदि चार भेद होते है। कुल मिलाकर बारह भेद है। जिनके लक्षण पहले बताये जा चुके है।

उपयोग के उक्त बारह भेदो मे से मनपर्याय ज्ञान और केवलद्विक—केवलज्ञान और केवलदशन इन तीन के सिवाय नौ उपयोग देवगति, तिर्यंचगति, नरकगति तथा अविरति इन चार मागणाओ म होते हैं।

देवगति आदि उक्त चार मागणाओ मे मनपर्याय ज्ञान और केवलद्विक उपयोग इसलिये नही माने जाते है कि ये तीनो सवविरति सापेक्ष हैं, लेकिन देवगति, तियचगति, नरकगति और अविरति म सवविरति सम्भव नही है। इसीलिए इनमे उक्त तीन उपयोगो को छोडकर शेष नौ उपयोग माने जाते हैं।[1]

अविरति सम्यक्त्वी भी होते हैं और मिथ्यात्वी भी। अत सम्यग्दृष्टि अविरतिया मे मतिज्ञान आदि तीन ज्ञान, चक्षुदशन आदि तीन दशन यह छह उपयोग तथा मिथ्यात्वी अविरतिया मे मति अज्ञान

---

१ एतपु सर्वेष्वपि हि सवविरत्यसम्भवेन मन पर्याय ज्ञान कवलद्विकासम्भवादिति।
—चतुथ कमग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १६५

आदि तीन अज्ञान तथा चक्षुदर्शन आदि दो दर्शन ये पाँच उपयोग समझना चाहिए।

तस जोय वेय सुक्काहार नर पणिदि सन्नि भवि सव्वे।
नयणेयर पण लेसा कसाइ दस केवलदुगूणा ॥३१॥

शब्दार्थ—तस—त्रसकाय, जोय—योग, वेय—वेद, सुक्काहार—शुक्ललेश्या और आहारक मार्गणा, नर—मनुष्य, पणिदि—पचेन्द्रिय, सन्नि—सज्ञी, भवि—भव्य मे, सव्वे—सर्व, सभी, नयणेयर—चक्षुदर्शन और इतर-अचक्षुदर्शन, पण—पाँच, लेसा—लेश्या, कसाइ-कपाय, दस—दस, केवलदुगूणा—केवलद्विक रहित।

गाथार्थ—त्रस, योग, वेद, शुक्ल लेश्या, आहारक, मनुष्य गति, पचेन्द्रिय जाति, सज्ञी, भव्य मार्गणाओ में सभी उपयोग होते है तथा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, कृष्णादि पद्म पर्यन्त पाँच लेश्या, कपाय मार्गणाओ मे केवलद्विक के सिवाय शेप दस उपयोग है।

विशेपार्थ—गाथा मे त्रसकाय आदि तेरह मार्गणाओ मे सव उपयोग तथा चक्षुदर्शन आदि ग्यारह मार्गणाओ मे दस उपयोग वतलाये है।

त्रसकाय आदि भव्यमार्गणा पर्यन्त जिन तेरह मार्गणाओं के नाम गाथा मे वताये है, उनमें से मन, वचन, काय यह तीनो योग, शुक्ल लेश्या और आहारकत्व यह मार्गणाये तेरहवे गुणस्थान पर्यन्त पाई जाती है। तेरहवे गुणस्थानवर्ती केवली भगवान मनोयोग का व्यापार मन द्वारा प्रश्नोत्तर के समय, वचनयोग का व्यापार देशना के समय एवं औदारिक काययोग का व्यापार विहार आदि शारीरिक क्रियाओ के समय करते है। इसीलिये मनोयोग आदि तीनो योग तेरहवे गुणस्थान तक माने हैं। शुक्ललेश्या सामान्य से सभी मनुष्यो मे पाई जाती है और गुणस्थानो की अपेक्षा अपूर्वकरण आदि सयोगि

केवली पर्यन्त गुणस्थानों में। अतः शुक्ल लेश्या तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त मानी है। प्रत्येक जीव जन्म से लेकर जीवन पर्यन्त लोमाहार आदि आहारों में से किसी न किसी आहार का ग्रहण करता रहता है और तेरहवें गुणस्थान में जीवनमुक्त अवस्था नहीं है। इसीलिए मनोयोग आदि शुक्ललेश्या और आहारकत्व दशा तेरहवें गुणस्थान तक मानी जाती है।

उक्त मार्गणाओं के अतिरिक्त त्रसकाय, तीन वेद, मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय, संज्ञी और भव्य मार्गणायें चौदहवें गुणस्थान तक पाई जाती हैं। चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त वेद पाये जाने का मतलब द्रव्य वेद से है, क्योंकि भाव वेद तो नौवें गुणस्थान तक ही रहता है। इन त्रसकाय आदि तेरह मार्गणाओं में मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि, देशविरति, सर्वविरति, केवलज्ञानी आदि सभी जीवों का ग्रहण होने से बारह उपयोग माने जाते हैं।

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, कृष्ण नील, कापोत, तेज, पद्म लेश्या, क्रोध, मान, माया और लोभ इन ग्यारह मार्गणाओं में केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दो उपयोगों के अतिरिक्त शेष मतिज्ञान आदि दस उपयोग बतलाये हैं। इसका कारण यह है कि चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन बारहवें गुणस्थान तक, कृष्णादि तीन अशुभ लेश्यायें छठे गुणस्थान तक, तेज पद्म लेश्यायें सातवें गुणस्थान तक और क्रोधादि कषायों का उदय दसवें गुणस्थान तक पाया जाता है। यह गुणस्थान क्षायोपशमिक भावों की अपेक्षा रखते हैं और केवलज्ञान, केवलदर्शन यह दोनों उपयोग अपने-अपने आवरण कर्म के क्षय से होने वाले हैं जो तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में पाये जाते हैं। इसीलिए चक्षुदर्शन आदि ग्यारह मार्गणाओं में केवलद्विक के सिवाय शेष दस उपयोग माने हैं।

चउरिंदिऽसन्नि दुअनाणदंस इग वि त्ति थावरि अचक्खू ।
तिअनाण दंसणदुगं अनाणतिग अभव मिच्छदुगे ॥३२॥

शब्दार्थ—चउरिंदि—चतुरिन्द्रिय मे, असन्नि—असज्ञी मे, दुअनाणदस—दो अज्ञान और दो दर्शन, इग वि त्ति थावरि—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और स्थावरकाय मे, अचक्खू—चक्षुदर्शन के विना, ति अनाण—तीन अज्ञान, दसणदुग—दो दर्शन, अनाणतिग—अज्ञानत्रिक मे, अभव—अभव्य मे, मिच्छदुगे—मिथ्यात्वद्विक मे।

गाथार्थ—चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय मे दो अज्ञान तथा दो दर्शन, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और स्थावर काय मे चक्षुदर्शन के सिवाय तथा अज्ञानत्रिक, अभव्य और मिथ्यात्वद्विक मे तीन अज्ञान और दो दर्शन होते है।

विशेपार्थ—गाथा मे चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय मे चार उपयोग, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावरो मे तीन उपयोग तथा अज्ञानत्रिक—मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभगज्ञान, अभव्य और मिथ्यात्वद्विक में पाँच उपयोग बतलाये है। जिनका स्पष्टीकरण नीचे लिखे अनुसार समझना चाहिए।

'चउरिंदिऽसन्नि दुअनाणदस' यानी चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय जीवो मे दो अज्ञान—मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान तथा दो दर्शन—चक्षुदर्शन और अचक्षदर्शन यह चार उपयोग है। चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय जीवो मे सम्यक्त्व न होने से सम्यक्त्व सहचारी मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय, केवल यह पाँच ज्ञान तथा अवधि, केवल यह दो दर्शन कुल सात उपयोग पाये ही नही जाते है और विभगज्ञान प्राप्त करने की योग्यता नही है। इसीलिए चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय जीवो मे अज्ञानद्विक—मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और दर्शनद्विक—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन कुल मिलाकर चार उपयोग होते है।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय इन आठ मार्गणाओं में सम्यक्त्व न होने से सर्वविरति सहचारी मतिज्ञान आदि पांच ज्ञान, अवधि व केवलदर्शन और तथाविध योग्यता का अभाव होने से विभंगज्ञान यह आठ उपयोग तो इनमें पाये ही नहीं जाते हैं और 'अचक्खु' चक्षु इन्द्रिय न होने से। पूर्वोक्त मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन इन चार उपयोगों में से मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और अचक्षुदर्शन यह तीन ही उपयोग होते हैं।[1]

'अनाणतिग अभव मिच्छ दुगे' अर्थात् अज्ञानत्रिक—मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभंगज्ञान, अभव्य और मिथ्यात्वद्विक–मिथ्यात्व, सासादन, इन छह मार्गणाओं में 'तिअनाण दसणदुग' अज्ञानत्रिक और दर्शनद्विक अर्थात् मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभंगज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन यह पांच उपयोग होते हैं। लेकिन सम्यक्त्व व सर्वविरति सहचारी मतिज्ञान आदि पांच ज्ञानोपयोग और अवधि व केवलदर्शन यह सात उपयोग नहीं होते हैं।

उक्त कथन कार्मग्रन्थिक अपेक्षा से किया गया है। क्योंकि कार्मग्रन्थिक पहले तीन गुणस्थानों में अज्ञान मानते हैं और सैद्धांतिक विभंगज्ञानी को अवधिदर्शन मानते हैं और सासादन गुणस्थान में मिथ्यात्व के उदय का अभाव होने से अज्ञान न मानकर ज्ञान मानते हैं। इस प्रकार की कार्मग्रन्थिक और सैद्धान्तिक मत-भिन्नता है। यहां जो अज्ञान-

---

१ एकद्वित्रीन्द्रियस्थावरेषु मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाचक्षुर्दर्शनरूपास्त्रय उपयोगा भवन्तीत्यर्थ, न शेषा, यत सम्यक्त्वाभावाद् मतिश्रुतज्ञानासम्भव, सर्वविरत्यभावाच्च मन पर्यायज्ञान केवलज्ञान केवलदर्शनाभाव, यत् पुनरवधिद्विक विभंगज्ञान च तद् भवप्रत्यय गुणप्रत्यय, वा नचाऽनयोरन्यतरोऽपि प्रत्यय सम्भवति, चक्षुर्दर्शनोपयोगाभावस्तु चक्षुरिन्द्रियाभावादेव सिद्ध।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १६५

त्रिक आदि छह मार्गणाओं में अवधिदर्शन और सासादन मार्गणा में ज्ञान नहीं माना है सो कार्मग्रंथिक मत के अनुसार समझना चाहिए।[1]

केवलदुगे नियदुगं नव तिअनाण विणु खइय अहखाए।
दंसणनाणतिगं देसि मीसि अन्नाणमीसं तं ॥३३॥

शब्दार्थ—केवल दुगे—केवलद्विक में नियदुगं—निज द्विक, नव—नौ, ति अनाग—तीन अज्ञान, विणु—विना, खइय—क्षायिक सम्यक्त्व में, अहखाये—यथाख्यात संयम में, दंसणनाणतिगं—दर्शनत्रिक, ज्ञानत्रिक, देसि—देशविरति में, मीसि—मिश्र मे, अन्नाणमीसं—अज्ञान से मिश्रित, तं—वे।

गाथार्थ—केवलद्विक में अपने-अपने नाम वाले दो उपयोग हैं। क्षायिक सम्यक्त्व और यथाख्यात संयम में तीन अज्ञानों के सिवाय नौ तथा देशविरति में तीन दर्शन व तीन ज्ञान उपयोग होते हैं। मिश्रदृष्टि में भी वही छह उपयोग हैं लेकिन वे अज्ञानमिश्रित होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे मिश्रदृष्टि व विकासोन्मुखी जीवों में पाई जाने वाली केवलज्ञान आदि मार्गणाओं में उपयोग को बतलाया है कि उनमें कितने और कौन-कौन से उपयोग होते हैं।

सर्वप्रथम केवलज्ञान और केवलदर्शन मे उपयोग बतलाये कि 'केवलदुगे नियदुगं' उन्ही नाम वाले दो उपयोग हैं। अर्थात् केवलज्ञान में केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग हैं और इसी प्रकार केवलदर्शन में भी यही दो उपयोग हैं। उक्त दो उपयोग मानने का कारण यह है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन के सिवाय मतिज्ञान

१　विशेष स्पष्टीकरण के लिए गा० २१ व ४६ तथा गो० जीवकांड गा० ७०५ देखिये।

आदि दस उपयोग छाद्मस्थिक उपयोग है और केवली के छद्मो का क्षय हो जाने से छद्म सहचारी उपयोग सम्भव नहीं है।[1]

क्षायिक सम्यक्त्व और यथाख्यात संयम में मिथ्यात्वोदय सहभावी अज्ञानत्रिक—मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभंगज्ञान उपयोग नहीं होने से नौ उपयोग हैं। क्षायिक सम्यक्त्व के समय तो मिथ्यात्व का अभाव ही होता है और यथाख्यात संयम में जो ग्यारह से चौदहवें गुणस्थान में पाया जाता है, ग्यारहवें गुणस्थान में मिथ्यात्व भी है, लेकिन वह सत्तागत है उदयमान नहीं। इसीलिये इन दोनों मार्गणाओं में अज्ञानत्रिक उपयोग नहीं होते हैं। शेष जो नौ उपयोग होते हैं वे इस प्रकार समझना चाहिये—क्षायिक सम्यक्त्व और यथाख्यात इन दो मार्गणाओं में छद्मस्थ अवस्था में पहले चार ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय और चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन यह तीन दर्शन कुल सात उपयोग होते हैं तथा केवली के केवलज्ञान व केवलदर्शन ये दो उपयोग होते हैं। उक्त सात और दो को मिलाकर कुल नौ उपयोग होते हैं।

देशविरति में 'दंसणनाणतिग देसि' तीन दर्शन और तीन ज्ञान सब मिलाकर छह उपयोग होते हैं। तीन दर्शन और तीन ज्ञान के नाम इस प्रकार हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान। इन छह में अवधिद्विक को इसलिये ग्रहण किया गया है कि श्रावकों में अवधि उपयोग पाये जाने का वर्णन शास्त्रों में आता है।

देशविरति में तीन अज्ञान और मनपर्याय ज्ञान तथा केवलद्विक

---

[1] केवलद्विके केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणे 'निजद्विकं' केवलज्ञानकेवलदर्शन रूपमुपयोगद्विकं भवति, न शेषा दश, ज्ञानदर्शनव्यवच्छेदेनैव केवलयुगलस्य सद्भावात् नट्ठम्मि उ छउमत्थिए नाणे इति वचनात्।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १६६

इन छह उपयोगो के नही होने का कारण यह है कि देशविरति मे मिथ्यात्व का उदय नही होने मे मिथ्यात्व सहभावी अज्ञानत्रिक उपयोग नही होते हैं तथा मनपर्यायज्ञान व केवलद्विक यह तीन उपयोग सर्वविरति की अपेक्षा रखने वाले है, लेकिन देशविरति मे एकदेश आशिक सयम का आचरण होता है। अत· मनपर्याय, केवलद्विक यह तीन उपयोग नही पाये जाते हैं।

मिश्रदृष्टि मे भी देशविरति की तरह दर्शनत्रिक और ज्ञानत्रिक कुल छह उपयोग है। लेकिन देशविरति की अपेक्षा इतनी विशेषता है कि मिश्रदृष्टि मे 'अन्नाणमीस' अज्ञान से मिश्रित होते है, शुद्ध नही होते है। अर्थात् मतिज्ञान मतिअज्ञान से मिश्रित, श्रुतज्ञान श्रुतअज्ञान से मिश्रित, अवधिज्ञान अवधिअज्ञान (विभंगज्ञान) से मिश्रित होना है। इस मिश्रितता का कारण यह है कि मिश्रदृष्टि गुणस्थान के समय अर्ध-विशुद्ध दर्शन मोहनीय पुज का उदय होने के कारण परिणाम कुछ शुद्ध और कुछ अशुद्ध यानी मिश्र होते हैं। शुद्धि की अपेक्षा मति आदि को ज्ञान और अशुद्धि की अपेक्षा अज्ञान कहा जाता है।

मिश्र गुणस्थान मे अवधिदर्शन का विचार करने वाले कार्मग्रंथिक दो पक्ष हैं। पहला पक्ष चौथे आदि नौ गुणस्थानों मे अवधिदर्शन मानता है।[1] दूसरा पक्ष तीसरे गुणस्थान मे अवधिदर्शन मानता है।[2] यहाँ दूसरे पक्ष को लेकर मिश्रदृष्टि के उपयोगो मे अवधिदर्शन को गिना है।

मणनाणचक्खुवज्जा अणहारे तिन्नि दंस चउ नाणा।
चउनाणसंजमोवसम वेयगे ओहिदंसे य ॥३४॥

---

१ यह पक्ष गाथा २१ के 'जयाइ नव मइसुओहि दुगे' पद मे बताया है।
२ इस पक्ष को गाथा ४८ 'ति अनाण·· ·· अंत दुगे' मे कहा है।

मणनाण—मनपर्यायज्ञान, चक्खु—चक्षुदर्शन वज्जा—छोडकर, अणहारे—अनाहारक मे तिन्नि—तीन, दस—दर्शन चउ—चार नाणा—ज्ञान, चउ—चार नाण—ज्ञान संजम—संयम उवसम—उपशम वेयगे—वेदक मे, ओहिदंसे—अवधिदर्शन मे य—और।

गाथार्थ—अनाहारक मार्गणा मे मनपर्यायज्ञान और चक्षुदर्शन के सिवाय शेष दस उपयोग होते हैं। चार ज्ञान, चार संयम, उपशम, वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व और अवधिदर्शन मे तीन दर्शन और चार ज्ञान उपयोग हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे बताई गई मार्गणाओं मे उपयोगों का कथन नीचे लिखे अनुसार है।

सर्वप्रथम अनाहारक मार्गणा मे उपयोग बतलाये हैं कि 'मणनाण चक्खु वज्जा' मनपर्यायज्ञान और चक्षुदर्शन को छोडकर शेष दस उपयोग होते हैं। क्योंकि यह उपयोग पर्याप्त अवस्थाभावी होने से अनाहारक मार्गणा मे नहीं होते हैं।

अनाहारकत्व अवस्था विग्रहगति मे, केवली समुद्घात मे अथवा मोक्ष मे होती है। अनाहारकत्व मे मनपर्यायज्ञान को छोड कर जो मतिज्ञान आदि चार ज्ञान, मति अज्ञान आदि तीन अज्ञान तथा चक्षुदर्शन के अतिरिक्त अचक्षुदर्शन आदि तीन दर्शन कुल दस उपयोग बतलाए हैं, उनमे से विग्रहगति मे आठ उपयोग होते हैं—भावी तीर्थंकर आदि सम्यक्त्वी की अपेक्षा तीन ज्ञान, मिथ्यात्वी की अपेक्षा तीन अज्ञान तथा सम्यक्त्वी, मिथ्यात्वी दोनों की अपेक्षा अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन। केवली समुद्घात तथा मोक्ष मे केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दो उपयोग होते हैं। इस प्रकार से विग्रहगति सम्बन्धी आठ और केवली समुद्घात व मोक्ष मे पाये जाने वाले दो उपयोगों को मिलाकर अनाहारक मार्गणा मे दस उपयोग माने हैं।

गाथा के 'चउ नाण सजम' पद से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनपर्यायज्ञान इन चार ज्ञानो तथा सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसपराय इन चार सयमो को ग्रहण किया है तथा 'उवसम वेयगे ओहिदसे' पद से उपशम सम्यक्त्व, वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व और अवधिदर्शन[1] मार्गणा को ग्रहण किया है। यह सब भेद मिलकर ग्यारह है। ये ग्यारह मार्गणाये चौथे से लेकर बारहवे गुणस्थान पर्यन्त नौ गुणस्थानो मे पाई जाती है। इसलिए इन मार्गणाओ मे मिथ्यात्व का अभाव होने से तीन अज्ञान—मति-अज्ञान, श्रुतअज्ञान, अवधिअज्ञान (विभगज्ञान) तथा क्षायिक भाव रूप केवलद्विक—केवलज्ञान, केवलदर्शन यह पाच उपयोग तो नही किंतु 'तिन्नि दस चउनाणा' तीन दर्शन—चक्षु, अचक्षु, अवधि और चार ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय कुल सात उपयोग होते है।

मार्गणाओ मे उपयोग का कथन करने के पश्चात् अन्य आचार्यो द्वारा की गई विवक्षाओ को नीचे लिखी गाथा मे प्रस्तुत करते है—

दो तेर तेर बारस मणे कमा अट्ठ दु चउ चउ वयणे।
चउ दु पण तिन्नि काए जियगुणजोगोवओगऽन्ने ॥३५॥

शब्दार्थ—दो—दो, तेर—तेरह, तेर—तेरह, बारस—बारह, मणे—मनोयोग मे, कमा—अनुक्रम से, अट्ठ—आठ, चउ—चार, चउ—चार, वयणे—वचनयोग मे, चउ—चार, दु—दो, पण—पाच, तिन्नि—तीन, काये—काययोग मे, जिय—जीवस्थान, गुण—गुणस्थान, जोग—योग, उवजोग—उपयोग, अन्ने—अन्य आचार्य (कहते है)।

---

१ अवधिदर्शन मे कार्मग्रन्थिक मतानुसार मतिअज्ञान आदि की विवक्षा नही की है। सिद्धान्त मे तो अवधिदर्शन मे भी मतिअज्ञान आदि को माना गया है।

गाथाथ—अन्य आचार्यों के मतानुसार मनोयोग मे दो, तेरह, तेरह और बारह, वचनयोग मे आठ, दो, चार और चार, काययोग मे चार, दो, पाच और तीन क्रमश जीवस्थान, गुणस्थान, योग और उपयोग होते हैं।

विशेषाथ—पूव मे बिना किसी विशेष विवक्षा के मन, वचन और काययोग मे जीवस्थान आदि का विचार किया गया है। लेकिन इस गाथा मे योगो मे विशेष विवक्षाओ को लेकर जीवस्थान, गुणस्थान, योग और उपयोग सम्बन्धी मतान्तर का सकेत किया गया है कि अन्य आचाय मनोयोग मे दो जीवस्थान, तेरह गुणस्थान, तेरह योग और बारह उपयोग मानते हैं। इसी प्रकार से वचनयोग मे आठ जीवस्थान, दो गुणस्थान, चार योग और चार उपयोग तथा काययोग मे चार जीवस्थान, दो गुणस्थान, पाँच योग एव तीन उपयोग मानते हैं।

उक्त मतान्तर का अभिप्राय नीचे लिखे अनुसार है—

पूव मे जो योग कह गये हैं उनमे काययोग सभी जीवो को, वचनयोग द्वीन्द्रियादिक सभी जीवा को और मनोयोग सज्ञी पचेन्द्रिय को बताया है। लेकिन कतिपय आचाय मतान्तर से कहते हैं कि जिसे एक योग होता है, उसे दूसरा योग नही मानना चाहिए। सज्ञी पचेन्द्रिय को मनोयोग है, उसे वचनयोग और काययोग नही है। विकलेन्द्रिया और असज्ञी पचेन्द्रिय को वचनयोग और एकेन्द्रिय को सिफ एक काययोग मानें तब उनके मतानुसार—

मनोयोगी को दो जीवस्थान—सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त-अपर्याप्त, तेरह गुणस्थान—मिथ्यात्व स लेकर सयोगिकेवली पयन्त। तेरह योग—औदारिकमिश्र और कामण के सिवाय। क्योंकि ये दोनो योग जन्म के समय तथा केवली समुद्घात मे होते हैं और वहाँ मनोयाग नही होता है। बारह उपयोग—मतिज्ञान आदि होते हैं।

वचनयोगी को आठ जीवस्थान—दो द्वीन्द्रिय के, दो त्रीन्द्रिय

के, दो चतुरिन्द्रिय के और दो असंज्ञी पचेन्द्रिय के। दो गुणस्थान मिथ्यात्व, सासादन। चार योग--औदारिकद्विक, कार्मण और असत्यामृषा वचन। चार उपयोग--दो अज्ञान और दो दर्शन।

काययोगी को चार जीवस्थान--एकेन्द्रिय के सूक्ष्म और वादर तथा इनके पर्याप्त-अपर्याप्त के भेद से। दो गुणस्थान--मिथ्यात्व, सासादन। पाँच योग--औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक और कार्मण। तीन उपयोग--दो अज्ञान और अचक्षुदर्शन।

इस प्रकार से योग मे जीवस्थान आदि मानने के सम्वन्ध मे मतान्तर का सक्षेप मे उल्लेख किया गया है। विशेप स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है।

पूर्व मे किसी प्रकार की विवक्षा किये विना तीन योगो मे जीवस्थान आदि का विचार किया गया है, जवकि यहाँ विशेप विवक्षा पूर्वक। यहाँ प्रत्येक योग की यथासभव अन्य योग से रहित की विवक्षा है और पूर्व मे काययोग को मनोयोग और वचनयोग रहित माना है। वचनयोग, मनोयोगरहित और मनोयोग सामान्य से विवक्षित है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय में मनोयोग रहित वचनयोग तथा एकेन्द्रिय मे मनोयोग और वचनयोगरहित सिर्फ काययोग होता है। मनोयोग मे सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त यह दो जीवस्थान होते हैं। यहाँ अपर्याप्त का अर्थ करण-अपर्याप्त समझना चाहिए।

शंका--मनपर्याप्ति तो छह पर्याप्तियों में अतिम पर्याप्ति है और मनपर्याप्ति के पूर्ण होने पर ही जीव पर्याप्त होता है, अपर्याप्त नही, तो अपर्याप्त अवस्था कैसे मानी जा सकती है ?

उत्तर--गाथा १७ मे मनोयोगमार्गणा का जो सज्ञी पचेन्द्रिय यह एक ही जीवस्थान माना है सो वर्तमान मनोयोग वाले जीव की अपेक्षा से और यहाँ (गाथा ३५ मे) जो दोनों जीवस्थान माने है, वे वर्तमान और भावी उभय मनोयोग वालो को मनोयोगी मानकर।

अयोगिकेवली के सिवाय तेरह गुणस्थान होते है और चौदहवा गुणस्थान अयोगि को ही होता है, योग वाले को नही।

कार्मण और औदारिकमिश्र के अलावा तेरह योग होते हैं। यहा योग मे मनोयोग के समकालीन योगो की गणना की है, दूसरा की नही। इसीलिए अपर्याप्त अवस्थाभावी अथवा केवलीसमुद्घात-भावी उक्त दोनो योग मनोयोग मार्गणा मे सम्भव नही हैं। केवली समुद्घात मे द्रव्यमन है किन्तु प्रयोजन न होने से केवलज्ञानी मनो-वर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण नही करते हैं। अर्थात् उस अवस्था मे भी वचनयोग व काययोग का साहचर्य वाला मनोयोग नही है। ग्रथो मे ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि—

मनोवचसी तु तदा सर्वथा न व्यापारयति प्रयोजनाभावात।

—धर्मसार टीका

उपयोग बारह होते हैं। मन वाले प्राणियों मे सभी तरह की बोधशक्ति होती है। इसीलिये मनोयोग मार्गणा म बारह उपयोग होते हैं।

अब वचनयोग सम्बन्धी मतान्तर का उल्लेख करते हैं। यहाँ वचन-योग का आशय मनोयोग से रहित वचनयोग है। वचनयोग मार्गणा म आठ जीवस्थान, दो गुणस्थान, चार योग, चार उपयोग होते हैं। आठ जीवस्थान इस प्रकार हैं कि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय चारो पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से आठ। १७वीं गाथा म सामान्य वचनयोग वाले की विवक्षा है, लेकिन यहा वर्तमान और भावी दोनो अवस्थाभावी जीवस्थानो की गणना है जिससे वहाँ पाच और यहाँ आठ जीवस्थान कहे हैं।

मिथ्यात्व और सासादन यह दो गुणस्थान होते हैं। कार्मण, औदारिकमिश्र, औदारिक और असत्यामृषा वचनयोग यह चार योग हैं तथा मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन यह चार

उपयोग हैं। पहले गाथा २२, २८ और ३१ में जो तेरह गुणस्थान, तेरह योग और बारह उपयोग माने गये हैं, वहाँ वचनयोग मार्गणा में समकालीन योगों की विवक्षा है, यानी अपर्याप्त अवस्थाभावी कार्मण, औदारिकमिश्र की गणना नहीं की है। यहाँ असमकालीन किन्तु भावी की अपेक्षा गणना करके कार्मण-औदारिकमिश्र की भी विवक्षा की है। इसी प्रकार दो गुणस्थानों और चार उपयोगों के बारे में भी समझ लेना चाहिए।

अब काययोग के मतान्तर का स्पष्टीकरण करते हैं कि काययोग यानी वचनयोग, मनोयोग रहित काययोग। इसमें चार जीवस्थान, दो गुणस्थान, पाँच योग और तीन उपयोग होते हैं।

सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रिय, यह दोनों पर्याप्त और अपर्याप्त, इस प्रकार से चार जीवस्थान होते हैं। पहला और दूसरा यह दो गुणस्थान, औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक और कार्मण यह पाँच योग तथा मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन यह तीन उपयोग होते हैं। पहले गाथा १६, २२, २४ और ३१ में जीवस्थान चौदह, गुणस्थान तेरह, योग पन्द्रह और उपयोग बारह बतलाये गये हैं। वहाँ अन्य योग सहचरित काययोग की विवक्षा है और यहाँ अन्य योगरहित काययोग की विवक्षा। जो सिर्फ एकेन्द्रिय में ही पाया जाता है। इसी प्रकार योग, उपयोग आदि को भी घटाया जा सकता है।

इस प्रकार अन्य आचार्यों द्वारा विवक्षा भेद से माने गये मतान्तरों को इस गाथा में बतलाया। लेकिन तीनों योग-विषयक यह मतान्तर त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है। क्योंकि मनोयोग में जो दो जीवस्थान कहे हैं, उनमें अपर्याप्त को मन कैसे संभव है? मनपर्याप्ति पूर्ण हो तब मनोयोगी कहलाता है और उसे पर्याप्त कहते हैं और कदाचित मनोलब्धिवत अपर्याप्त को मन कहें तो इसको योग १५ होना चाहिए। औदारिकमिश्र और कार्मणयोग को क्यों नहीं माना जाता है? वचन-

योग मे जो आठ जीवस्थान कहे हैं व कैसे सभव हैं ? अपर्याप्त को भाषापर्याप्ति पूर्ण किये बिना वचनयोग कैसे मान सकते हैं ?

मार्गणाओ मे उपयोगो की सख्या निम्न अनुसार है—

क्रम सख्या	मार्गणा नाम	उपयोगो की सख्या व नाम
	१ गति मार्गणा	
१	१ नरकगति	९ मनपर्यायज्ञान, केवलद्विक को छोडकर
२	२ तिर्यंचगति	९ " "
३	३ मनुष्यगति	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)
४	४ देवगति	९ नरकगतिवत्
	२ इन्द्रियमार्गणा	
५	१ एकेन्द्रिय	३ मति श्रुत अज्ञान, अचक्षुदर्शन
६	२ द्वीन्द्रिय	३ " " "
७	३ त्रीन्द्रिय	३ " " "
८	४ चतुरिन्द्रिय	४ मति श्रुतअज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन
९	५ पचेन्द्रिय	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)
	३ कायमार्गणा	
१०	१ पृथ्वीकाय	३ मति श्रुतअज्ञान, अचक्षुदर्शन
११	२ जलकाय	३ " "
१२	३ अग्निकाय	३ " "
१३	४ वायुकाय	३ " "
१४	५ वनस्पतिकाय	३ " "
१५	६ त्रसकाय	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)

	४ योगमार्गणा	
१६	१ मनोयोग	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)
१७	२ वचनयोग	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग ४ दर्शनोपयोग)
१८	३ काययोग	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)
	५ वेदमर्गणा	
१९	१ पुरुषवेद	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)
२०	२ स्त्रीवेद	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)
२१	३ नपुसकवेद	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)
	६ कषायमार्गणा	
२२.	१ क्रोध	१० केवलद्विक को छोड़कर
२३	२ मान	१० ,, ,,
२४	३ माया	१० ,, ,,
२५	४ लोभ	१० ,, ,,
	७ ज्ञानमार्गणा	
२६	१ मतिज्ञान	७ चार ज्ञानोपयोग, तीन दर्शनोपयोग
२७	२ श्रुतज्ञान	७ ,, ,,
२८	३ अवधिज्ञान	७ ,, ,,
२९	४ मनपर्यायज्ञान	७ ,, ,,
३०	५ केवलज्ञान	२ केवलज्ञान, केवलदर्शन

३१	६ मतिअज्ञान	५ तीन अज्ञान, दो दर्शन
३२	७ श्रुतअज्ञान	५ " "
३३	८ विभंगज्ञान	५ " "
	८ संयममार्गणा	
३४	१ सामायिक	७ चार ज्ञानोपयोग, तीन दर्शनोपयोग
३५	२ छेदोपस्थापनीय	७ " "
३६	३ परिहारविशुद्धि	७ " "
३७	४ सूक्ष्मसंपराय	७ " "
३८	५ यथाख्यात	९ तीन अज्ञान को छोड़कर
३९	६ देशविरति	६ तीन ज्ञान, तीन दर्शन
४०	७ अविरति	९ मनपर्याय ज्ञान, केवलद्विक को छोड़कर
	९ दर्शनमार्गणा	
४१	१ चक्षुदर्शन	१० केवलद्विक को छोड़कर
४२	२ अचक्षुदर्शन	१० " "
४३	३ अवधिदर्शन	७ चार ज्ञानोपयोग, तीन दर्शनोपयोग
४४	४ केवलदर्शन	२ केवलज्ञान, केवलदर्शन
	१० लेश्यामार्गणा	
४५	१ कृष्णलेश्या	१० केवलद्विक को छोड़कर
४६	२ नीललेश्या	१० " "
४७	३ कापोतलेश्या	१० " "
४८	४ तेजोलेश्या	१० " "
४९	५ पद्मलेश्या	१० " "
५०	६ शुक्ललेश्या	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)

	१२ भव्य-मार्गणा	
५१.	१ भव्य	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)
५२.	२ अभव्य	५ तीन अज्ञान, दो दर्शन
	१३ सम्यक्त्वमार्गणा	
५३	१ औपशमिक	६ तीन ज्ञानोपयोग, तीन दर्शनोपयोग
५४	२ क्षायोपशमिक	७ " "
५५	३ क्षायिक	९ तीन अज्ञान को छोड़कर
५६	४ सासादन	५ तीन अज्ञान, दो दर्शन
५७	५ मिश्र	६ तीन ज्ञान, तीन दर्शन अज्ञानमिश्रित
५८	६ मिथ्यात्व	५ तीन अज्ञान, दो दर्शन
	१५ संज्ञीमार्गणा	
५९	१ संज्ञी	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)
६०	२ असंज्ञी	४ मति-श्रुतअज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन
	१४ आहारकमार्गणा	
६१	१ आहारकत्व	१२ सभी उपयोग (८ ज्ञानोपयोग, ४ दर्शनोपयोग)
६२	२ अनाहारकत्व	१० मनपर्यायज्ञान, चक्षुदर्शन को छोड़कर

विशेष—

असंज्ञी पंचेन्द्रिय में	४ उपयोग—मति-श्रुतअज्ञान, चक्षु-अचक्षु दर्शन

मार्गणाओं में विचार किये जाने वाले विषयों में से अभी तक जीवस्थान, गुणस्थान, योग और उपयोग का विवेचन किया जा चुका है। अब शेष रहे लेश्या और अल्पबहुत्व का क्रमशः विवेचन करते हैं। मार्गणाओं में लेश्याओं सम्बन्धी गाथा नीचे लिखे अनुसार है—

मार्गणाओं में लेश्या

छसु लेसासु सठाणं एगिंदि असन्नि भूदगवणेसु ।
पढमा चउरो तिन्नि उ नारय विगलग्गि पवणेसु ॥३६॥
अहखाय सुहुम केवलदुगि सुक्का छावि सेसठाणेसु ।

शब्दार्थ—छसु—छह लेसासु—लेश्याओं में सठाणं—अपने अपने नाम वाली लेश्या, एगिंदि—एकेन्द्रिय में असन्नि—असंज्ञी में, भूदगवणेसु—पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय में पढमा—आदि की, चउरो—चार लेश्यायें, तिन्नि—तीन उ—और, नारय—नारकों में विगलग्गि—विकलेन्द्रिय व अग्निकाय में पवणेसु—वायुकाय में अहखाय—यथाख्यात संयम में सुहुम—सूक्ष्मसंपराय चारित्र में, केवलदुगि—केवलद्विक—केवलज्ञान केवलदर्शन में, सुक्का—शुक्ल लेश्या, छावि—छहों लेश्यायें, सेसठाणेसु—बाकी की मार्गणाओं में।

गाथार्थ—लेश्यामार्गणा के छह भेदों में अपनी-अपनी लेश्या वाला स्थान है। एकेन्द्रिय, असंज्ञी, पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय में आदि की चार लेश्यायें और नरकगति, विकलेन्द्रियत्रिक, अग्निकाय, वायुकाय में आदि की तीन लेश्यायें होती हैं। यथाख्यात, सूक्ष्मसंपराय और केवलद्विक में शुक्ललेश्या तथा इन मार्गणाओं के अतिरिक्त बाकी बची हुई मार्गणाओं में छहों लेश्यायें हैं।

विशेषार्थ—उक्त डेढ़ गाथा में चौदह मार्गणाओं के ६२ भेदों में लेश्याओं का कथन किया गया है। इस कथन को लेश्यामार्गणा से ही प्रारम्भ करते हुए कहा है कि 'छसु लेसासु सठाणं' छह लेश्याओं में स्व-नाम वाली लेश्या होती है। यानी कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल यह लेश्या के छह भेद हैं और छहों भेदों में अपने-अपने नाम वाली एक-एक लेश्या होती है। जैसे—कृष्णलेश्या में कृष्णलेश्या, नीललेश्या में नीललेश्या। इसी प्रकार क्रमशः कापोत,

तेज, पद्म और शुक्ल लेश्यामार्गणा के लिए अपने नाम वाली लेश्या समझ लेना चाहिये।

छहो लेश्याओ मे स्व-नाम वाली लेश्या मानने का कारण यह है कि एक समय मे एक जीव के एक ही लेश्या होती है, दो नही। क्योकि छहो लेश्याये समान काल की अपेक्षा से आपस मे विरुद्ध है। जैसे कि कृष्णलेश्या के समय शुक्ललेश्या के परिणाम नही हो सकते है किन्तु कृष्णलेश्या वाले जीवो के कृष्णलेश्या ही होती है। इसी प्रकार अन्य लेश्याओं के लिए भी समझ लेना चाहिये कि प्रत्येक लेश्या मे उस नाम वाली लेश्या होती है।

एकेन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय, पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय इन पॉच मार्गणाओ मे आदि की चार—कृष्ण, नील, कापोत और तेज लेश्याये होती है। इन चार लेश्याओ मे से कृष्ण आदि तीन लेश्याये तो भवप्रत्ययिक होने से सदैव पाई जाती है। लेकिन तेजोलेश्या के सम्वन्ध मे यह ध्यान रखना चाहिये कि वह अपर्याप्त अवस्था मे होती है। जव कोई भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क या सौधर्म, ईशान स्वर्ग का देव तेजोलेश्या के परिणामो मे मर कर पृथ्वीकाय, जलकाय या वनस्पतिकाय मे जन्म लेता है तव कुछ काल के लिए अपर्याप्त अवस्था मे पूर्व-जन्म की मरणकालीन तेजोलेश्या के परिणाम वाला होता है। क्योकि यह नियम है कि जीव जिस लेश्या परिणाम मे मरता है, उन परिणामो के साथ आगामी भव मे जन्म लेता है।[1]

---

१ कृष्णनीलकापोततेजोलेश्याश्चतस्रो भवन्ति, भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवा हि स्वस्वभवच्युता एतेषु मध्ये समुत्पद्यन्ते ते च तेजोलेश्यावन्त., जीवश्च यल्लेश्य एव म्रियते अग्रेऽपि तल्लेश्य एवोपपद्यते—'जल्लेसे मरइ तल्लेसे उववज्जइ' इति वचनात्।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १६७

'नारय विगलग्गि पवणेसु तिन्नि' यानी नरकगति, विकलेंद्रिय-त्रिक—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, अग्निकाय और वायुकाय इन छह मार्गणाओं में आदि की तीन—कृष्ण, नील, कापोत लेश्यायें होती हैं। क्योंकि इन जीवों में ऐसे अशुभ परिणाम होते हैं जिससे उनमें कृष्ण आदि तीन लेश्याओं के सिवाय अन्य लेश्या में नहीं पाई जा सकती हैं।

यथाख्यात संयम, सूक्ष्मसंपराय संयम और केवलद्विक—केवलज्ञान, केवलदर्शन इन चार मार्गणाओं में सिर्फ शुक्ललेश्या ही होती है। इनमें शुक्ललेश्या ही होने का कारण यह है कि परिणाम इतने शुद्ध होते हैं कि जिससे उनमें शुक्ललेश्या के अलावा अन्य कोई लेश्या संभव नहीं है।

इस प्रकार से बासठ मार्गणाओं में से इक्कीस मार्गणाओं में तो उन-उनके नामोल्लेख पूर्वक लेश्यायें बतलाई हैं और शेष इकतालीस मार्गणाओं में लेश्यास्थान बतलाने के लिए संकेत किया गया है कि 'छावि सेसठाणेसु' शेष मार्गणाओं में छहों लेश्यायें पाई जाती हैं। शेष मार्गणाओं के नाम यह है—

१ देवगति, २ मनुष्यगति, ३ तिर्यंचगति, ४ पंचेन्द्रिय जाति, ५ त्रसकाय, ६ मनोयोग, ७ वचनयोग, ८ काययोग, ९ पुरुष वेद, १० स्त्री वेद, ११ नपुंसक वेद, १२ क्रोध, १३ मान, १४ माया, १५ लोभ, १६ मतिज्ञान, १७ श्रुतज्ञान, १८ अवधिज्ञान, १९ मनपर्यायज्ञान, २० मतिअज्ञान, २१ श्रुतअज्ञान, २२ विभंगज्ञान, २३ सामायिक संयम, २४ छेदोपस्थापनीय संयम, २५ परिहारविशुद्धि संयम, २६ देश-विरति, २७ अविरति, २८ चक्षुदर्शन, २९ अचक्षुदर्शन, ३० अवधिदर्शन, ३१ भव्यत्व, ३२ अभव्यत्व, ३३ क्षायिक सम्यक्त्व, ३४ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, ३५ औपशमिक सम्यक्त्व, ३६ सासादन सम्यक्त्व, ३७ मिश्र दृष्टि (सम्यग्मिथ्यात्व), ३८ मिथ्यात्व, ३९ संज्ञित्व, ४० आहारकत्व

और ४१ अनाहारकत्व। इन ४१ मार्गणाओ मे कृष्णादि शुक्ललेश्या पर्यन्त छहो लेश्यायें होती हैं।

इस प्रकार से मार्गणाओ मे लेश्याये बतलाई है। अब इन मार्गणास्थानों मे स्वस्थान के अपेक्षा अल्पबहुत्व को कहते है। मार्गणाओ मे अल्पबहुत्व गति आदि मार्गणाओ के मूल भेदो के क्रम से उनके उत्तर भेदो मे बतलाया है।

मार्गणाओ में अल्पबहुत्व

यहाँ चौदह मार्गणाओ मे किया गया अल्पबहुत्व का विचार प्रज्ञापना के अल्पबहुत्व नामक तीसरे पद से उद्धृत है। उक्त पद मे मार्गणाओ के अतिरिक्त और भी तेरह द्वारो मे अल्पबहुत्व का विचार किया गया है। अनुयोगद्वार व पंचसग्रह मे भी गति विषयक अल्पबहुत्व का कुछ वर्णन मिलता है।

गतिमार्गणा का अल्पबहुत्व

नरनिरयदेवतिरिया थोवा[1] दु असंखऽणंत गुणा ॥३७॥

शब्दार्थ—नर—मनुष्यगति, निरय—नरकगति, देव—देवगति, तिरिया—तिर्यंचगति, थोवा—थोडा (अल्प) दु—दोनो, असंख—असख्यात गुणा, अणंत गुणा—अनत गुणा।

गाथार्थ—मनुष्य थोड़े हैं, नारकी और देव दोनो असख्यात गुणे है और तिर्यंच अनन्तगुणे है।

विशेषार्थ—गाथा के उत्तर चरण मे गतिमार्गणा के भेदों का मनुष्य, नारक, देव और तिर्यंच गति के क्रम से अल्पबहुत्व बतलाया है कि नारक, देव और तिर्यंचो की अपेक्षा मनुष्य अल्प है। मनुष्यो की अपेक्षा नारक असंख्यातगुणे है और देव नारको की अपेक्षा असंख्यातगुणे हैं तथा देवों की अपेक्षा तिर्यंच अनंतगुणे है। यानी

---

१ गाथा मे 'थोवा' शब्द गर्भज मनुष्यो की सख्या को लेकर दिया गया है कि वे सख्यात है। लेकिन सम्मूर्च्छिम मनुष्य असख्यात है।

मनुष्यों की संख्या अल्प है और तिर्यंचों की संख्या सबसे अधिक तथा नारक व देव परस्पर एक-दूसरे से अल्पाधिक हैं।

मनुष्य, नारक, देव और तिर्यंचों का परस्पर अल्पबहुत्व ऊपर संक्षेप में कहा गया है। उसे ठीक-ठीक समझने के लिए मनुष्य आदि की संख्या शास्त्रोक्त रीति के अनुसार यहाँ स्पष्ट की जाती है।

मनुष्यों की संख्या

मनुष्यों के दो भेद हैं—(१) सम्मूर्च्छिम, (२) गर्भज। सम्मूर्च्छिम मनुष्य गर्भज मनुष्य के मल, मूत्र, शोणित, मांस, पीप और शरीर आदि अपवित्र चौदह स्थानों में उत्पन्न होते हैं और अन्तर्मुहूर्त आयु वाले होते हैं तथा आँखों से दिखलाई नहीं देते हैं। उनका जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से चौबीस मुहूर्त प्रमाण जन्म-मरण का विरह काल पड़ जाता है।[1] इसलिए सम्मूर्च्छिम मनुष्य किसी समय होते हैं और किसी समय नहीं भी होते हैं। लेकिन गर्भज मनुष्य तो सदैव रहते ही हैं। वे संख्यात होते हैं, असंख्यात नहीं और वह संख्या २९ अंक प्रमाण है। इसलिए मनुष्यों की कम से कम (जघन्य) यह संख्या हुई और उत्कृष्ट असंख्यात होते हैं। २९ अंकों को जानने की विधि नीचे स्पष्ट करते हैं।

ये २९ अंक पाँचवें वर्ग[2] के साथ छठे वर्ग को गुणने से प्राप्त होते हैं।[3] एक का तो वर्ग होता ही नहीं।[4] वर्ग का प्रारम्भ दो से होता है। इसलिए २ को २ के साथ गुणने पर ४ होते हैं, यह पहला वर्ग, ४ के

१ बारस मुहुत्त गब्भे उक्कोसं समुच्छिमेसु चउवीसं।
उक्कोस विरहकालो दोसु वि य जहन्नओ समओ॥ —बृहत्संग्रहणी

२ समान दो संख्याओं के गुणनफल को उस संख्या का वर्ग कहते हैं। जैसे ५ का वर्ग २५।

३ छट्ठो वग्गो पंचमवग्ग पडुप्पन्नो। —प्रज्ञापना सूत्र

४ एकेन गुणितं तदेव।

साथ ४ को गुणने से १६ होते हैं, यह दूसरा वर्ग। १६ को १६ से गुणने पर २५६ होते है, यह तीसरा वर्ग। २५६ को २५६ से गुणने पर ६५५३६ होते है, यह चौथा वर्ग। ६५५३६ को ६५५३६ से गुणने पर ४२९४९६७२९६ होते है, यह पाँचवाँ वर्ग। इसी पाँचवें वर्ग की सख्या को उसी सख्या के साथ गुणने से १८४४६७४४०७३७०९५५१६१६ होते हैं, यह छठा वर्ग। इस छठे वर्ग की सख्या को उपर्युक्त पाँचवे वर्ग की सख्या से गुणने पर ७९,२२,८१,६२,५१,४२,६४,३३,७५,९३,५४,३९,५०,३३६ होते है, ये उनतीस अक हुए।[1] अथवा १ को ९६ बार रखकर दुगना करते जाये तो यह उनतीम अक प्रमाण संख्या होगी। जैसे कि १ का

---

१ (क) छग तिन्नि तिन्नि सुन्न पचेव य नव य तिन्नि चत्तारि।
पचेव तिन्नि नव पच सत्त तिन्नेव तिन्नेव॥
चउ छ दो चउ इक्को पण दो छक्किक्कगो य अट्ठेव।
दो दो नव सत्तेव य अकट्ठाणा पराहुत्ता॥
—अनुयोगद्वार चूर्णि

(ख) इन उनतीम अको को गर्भज मनुष्यो की सख्या के लिए अक्षरो के सकेत द्वारा गो० जीवकाड गाथा १५८ मे बताया है—
तललीनमधुगविमलधूमसिलागाविचोरभयमेरू।
तटहरिखझसा होंति हु माणुसपज्जत्त सखका॥
—तकार से लेकर सकार पर्यन्त क्रमश बताये गये अक्षरो के अक प्रमाण पर्याप्त मनुष्यो की सख्या है।
किम अक्षर से किस अक को ग्रहण करना चाहिये, इसके लिए उपयोगी गाथा है—
कटपयपुरस्थवर्णैर्नवनवपचाष्टकल्पितै क्रमश।
स्वरजनशून्य सख्यामात्रोपरिमाक्षर त्याज्यम्॥
—अर्थात् क से लेकर आगे झ तक के नौ अक्षरो से क्रमश एक, दो आदि नौ अक समझना चाहिये। इसी प्रकार ट से लेकर नौ अक, प से लेकर पाँच अक तथा य से लेकर आठ अक्षरो से आठ अक एव सोलह स्वर ञ, न से शून्य समझना चाहिए।

दूना २, २ का दूना ४, ४ का दूना ८ इस तरह पूर्व-पूर्व संख्या को उत्तरोत्तर ९६ बार दूना करना चाहिए।

उक्त २९ अंकों को बोलने की प्राचीन रीति इस प्रकार है—

सात कोडाकोडी-कोडाकोडी, बानवें लाख कोडाकोडी कोडी, अट्ठाईस हजार कोडाकोडी कोडी एकसौ कोडाकोडी कोडी, बासठ कोडाकोडी कोडी, इक्यावन लाख कोडाकोडी, बयालीस हजार कोडा कोडी, छहसौ कोडाकोडी, तेतालीस कोडाकोडी, सतीस लाख कोडी, उनसठ हजार कोडी, तीन सौ कोडी, चउवन कोडी, उनतालीस लाख, पचास हजार, तीन सौ छत्तीस।

मनुष्यों की जघन्य संख्या बतलाकर अब उत्कृष्ट संख्या बतलाते हैं। यह उत्कृष्ट संख्या असंख्यात है।

मनुष्यों की उत्कृष्ट संख्या सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की संख्या की अपेक्षा पाई जाती है। जब सम्मूर्च्छिम मनुष्य पैदा होते हैं तब वे एक साथ अधिक से अधिक असंख्यात तक होते हैं। असंख्यात संख्या के असंख्यात भेद हैं। इनमें से जो असंख्यात संख्या मनुष्यों के लिए मानी जाती है उसका परिचय शास्त्रों में काल और क्षेत्र[1] दो प्रकार से दिया गया है। जिसको यहाँ स्पष्ट किया जाता है।

काल से—असंख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के जितने समय होते हैं, मनुष्य अधिक से अधिक उतने पाये जा सकते हैं और क्षेत्र से—सात राजू प्रमाण घनीकृत लोक की अंगुलमात्र सूचि-श्रेणि के

---

१ काल और क्षेत्र को लेकर मनुष्यों की उत्कृष्ट संख्या बताने का कारण यह है कि काल से क्षेत्र अत्यन्त सूक्ष्म माना गया है। अंगुल प्रमाण सूचि श्रेणि के प्रदेशों की संख्या असंख्यात अवसर्पिणी के बराबर मानी है—

सुहुमो य होइ कालो तत्तो सुहुमयरं हवइ खित्तं।
अंगुलसेढीमित्ते ओसप्पिणीउ असंखिज्जा॥

—आवश्यक निर्युक्ति

प्रदेशो के तीसरे वर्गमूल को उन्ही के प्रथम वर्गमूल के साथ गुणने पर जो सख्या प्राप्त होती है, उसका सपूर्ण सूचि-श्रेणिगत प्रदेशो मे भाग देना और भाग देने पर जो सख्या प्राप्त होती है, एक कम वही सख्या मनुष्यो की उत्कृष्ट संख्या है।[1]

यह संख्या अगुल-मात्र सूचि-श्रेणि के प्रदेशो की सख्या, उनके तीसरे वर्गमूल और प्रथम वर्गमूल की सख्या तथा सपूर्ण सूचि-श्रेणी के प्रदेशो की सख्या असंख्यात ही है। इसका स्पष्टीकरण कल्पना द्वारा करते हैं।

मान लो कि संपूर्ण सूचि-श्रेणी के प्रदेश ३२०००० हैं और अगुलमात्र सूचि-श्रेणि के प्रदेश २५६। इन २५६ का प्रथम वर्गमूल[2] १६ और तीसरा वर्गमूल २ होता है। तीसरे वर्गमूल के साथ प्रथम वर्गमूल को गुणने से ३२ होते है और ३२ का ३२०००० में भाग देने पर लब्ध १०००० होते हैं। इनमे से १ कम कर देने पर शेष ९९९९ रहे। यह कल्पना है लेकिन कल्पनानुसार यह सख्या वस्तुत: असंख्यात रूप है और उसे मनुष्यो की उत्कृष्ट सख्या समझना चाहिए।

नारक मनुष्यो की अपेक्षा असख्यात गुणे अधिक होते हैं। यानी मनुष्य असख्यात है और मनुष्यों की इस असख्यात सख्या से नारक

---

१ (क) उक्कोसपए असखिज्जा असखिज्जाहिं उसप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरति कालओ, खित्तओ उक्कोसपए रूवपक्खित्तेहिं मणूसेहिं सेढी अवहीरइ, असखेज्जाहिं अवसप्पिणीहिं उस्सप्पिणीहिं कालओ, खित्तओ अगुलपढमवग्गमूल तइय-वग्गमूलपडुप्पन्न। —अनुयोगद्वार सूत्र

(ख) मनुष्यो की यह सख्या इसी रीति से गो० जीवकाड गा० १५७ मे दी है—

सेढीसूईअंगुलआदिमतदियपदभाजिदेगूणा।

२ जिस सख्या का वर्ग किया जाये वह सख्या उस वर्ग का वर्गमूल है।

असख्यात गुणा अधिक है। नारकों की सख्या को शास्त्र में काल और क्षेत्र से इस प्रकार स्पष्ट किया है—

काल से नारक असख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के समयों के तुल्य है और क्षेत्र से सात रज्जु प्रमाण घनीकृत लोक के अगुल मात्र प्रस्तर-क्षेत्र मे जितनी सूचि-श्रेणिया होती हैं, उनके द्वितीय वर्गमूल को उन्ही के प्रथम वर्गमूल के साथ गुणा करने पर जो गुणनफल हो उतनी सूचि-श्रेणियो के प्रदेशो की सख्या और नारको की सख्या बराबर होती है।[1]

कल्पना से मान लो कि अगुलमात्र प्रतर-क्षेत्र मे २५६ सूचि-श्रेणियाँ हैं। उनका प्रथम वर्गमूल १६ हुआ और दूसरा ४। इस १६ को ४ से गुणा करने पर ६४ होते हैं। ये ६४ सूचि-श्रेणिया हुईं। प्रत्येक सूचि श्रेणि के ३२००००० प्रदेशो के हिसाब से ६४ सूचि श्रेणियो के २०४८००००० प्रदेश हुए, जो नारको की सख्या हुई।

नारको की अपेक्षा देव असख्यातगुणे हैं। देवो के चार निकाय

---

१ (क) नारकाणा बद्धानि वैक्रियशरीराण्यसख्येयानि प्रतिनारकमेकैकवैक्रिय-सद्भावाद् नारकाणा चासख्येयत्वात्, तानि च कालतोऽसख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयराशितुल्यानि। क्षेत्रतस्तु प्रतरासख्येयभागवर्त्यसख्येयश्रेणीनां य प्रदेशास्तत्सख्यानि भवन्ति इदमत्र तात्पर्यम्—सप्तरज्जुप्रमाणस्य घनीकृतस्य लोकस्य या ऊर्ध्वाधआयता एकप्रादेशिक्य श्रेणयोऽङ्गुलमात्रप्रतरक्षेत्रवर्तिन्यस्तासां द्वितीयवर्गमूलघनप्रदेशराशिप्रमाणास्तासां यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणा नारका, अतस्ते नरेभ्योऽसख्यातगुणा एव।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १७१

(ख) अनुयोगद्वार सूत्र।

(ग) गो० जीवकांड गा० १५३ में जो नारकों की सख्या दी गई है वह इससे नहीं मिलती है। वहाँ घनागुल के दूसरे वर्गमूल मे गुणित जगत्श्रेणी प्रमाण सपूर्ण नारको की सख्या बताई है।

है—भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष और वैमानिक। उनमें भवनपति देव असंख्यात है। ये भवनपति भी असुरकुमार आदि के भेद से दस प्रकार के है। इनमे असुरकुमार की सख्या इस प्रकार बताई है कि अगुलमात्र आकाश-क्षेत्र के जितने प्रदेश हैं, उनके प्रथम वर्गमूल के असख्यातवे भाग मे जितना आकाश आ सकता है, उतनी सूचि-श्रेणियो के प्रदेश के बराबर असुरकुमारो की सख्या है। इसी प्रकार नागकुमार आदि अन्य सब भवनपति देवों की सख्या समझना चाहिये।[1]

इस सख्या को समझने के लिए कल्पना करते है कि अंगुलमात्र आकाश-क्षेत्र के २५६ प्रदेश हैं। उनका प्रथम वर्गमूल १६ होगा और १६ का असख्यातवा भाग कल्पना से दो मान लिया जाये तो २ सूचि-श्रेणियो के प्रदेशों के बराबर असुरकुमार हैं। प्रत्येक सूचि-श्रणि के ३२०००० प्रदेश कल्पना से मानें तो २ सूचि-श्रेणियों के प्रदेश ६४०००० हुए। यही सख्या असुरकुमार आदि प्रत्येक प्रकार के भवनपति देवो की समझना चाहिये। यह कल्पना है लेकिन यह सख्या असख्यात होगी।

व्यंतर निकाय के देव भी असख्यात हैं। इनमे से किसी एक प्रकार के व्यतर देवो की सख्या का मान इस प्रकार बताया है कि संख्यात योजन प्रमाण सूचि-श्रेणि के जितने प्रदेश हैं, उनसे घनीकृत लोक के मण्डकाकार समग्र प्रतर के प्रदेशों को भाग दिया जाये और भाग

---

१ तत्राऽसुरकुमारा अपि तावद् घनीकृतस्य लोकस्य या ऊर्ध्वाधआयता एक-प्रादेशिक्य श्रेणयोऽङ्गुलमात्रक्षेत्रगतप्रदेशराशिसवधिप्रथमवर्गमूलासख्येय-भागगतप्रदेशराशिप्रमाणास्तासा सवधी यावान् प्रदेशराशिस्तावत्सख्याका, एव नागकुमारादयोऽपि द्रष्टव्य।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १७१

देने पर जितने प्रदेश लब्ध होते हैं, प्रत्येक प्रकार के व्यन्तर देव उतने होते हैं।[1]

इसको समझने के लिये भी कल्पना करनी होगी कि संख्यात योजन प्रमाण सूचि-श्रेणि के प्रदेश १०००००० हैं। प्रत्येक सूचि-श्रेणि के ३२००००० प्रदेशों की कल्पित संख्या के अनुसार समग्र प्रतर के १०२४०००००००००० प्रदेश हुए। इस संख्या को १०००००० का भाग देने पर १०२४०००० लब्ध हुए। यह एक व्यंतर-निकाय की संख्या हुई। यह संख्या वस्तुतः असंख्यात है।

ज्योतिषी देवों की असंख्यात संख्या के लिये कहा है कि २५६ अंगुल प्रमाण सूचि-श्रेणि के जितने प्रदेश होते हैं, उनसे समग्र प्रतर के प्रदेशों को भाग देना और भाग देने में जो लब्ध हो, उतने ज्योतिषी देव हैं।[2]

इसको भी कल्पना से समझाते हैं कि २५६ अंगुल प्रमाण सूचि श्रेणि में ६५५३६ प्रदेश होते हैं। उनसे समग्र प्रतर के कल्पित— १०२४०००००००००० को भाग देना। भाग देने से लब्ध १५६२५००००

---

१ (क) संखेज्जजोयणाणं सूइपएसेहिं भाइओ पयरो।
वंतरसुरेहिं हीरइ एवं एक्केक्कभेएणं॥ —पंचसंग्रह २।१४

(ख) संख्येययोजनप्रमाणाकाशप्रदेशसूचिरूपैः खण्डैर्विभज्यमानस्य घनीकृतस्य लोकस्य सम्बन्धी प्रतरोऽपहियते तावत्प्रमाणा व्यन्तराः।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १७१

२ (क) छप्पन्नदोसयंगुल सूइपएसेहिं भाइओ पयरो।
जोइसिएहिं हीरइ ॥ —पंचसंग्रह २।१५

(ख) गो० जीवकांड गा० १६० में व्यन्तर और ज्योतिषी देवों की जो संख्या बताई है, उसमें व्यन्तर देवों का प्रमाण तो कार्मग्रन्थिक मत जैसा जान पड़ता है। लेकिन ज्योतिषी देवों का प्रमाण भिन्न है—
तिण्णिसयजोयणाणं बेसदछप्पण्ण अंगुलाणं च।
कदिहिदपदरं वेंतर जोइसियाणं च परिमाणं॥

हुआ, जो ज्योतिषी देवों का प्रमाण समझना चाहिये। यह संख्या भी असंख्यात है।

वैमानिक देवों की संख्या असंख्यात है। यह असंख्यात संख्या इस प्रकार समझनी चाहिये कि अंगुल-मात्र आकाश-क्षेत्र के जितने प्रदेश हैं, उनके तीसरे वर्गमूल का घन[1] करने से जितने आकाश-प्रदेश हों, उतनी सूचि-श्रेणियों के प्रदेशों के बराबर वैमानिक हैं।

इसके लिये कल्पना कर लो कि अंगुल मात्र आकाश के २५६ प्रदेश हैं। इन २५६ का तीसरा वर्गमूल २ हुआ और २ का घन ८ है। ८ सूचि-श्रेणियों के प्रदेश २५६००००० होते हैं। क्योंकि प्रत्येक सूचि-श्रेणि के प्रदेश कल्पना से ३२००००० माने हैं। यही संख्या वैमानिक देवों की समझनी चाहिये।

इस प्रकार से भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक सब देवों की संख्या नारकों से असंख्यात गुणी है।

देवों से तिर्यंचों के अनन्तगुणे होने का कारण यह है कि अनन्त-कायिक वनस्पति जीव संख्या में अनन्त हैं और वे सभी तिर्यंच हैं। इनको तिर्यंचगति नामकर्म का उदय होने से तिर्यंच कहते हैं।

इस प्रकार से गतिमार्गणा का अल्पबहुत्व बतलाने के बाद आगे की गाथा में इन्द्रिय और काय मार्गणा का अल्पबहुत्व कहते हैं।

इन्द्रिय और कायमार्गणा का अल्पबहुत्व

पण चउ ति दु एगिंदी थोवा तिन्नि अहिया अणंतगुणा।
तस थोव असंखऽग्गी भूजलनिल अहिय वणऽणंता ॥३८॥

शब्दार्थ—पण—पंचेन्द्रिय, चउ—चतुरिन्द्रिय, ति—त्रीन्द्रिय, दु—द्वीन्द्रिय, एगिंदी—एकेन्द्रिय, थोवा—अल्प, तिन्नि—तीनों,

---

१ किसी संख्या के वर्ग के साथ उस संख्या को गुणा करने से जो गुणनफल प्राप्त होता है, वह उस संख्या का 'घन' है। जैसे ४ का वर्ग १६, उसके (१६ के) साथ चार का गुणा करने से ६४ होता है। यही चार का घन है।

अहिया—अधिक, अणतगुणा—अनन्तगुणे, तस—त्रसकाय, थोव—थोडे, असखगुणा—असख्यातगुणा अग्निकाय, भू—पृथ्वीकाय, जल—जलकाय अनिल—वायुकाय, अहिय—अधिक, वण—वनस्पतिकाय अणता—अनन्त।

गाथार्थ—पचेन्द्रिय थोडे हैं, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और द्वीन्द्रिय ये तीनो अनुक्रम से एक एक से अधिक होते हैं, एकेन्द्रिय उनसे अनन्तगुणे है। त्रसकाय के जीव अन्य सब कायो के जीवो से थोडे है, इनसे अग्निकाय के जीव असख्यातगुणे है, पृथ्वीकाय, जलकाय और वायुकाय के जीव एक-एक से अधिक और उनसे वनस्पतिकाय के जीव अनन्त है।

विशेषार्थ—गाथा मे अनुक्रम से इन्द्रिय और काय मार्गणा का अल्पबहुत्व बतलाया है। पहले इन्द्रियमार्गणा का अल्पबहुत्व बतलाते हुए कहा है कि पचेन्द्रिय सबसे थोडे हैं यानी चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रिय जीवो की अपेक्षा थोडे (अल्प) है। उसके बाद चतुरिन्द्रिय पचेन्द्रिय से विशेषाधिक है।[1] चतुरिन्द्रिय से त्रीन्द्रिय विशेषाधिक हैं और त्रीन्द्रिय से द्वीन्द्रिय विशेषाधिक है[2] और द्वीन्द्रिय से एकेन्द्रिय तो अनन्तगुणे है। इसका कारण यह है कि प्रतर की असख्यात कोटाकोटि योजन-प्रमाण एक प्रादेशिकी सूचि-श्रेणि के जितने प्रदेश हैं घनीकृत लोक की उतनी सूचि श्रेणियो के प्रदेशो के बराबर वे जीव है और एक-दूसरे से विशेषाधिक है।

---

१ गो० जीवकाड गाथा १७८, १७९ मे इन्द्रियमार्गणा के द्वीन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक के अल्पाधिक्य को यहाँ के समान ही बताया गया है।

२ एक सख्या अन्य सख्या से बडी होकर भी जब तक दूनी न हो तब तक वह उससे विशेषाधिक कही जाती है। जैसे कि ४ या ५ की सख्या ३ से विशेषाधिक है पर ६ की सख्या इससे दूनी है विशेषाधिक नही।

उक्त कथन से जिज्ञासा होती है कि आगम में असख्यात कोटा-कोटि योजन-प्रमाण सूचि-श्रेणि के जितने प्रदेश हैं, घनीकृत लोक की उतनी सूचि-श्रेणियो के प्रदेशो के वरावर द्वीन्द्रिय जीव कहे गये हैं और त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पचेन्द्रिय तिर्यंच द्वीन्द्रिय के वरावर। तव पचेन्द्रिय आदि जीवो का उक्त अल्पवहुत्व कैसे घट सकता है? इसका समाधान यह है कि असंख्यात संख्या के असंख्यात प्रकार हैं। अतएव असंख्यात कोटाकोटि योजन-प्रमाण सूचि-श्रेणि शब्द से सब जगह एक ही असंख्यात सख्या न लेकर भिन्न-भिन्न लेना चाहिए। पंचेन्द्रिय तिर्यंचो के प्रमाण की जो असंख्यात सख्या ली जाती है, वह इतनी छोटी है कि जिससे अन्य सब देव, नारक आदि पंचेन्द्रियो को मिलाने पर भी पचेन्द्रिय जीव चतुरिन्द्रिय की अपेक्षा कम ही होते हैं।

द्वीन्द्रिय से एकेन्द्रिय जीव अनन्तगुणे इसलिये कहे गये हैं कि साधारण वनस्पतिकाय के जीव अनन्तानन्त हैं और वे सभी एकेन्द्रिय ही होते हैं।[1]

इन्द्रियमार्गणा का अल्पवहुत्व वतलाने के पश्चात् कायमार्गणा का अल्पवहुत्व वतलाते है कि सवसे थोड़े त्रसकाय के जीव है। इसका कारण यह है कि सव प्रकार के त्रस घनीकृत लोक के एक-एक प्रतर के प्रदेशों के वरावर भी नही होते है और सिर्फ तेजस्काय के जीव असख्यात लोकाकाश के प्रदेशों के वरावर होते हैं। इसी कारण त्रस सवसे थोड़े माने हैं।

तेजस्काय के जीव असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशो की सख्या के वरावर होने से त्रसकाय की अपेक्षा असंख्यातगुणे माने जाते है।

---

१ द्वीन्द्रियेभ्योऽपि चैकेन्द्रिया अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायजीवराशेरनन्तानन्तत्वात्।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १७३

उनकी अपेक्षा पृथ्वीकाय, पृथ्वीकाय से जलकाय, जलकाय से वायुकाय के जीव विशेषाधिक है। वायुकाय के जीवों से वनस्पतिकायिक अनन्त गुणे हैं[1] क्योंकि निगोद के जीव अनन्त लोकाकाश प्रदेश प्रमाण हैं।

यद्यपि आगम में तेजस्कायिक, पृथ्वीकायिक, जलकायिक और वायुकायिक ये सभी सामान्य रूप से असंख्यात लोकाकाश प्रदेश-प्रमाण माने है, तथापि उनके परिमाण संबंधी असंख्यात संख्या भिन्न भिन्न समझना चाहिये और इसी भिन्नता से उनका अल्पबहुत्व कहा गया है।

अब आगे की गाथा में योग और वेद मार्गणा का अल्पबहुत्व कहते हैं।

योग और वेद मार्गणा का अल्पबहुत्व

मणवयणकायजोगी थोवा असंखगुण अणंतगुणा।
पुरिसा थोवा इत्थी संखगुणाऽणंतगुण कीवा ॥३६॥

शब्दार्थ—मण—मनोयोगी, वयण—वचनयोगी कायजोगी—काययोगी थोवा—स्तोक अल्प (थोड़े), असंखगुण—असंख्यातगुणे अणंतगुणा—अनन्तगुण, पुरिसा—पुरुषवेदी थोवा—थोड़े, इत्थी—स्त्रीवेदी, संखगुणा—संख्यातगुणे, अणंतगुण—अनन्तगुणे, कीवा—नपुंसकवेदी।

गाथार्थ—मनोयोगी थोड़े होते हैं। वचनयोग वाले उसमें असंख्यातगुणे और काययोग वाले अनन्तगुणे हैं। पुरुषवेद वाले सबसे थोड़े है। स्त्रीवेदी पुरुषों से संख्यात गुणे और नपुंसक स्त्रियों से अनन्तगुणे हैं।

---

१ थोवा य तसा तत्तो तेउ असंखा तओ विसेसहिया।
कमसो भूदगवाऊ अकायहरिया अणंतगुणा॥ —जीवसमास २७६
गो० जीवकांड में भी कायमार्गणा में तेजस्कायिक आदि जीवों का विशेषाधिकत्व यहाँ के समान ही है। देखें गाथा २०४ २१५ तक।

विशेषार्थ—गाथा मे योग और वेद मार्गणा का अल्पवहुत्व वतलाया है। योग के सामान्य से मनोयोग, वचनयोग और काययोग इन तीनो भेदो में अल्पवहुत्व को वतलाते हुए कहा है कि 'मणवयण-कायजोगी'—मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी क्रमशः 'थोवा अस्सखगुण अणंतगुणा'—अल्प, असंख्यातगुणे और अनन्तगुणे हैं। अर्थात् मनोयोगी अन्य योग वालो से थोड़े है, वचनयोगी मनोयोग वालो से असख्यातगुणे है और काययोग वाले वचनयोग वालो से अनतगुणे है।

मनोयोग, वचनयोग और काययोग वालो को क्रमशः अल्प, असख्यातगुणा, अनन्तगुणा मानने का कारण यह है कि मनोयोग वाले अन्य योग वालों से इसलिये कम माने जाते है कि मनोयोग सिर्फ सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो मे पाया जाता है।[1] वचनयोग वाले मनोयोगियो से असख्यातगुणे इसलिये माने है कि द्वीन्द्रिय से लेकर असज्ञी पचेन्द्रिय पर्यंत जीव वचनयोग वाले है और वचनयोगियों से भी काय-योग वाले अनन्तगुणे इसलिये माने जाते है कि वनस्पतिकायिक जीव अनन्त है तथा एकेन्द्रिय लेकर पचेन्द्रिय तक के सभी जीव काययोग वाले है।

वेदमार्गणा सवधी अल्पवहुत्व इस प्रकार है कि 'पुरिसा थोवा' पुरुपवेद वाले सवसे थोड़े है, यानी स्त्रीवेद और नपुसकवेद वालो से पुरुपवेदी अल्प है और 'इत्थी सखगुणा' स्त्रीवेदी जीव पुरुषवेदी जीवो से सख्यातगुणे है और नपुसकवेदी स्त्रीवेद वालो से भी अनन्त-गुणे है—अणतगुण कीवा।

पुरुपवेद आदि उक्त तीनो वेद वालो को क्रमशः अल्प, सख्यात-

---

१ मनयोगिनः स्तोका, सज्ञिपचेन्द्रियाणामेव मनोयोगित्वात्।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १७४

गुणा और अनन्तगुणा मानने का कारण यह है कि तिर्यंच स्त्रियाँ तिर्यंच पुरुषो से तीन गुनी और तीन अधिक, मनुष्य स्त्रियाँ मनुष्य जाति के पुरुषो से सत्ताईस गुनी और सत्ताईस अधिक और देवियाँ देवो की अपेक्षा बत्तीस गुनी और बत्तीस अधिक होती हैं। इसीलिये पुरुषो की अपेक्षा स्त्रिया सख्यातगुणी मानी जाती है[1] और पुरुष अल्प। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय और नारक नपुसक ही होते हैं, इसीलिये स्त्रिया की अपेक्षा नपुसक अनन्त गुणे माने जाते हैं। यदि द्वीन्द्रिय आदि जीवो को छोडकर सिर्फ एकेन्द्रिय जीवो के द्वारा नपुसकवेद वालो की अनन्तगुणता पर विचार करें तो एकेन्द्रिय जीव—पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय पर्यन्त स्थावर जीव नपुसक ही होते हैं और उनकी सख्या अनन्त है।

योग और वेद मार्गणा का अल्पबहुत्व बतलाने के बाद आगे की तीन गाथाओ मे कषाय, ज्ञान, सयम और दर्शन मार्गणाओ का अल्प-बहुत्व बतलाते हैं।

कषाय से लेकर दर्शन मार्गणा पर्यन्त का अल्पबहुत्व

माणी कोही माई लोही अहिय मणनाणिणो थोवा।
ओहि असखा मइसुय अहिय सम असख विब्भगा ॥४०॥
केवलिणो णतगुणा मइसुयअन्नाणि णतगुण तुल्ला।
सुहुमा थोवा परिहार सख अहखाय सखगुणा ॥४१॥

---

१ तिगुणा तिरूवअहिया तिरियाण इत्थिया मुणेयव्वा।
सत्तावीसगुणा पुण मणुयाण तदहिया चेव॥
बत्तीसगुणा बत्तीसरूवअहिया उ तह य देवाण।
देवीओ पन्नत्ता जिर्णाहि जियरागदोसेहि॥
—प्रवचनसारोद्धार ८८३, ८८४

छेय समईय संखा देस असंखगुण णंतगुण अजया ।
थोव असंख दु णंता ओहि नयण केवल अचक्खू ॥४२॥

शब्दार्थ—**माणी**—मानी, **कोही**—क्रोधी, **माई**—मायावी (कपटी), **लोही**—लोभी, **अहिय**—अधिक, **मणनाणिणो**—मनपर्याय ज्ञानी, **थोवा**—थोड़े (अल्प), **ओहि**—अवधिज्ञानी, **असंखा**—असंख्यातगुणे, **मइसुय**—मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, **अहिय**—अधिक, **सम**—समान, **असंख**—असख्यातगुणे, **विब्भग**—विभगज्ञानी ।

केवलिणो—केवलज्ञानी, **णंतगुणा**—अनतगुणे, **मइसुय-अन्नाणि**—मतिअज्ञानी, श्रुतअज्ञानी, **णंतगुणतुल्ला**—अनन्तगुणे और परस्पर मे समान, **सुहुमा**—सूक्ष्मसपराय वाले, **थोवा**—अल्प, **परिहार**—परिहारविशुद्धि वाले, **संख**—सख्यातगुणे, **अहखाय**—यथाख्यात सयम वाले, **संखगुणा**—सख्यातगुणे ।

छेय—छेदोपस्थापनीय सयमी, **समईय**—सामायिक सयमी, **संखा**—सख्यातगुणे, **देस**—देशविरति, **असंखगुण**—असख्यातगुणे, **णंतगुण**—अनन्तगुणे, **अजया**—अविरति, **थोव**—थोड़े, **असंख**—असख्यातगुणे, **दु**—दोनो, **णंता**—अनतगुणे, **ओहि**—अवधिदर्शनी, **नयण**—चक्षुदर्शनी, **केवल**—केवलदर्शनी, **अचक्खू**—अचक्षुदर्शनी ।

गाथार्थ—अन्य कपाय वालो से मान कपाय वाले थोड़े है और मान कपाय वालो की अपेक्षा क्रोधी, मायावी और लोभी क्रमशः एक-एक से अधिक होते है । मनपर्यायज्ञानी थोड़े है, अवधिज्ञानी उनसे असख्यातगुणे, मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी उनसे अधिक है और आपस मे समान है, विभग-ज्ञानी उनसे असख्यातगुणे है ।

केवलज्ञानी अनन्तगुणे होते है, मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी उनसे अनन्तगुणे है और आपस मे दोनो समान है । सूक्ष्मसपराय चारित्र वाले थोड़े है, परिहारविशुद्धि चारित्र वाले उनसे सख्यातगुणे और यथाख्यात चारित्र वाले उनसे सख्यातगुणे हैं ।

छेदोपस्थापनीय संयम वाले संख्यातगुणे और सामायिक संयम वाले उनसे संख्यातगुणे हैं। देशविरति असंख्यातगुणे और अविरति अनन्तगुणे हैं। अवधिदर्शन वाले थोड़े, चक्षुदर्शन वाले असंख्यातगुणे और केवलदर्शन तथा अचक्षुदर्शन वाले अनन्तगुणे हैं।

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओं में कषाय, ज्ञान, संयम और दर्शन इन चार मार्गणाओं का अल्पबहुत्व बतलाया है। यह अल्पबहुत्व प्रत्येक मार्गणाओं के अवान्तर भेदों में परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा से बतलाया है, न कि एक मार्गणा का दूसरी मार्गणा के बीच।

कषायमार्गणा के क्रोध, मान, माया, लोभ यह चार भेद हैं। कषाय वाले जीवों में मान कषाय वाले क्रोध आदि अन्य कषाय वालों से कम हैं। इसका कारण यह है कि मान कषाय की स्थिति अन्य क्रोध आदि कषायों के परिणामों की अपेक्षा अल्प है।[1] मान कषाय की अपेक्षा क्रोध परिणाम के अधिक देर ठहरने के कारण मान कषाय वालों से क्रोध वाले विशेषाधिक हैं। क्रोध की अपेक्षा माया कषाय वाले अधिक हैं। क्योंकि माया कषाय की स्थिति क्रोध की स्थिति की अपेक्षा अधिक है और माया अधिक जीवों में पाई जाती है।[2] माया कषाय वालों की अपेक्षा लोभियों की संख्या अधिक है। क्योंकि प्रायः सभी संसारी जीवों में परिग्रह आदि की आकांक्षा देखने में आती है[3] और क्रोध, मान, माया इन तीन कषायों का उदय तो

---

१ सर्वस्तोका मानिनः, मानपरिणामकालस्य क्रोधादिपरिणामकालापेक्षया स्तोकत्वात्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १७४

२ मायिनो विशेषाधिका यद् भूयस्तन जन्तूनां प्रभूतकालं च माया बहुत्वात्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ, स्वोपज्ञ टीका, पृ० १७५

३ लोभिनो विशेषाधिकाः, सर्वेषामपि प्रायः संसारिजीवानां सदा परिग्रहाद्याकाङ्क्षासद्भावात्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १७५

नौवें गुणस्थान तक ही रहता है, लेकिन लोभ का उदय दसवें सूक्ष्म-संपराय गुणस्थान तक। अतएव उक्त कारणों से लोभ कषाय वालों को मायावियों से अधिक कहा है।

ज्ञानमार्गणा का अल्पबहुत्व बतलाने के लिये कहा है कि 'मणनाणिणो थोवा' मनपर्यायज्ञानी थोड़े हैं। क्योंकि यह ज्ञान गर्भज मनुष्यों को होता है और उनमें भी अप्रमत्त संयम वाले और अनेक लब्धिसंपन्न हों, उनके ही मनपर्याय ज्ञान पाया जाता है।[1] मनपर्यायज्ञानियों की अपेक्षा अवधिज्ञानी असंख्यातगुणे हैं। इसका कारण यह है कि अवधिज्ञान सम्यग्दृष्टि कुछ मनुष्य, तिर्यंचों में तथा सम्यक्त्वी सभी देव, नारकों में पाया जाता है। अवधिज्ञानियों से मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी विशेषाधिक हैं, क्योंकि सभी सम्यग्दृष्टि मनुष्य, तिर्यंच मति-श्रुतज्ञान वाले हैं। लेकिन मतिज्ञान श्रुतज्ञान सहचारी होने से यानी जहाँ मतिज्ञान है वहाँ श्रुतज्ञान भी है, अतएव मति-श्रुतज्ञान वाले आपस में तुल्य हैं।[2] मतिश्रुतज्ञानियों से 'असंख विब्भंगा' विभंगज्ञानियों की संख्या असंख्यातगुणी है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि वाले देव, नारक विभंगज्ञानी ही होते हैं और वे सम्यग्दृष्टि जीवों से असंख्यातगुणे हैं।

ऊपर में क्षायोपशमिक ज्ञानों का अल्पबहुत्व बतलाया है कि मनपर्यायज्ञान वाले अल्प हैं और उनकी अपेक्षा मतिज्ञान आदि विभंगज्ञान पर्यन्त वाले असंख्यातगुणे हैं। लेकिन क्षायिकज्ञान—केवलज्ञान—होने पर सभी क्षायोपशमिकज्ञान केवलज्ञान में गर्भित हो जाते हैं और केवलज्ञान हो जाने पर सयोगिकेवली भगवान से

---

१ तं संजयस्स सव्वप्पमायरहियस्स विविहरिद्धिमओ।
—विशेषावश्यक गा० ८१२

२ जत्थ मइनाणं तत्थ सुयनाणं, जत्थ सुयनाणं तत्थ मइनाणं, दो वि एयाइं अन्नुन्नमणुगयाइं। —नंदीसूत्र

लेकिन अनंत सिद्धों में सदा काल बना रहता है। इसलिये विभंगज्ञानियों से केवलज्ञानी अनन्तगुणे हैं।[1]

केवलज्ञानियों से भी 'मइसुयअन्नाणि णंतगुणा' मति-अज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी अनन्तगुणे हैं। इसका कारण यह है कि वनस्पति कायिक जीव सिद्धों से भी अनन्त हैं और वे मति-अज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी होते हैं। इसलिये मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी दोनों को केवलज्ञानियों से अनन्तगुणा माना जाता है। लेकिन मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की तरह मति और श्रुत अज्ञान नियम से सहचारी हैं, इसी से आपस में 'तुल्ला' तुल्य हैं यानी मति-श्रुत अज्ञान में विशेषाधिकता नहीं है किन्तु दोनों समान रूप से अनन्तगुण हैं।

ज्ञानमार्गणा के अल्पबहुत्व का कथन करने के बाद संयम मार्गणा का अल्पबहुत्व बतलाते हैं। संयम मार्गणा के अल्पबहुत्व के कथन का क्रम सूक्ष्मसंपराय संयम से प्रारम्भ किया गया है कि 'सुहुमा थोवा' सूक्ष्मसंपराय संयम वाले अन्य संयम वालों से अल्प हैं और परिहारविशुद्धि संयम वाले सूक्ष्मसंपराय संयम वालों की अपेक्षा संख्यातगुणे हैं। यथाख्यात संयम वाले परिहारविशुद्धि संयम वालों से भी संख्यातगुणे हैं यानी सूक्ष्मसंपराय संयम वाले अल्प हैं। इनकी अपेक्षा परिहारविशुद्धि वाले और परिहारविशुद्धि संयम वालों की अपेक्षा यथाख्यात संयम वाले क्रमशः संख्यातगुणे हैं। इसका कारण यह है कि सूक्ष्मसंपराय चारित्र वाले उत्कृष्ट से दो सौ से नौ सौ तक, परिहारविशुद्धि संयम वाले उत्कृष्ट दो हजार से नौ हजार तक तथा यथाख्यात संयम वाले उत्कृष्ट से करोड़ से नौ

---

1 विभंगज्ञानिभ्य केवलज्ञानिनोऽनन्तगुणा सिद्धानां केवलज्ञान-युक्तत्वात्, तथा च केवलज्ञानसद्भावात्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १३६

करोड तक हैं।[1] इसलिये इन तीन प्रकार के संयम वालो मे उत्तरोत्तर सख्यातगुणा अल्पबहुत्व माना गया है।

सयममार्गणा के उक्त तीन भेदो के सिवाय शेष रहे चार भेदों—सामायिक, छेदोपस्थापनीय, देशविरति और अविरति का अल्पबहुत्व क्रमश. इस प्रकार है कि 'छेय समईय सखा', 'देस असखगुण' और 'णतगुण अजया' यानी यथाख्यातसयम वालो से छेदोपस्थापनीय सयम वाले सख्यातगुणे है और सामायिक संयम वाले तो छेदोपस्थापनीय संयम वालो से सख्यातगुणे हैं। इसका कारण यह है कि यथाख्यात संयम वालो की सख्या शास्त्रो मे जो उत्कृष्ट दो करोड़ मे नौ करोड तक बताई गई है, उससे भी छेदोपस्थापनीय सयम वाले उत्कृष्ट दो सौ करोड से नौ सौ करोड़ तक तथा सामायिक संयम वाले छेदोपस्थापनीय संयमियो की उत्कृष्ट सख्या से अधिक दो हजार करोड़ से नौ हजार करोड तक पाये जाते हैं। इसी कारण से ये दोनों उक्त रीति से सख्यातगुणे माने गये है।[2] देशविरति सयम वाले सामायिक सयम वालो से भी असख्यात गुणे हैं, क्योकि तिर्यंच भी देशविरति होते है और उनकी सख्या असंख्यात है। इसी से सामायिक सयम वालो से देशविरति संयम वाले असंख्यातगुणे माने जाते है।

---

१ सर्वस्तोका सूक्ष्मसपरायसयमिन, शतपृथक्त्वमात्रसभवात्। तेभ्य: परिहारविशुद्धिका संख्यातगुणा, सहस्रपृथक्त्वसम्भवात्। तेभ्योऽपि यथाख्यातचारित्रिण सख्यातगुणा कोटिपृथक्त्वेन प्राप्यमाणत्वात्।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १७६

२ यथाख्यातचारित्रिभ्यश्छेदोपस्थापनचारित्रिण सख्येयगुणा, कोटिशतपृथक्त्वेन लभ्यमानत्वात्। तेभ्योऽपि सामायिकसयमिन सख्येयगुणा, कोटिसहस्रपृथक्त्वेन प्राप्यमाणत्वात्।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १७६

उक्त चारित्र वालों को छोड़कर अन्य सब जीव अविरत हैं, जिनमें अनन्तानन्त वनस्पतिकायिक जीवों का भी समावेश होता है और गुणस्थानों की अपेक्षा पहले मिथ्यात्व से लेकर चौथे अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान पर्यन्त के जीव अविरति का पालन करने वाले होते हैं। जिनमें मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त हैं। अतः उनकी अपेक्षा अविरति जीव अनंतगुणे माने जाते हैं।[1]

संयममार्गणा के पश्चात् अब दर्शनमार्गणा के भेदों का अल्पबहुत्व बतलाते हैं। चक्षुदर्शन आदि दर्शनमार्गणा के चार अवान्तर भेद हैं। उनमें अवधिदर्शन वाले अल्प हैं। क्योंकि देव, नारक और कुछ मनुष्य, तिर्यंचों को ही अवधिदर्शन होता है। इसीलिए अन्य दर्शन वालों की अपेक्षा अवधिदर्शन वाले अल्प हैं। चक्षुदर्शन वाले अवधिदर्शन वालों से असंख्यातगुणे हैं। इसका कारण यह है कि चक्षुदर्शन चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय इन तीनों प्रकार के जीवों में होता है और वे असंख्यात हैं। इसीलिए चक्षुदर्शन वाले अवधिदर्शन वालों से असंख्यातगुणे माने जाते हैं। जितने भी केवलज्ञानी और अनन्त सिद्ध हैं, वे सभी केवलदर्शन वाले हैं। इसलिए उनकी संख्या चक्षुदर्शनियों की संख्या से अनन्तगुणी है। अचक्षुदर्शन एकेन्द्रिय अनन्त वनस्पतिकायिक आदि जीवों से लेकर मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय तक के सभी संसारी जीवों में पाया जाता है और उन सब जीवों की संख्या अनन्त है। अतएव केवलदर्शन वालों से भी अचक्षुदर्शनियों की संख्या अनन्तगुणी रहती है।[2]

---

1 अविरताः संयमरहिता आद्यगुणस्थानचतुष्टयवर्तिनः [illegible] मिथ्यादृष्टीना- मनन्तत्वात् [illegible]। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १७६

2 [illegible] अनन्तगुणाः [illegible] सिद्धानामनन्तत्वात् [illegible] अचक्षुर्दर्शनिनो- [illegible] विशेषाधिका [illegible]। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १७७

इस प्रकार से गति से लेकर दर्शन मार्गणा पर्यन्त नौ मार्गणाओं के अल्पबहुत्व का कथन किया जा चुका है। अब शेष रही लेश्या से आहारक मार्गणा पर्यन्त पांच मार्गणाओं का अल्पबहुत्व आगे की गाथा में कहते हैं।

लेश्या आदि पांच मार्गणाओं का अल्पबहुत्व

पच्छाणुपुव्वि लेसा थोवा दो संख णंत दो अहिया।
अभवियर थोव णंता सासण थोवोवसम संखा ॥४३॥
मीसा संखा वेयग असंखगुण खइय मिच्छ दु अणंता।
सन्नियर थोव णंताऽणहार थोवेयर असंखा ॥४४॥

शब्दार्थ—पच्छाणुपुव्वि—पश्चादनुपूर्वी-अन्तिम से आदि की ओर आना, लेसा—लेश्या, थोवा—थोड़े (अल्प), दो—दो लेश्या वाले, संख—संख्यात, णंत—अनंत, दो—दो लेश्या वाले, अहिया—अधिक, अभवियर—अभव्य और इतर भव्य, थोवा—थोड़े, णंत—अनंत, सासण—सासादन सम्यक्त्वी, थोव—अल्प, उवसम—औपशमिक सम्यग्दृष्टि, संखा—संख्यातगुणे।

मीसा—मिश्रदृष्टि, संखा—संख्यात, वेयग—वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्वी, असंखगुण—असंख्यातगुणे, खइय—क्षायिक सम्यक्त्वी, मिच्छ—मिथ्यात्वी, दु—दोनों, अणंता—अनन्तगुणे, सन्नियर—संज्ञी और इतर असंज्ञी, थोव—अल्प, अणंता—अनन्त, अणहार—अनाहारक, थोव—थोड़े, इयर—इतर आहारक, असंखा—असंख्यात।

गाथार्थ—लेश्याओं का अल्पबहुत्व पश्चादनुपूर्वी के क्रम से (अन्त से आदि की ओर) जानना चाहिए, जो कि अल्प, दो संख्यातगुणा एक अनन्तगुणा और दो विशेषाधिक है। अभव्य अल्प हैं और भव्य अनन्त, सासादन सम्यक्त्वी अल्प और औपशमिक सम्यग्दृष्टि संख्यातगुणे हैं।

मिथ्यादृष्टि वाले सख्यातगुणे, क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी असख्यात गुणे हैं तथा क्षायिक सम्यक्त्व वाले और मिथ्यात्वी ये दोनो अनन्तगुणे होते है। सज्ञी अल्प और असज्ञी अनन्त हैं। अनाहारक थोडे और आहारी असख्यातगुणे है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओ मे लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, सज्ञी और आहारक इन पाच मार्गणाओ का अल्पबहुत्व बतलाया है।

लेश्यामार्गणा के अल्पबहुत्व के कथन का क्रम आदि से प्रारम्भ न कर अन्तिम भेद से प्रारम्भ किया है। अर्थात शुक्ललेश्या से प्रारम्भ कर क्रमश उसके बाद पद्म, तेज, कापोत, नील और कृष्ण लेश्याओ मे अल्पबहुत्व बतलाया है। जैसे कि शुक्ललेश्या वाले अन्य सब लेश्या वालो मे अल्प हैं, पद्मलेश्या वाले शुक्ललेश्या वाला से सख्यातगुणे हैं, तेजोलेश्या वाले पद्मलेश्या वालो से सख्यातगुणे हैं तेजोलेश्या वालो से कापोतलेश्या वाले अनन्तगुणे हैं, कापोत-लेश्या वालो मे नीललेश्या वाले विशेषाधिक हैं और कृष्णलेश्या वाले नीललेश्या वाला से विशेषाधिक है।

लेश्याओ मे उक्त प्रकार से अल्पबहुत्व होने का कारण क्रमश इस प्रकार है कि शुक्ललेश्या वाले सबसे थोडे इसलिए माने जाते है कि शुक्ललेश्या लान्तक देवलोक से लेकर अनुत्तर विमान तक के वैमानिक देवो मे तथा गर्भजन्य सख्यात वर्ष की आयु वाले कुछ मनुष्य, तिर्यचो मे पाई जाती है। पद्मलेश्या सनत्कुमार से ब्रह्मलोक तक के वैमानिक देवो और गर्भज सख्यात वर्ष की आयु वाले कुछ मनुष्य, तिर्यचो मे होती है अत शुक्ललेश्या वालो की अपेक्षा पद्मलेश्या वाले सख्यातगुणे हैं। पद्मलेश्या वालो से तेजोलेश्या वाले सख्यातगुणे इसलिये माने जाते है कि तेजोलेश्या बादर पृथ्वी जल और वनस्पति-कायिक जीवो को, कुछ पचेन्द्रिय तिर्यच, मनुष्यो को, भवनपति और व्यतर देवो को, ज्योतिष्को तथा सौधर्म ईशान कल्प के वैमानिक देवो

को होती है। ये सब पद्मलेश्या वालो की अपेक्षा संख्यातगुणे ही हैं। इसी से इनका अल्पबहुत्व सख्यातगुणा माना है।

तेजोलेश्या से कापोतलेश्या वाले अनन्तगुणे माने हैं। क्योंकि कापोतलेश्या अनन्त वनस्पतिकायिक जीवो को होती है। इसी से कापोतलेश्या वाले तेजोलेश्या वालो से अनन्तगुणे कहे है। कापोत-लेश्या से नीललेश्या अधिक जीवो में और नीललेश्या से कृष्ण-लेश्या अधिक जीवो मे होती है। क्योंकि कापोतलेश्या की अपेक्षा नीललेश्या तीव्रतर सक्लिष्ट परिणाम रूप और कृष्णलेश्या नीललेश्या से संक्लिष्टतम अध्यवसाय रूप है और प्रायः क्लिष्ट, क्लिष्टतर, क्लिष्टतम परिणाम वाले जीवो की संख्या उत्तरोत्तर अधिक ही होती है। नारक जीवो मे कृष्ण-नील लेश्यायें प्राय· होती है। इसीलिये इन सब कारणो से नील व कृष्णलेश्या वाले कापोतलेश्या वालो से विशेपाधिक कहे जाते है।

ऊपर जो शुक्ल, पद्म और तेजोलेश्या के अल्पबहुत्व को बतलाने के लिए कहा कि शुक्ललेश्या लान्तक से लेकर अनुत्तर विमान तक के वैमानिको मे, पद्मलेश्या सनत्कुमार से ब्रह्मलोक तक के वैमानिक देवो मे और तेजोलेश्या भवनपति आदि और सौधर्म-ईशानकल्प तक के वैमानिक देवो में पाई जाती है और इनका अल्पबहुत्व संख्यात-गुणा कहा है। लेकिन शास्त्रो मे कहा है कि लान्तक से लेकर अनुत्तर विमान तक के वैमानिक देवो की अपेक्षा सनत्कुमार से ब्रह्मलोक तक के वैमानिक असंख्यात गुणे हैं, इसी प्रकार सनत्कुमार आदि वैमानिक देवो की अपेक्षा सिर्फ ज्योतिपी देव असख्यातगुणे है। इस पर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि शुक्ललेश्या वालो से पद्मलेश्या वाले और पद्मलेश्या वालो से तेजोलेश्या वाले असख्यातगुणे न मानकर संख्यातगुणे कैसे माने जा सकते है ?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि यदि शुक्ल आदि तीन लेश्याओ

का अल्पबहुत्व सिर्फ देवो की अपेक्षा ही विचारा जाता तो अवश्य ही असख्यातगुणा कहा जाता, लेकिन यहा सामान्य जीव-राशि की अपेक्षा लेकर अल्पबहुत्व बतलाया गया है। यह सही है कि पद्मलेश्या वाले शुक्ललेश्या वाले देवो से असख्यात गुणे है, किन्तु पद्मलेश्या वाले देवो की अपेक्षा शुक्ललेश्या वाले तियच असख्यातगुणे हैं। इसी प्रकार पद्मलेश्या वाले देवा से तेजोलेश्या वाले देवो के असख्यात गुणे होने पर भी तेजोलेश्या वाले देवो से पद्मलेश्या वाले तिर्यंच असख्यात गुणे हैं। अतएव सब शुक्ललेश्या वालो से सब पद्मलेश्या वाले और सब पद्मलेश्या वालो से सब तेजोलेश्या वाले सख्यातगुणे ही हैं और पद्मलेश्या वाले देवो से शुक्ललेश्या वाले तियचो की तथा तेजोलेश्या वाले देवा से पद्मलेश्या वाले तियचा की सख्या इतनी बडी है कि उसम सख्यातगुण अल्पबहुत्व ही घट सकता है।

भव्यमागणा के भेदा—भव्य और अभव्य जीवा मे अल्पबहुत्व इस प्रकार समझना चाहिए कि अभव्य जीव अल्प हैं और भव्य अनन्त ह। क्याकि अभव्य जीव अनन्त के चौथे भेद जघन्ययुक्त नामक चौथे अनन्त सख्या प्रमाण हैं परन्तु भव्य जीव अनन्तानन्त हैं।

सम्यक्त्वमागणा के अल्पबहुत्व म सासादन सम्यक्त्व वाल अल्प हैं। क्याकि औपशमिक सम्यक्त्व को त्यागकर मिथ्यात्व की ओर अभिमुख होने वाले जीवा म सासादन सम्यक्त्व पाया जाता है, दूसरा मे नही। यह नियम है कि औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले सभी जीव उस सम्यक्त्व का वमन करके मिथ्यात्व की ओर अभिमुख नहीं होते किन्तु कुछ एक होते हैं और स्थिर रहने वाले अधिक हैं। इसीलिए अन्य दृष्टि वाला से सासादन सम्यग्दृष्टि वाले कम ही होते हैं।

औपशमिक सम्यग्दृष्टि वाले सासादन सम्यक्त्वियो से सख्यातगुणे और मिश्रदृष्टि वाले औपशमिक सम्यक्त्व वाला से सख्यातगुणे हैं।

क्योंकि मिश्रदृष्टि (सम्यग्मिथ्यात्व दृष्टि) को प्राप्त करने वाले जीव दो प्रकार के हैं—एक वे जो पहले मिथ्यात्व गुणस्थान को छोड़कर मिश्रदृष्टि प्राप्त करते हैं और दूसरे वे जो सम्यग्दृष्टि से पतित होकर मिश्रदृष्टि प्राप्त करते हैं। इन दोनों कारणों से मिश्रदृष्टि वाले औपशमिक सम्यग्दृष्टि वालों से संख्यातगुणे हैं।

मिश्रदृष्टि वालों से वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यग्दृष्टि वाले असंख्यात गुणे होते हैं। इसका कारण मिश्रदृष्टि और क्षायोपशमिक दृष्टि की समय-स्थिति है। मिश्रदृष्टि की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है, जबकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति कुछ कम छियासठ सागरोपम की है। अतएव इस समयस्थिति के कारण क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि वाले मिश्रदृष्टि वालों से असंख्यातगुणे माने जाते हैं।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि वाले क्षायोपशमिक सम्यक्त्वियों से अनन्त गुणे इसलिये माने जाते हैं कि सिद्ध जीव अनन्त हैं और उनमें क्षायिक सम्यक्त्व ही होता है।[1] क्षायिक सम्यक्त्वियों से भी मिथ्यादृष्टियों की संख्या अनन्तगुणी है। इसका कारण यह है कि अनन्त वनस्पति-कायिक जीव मिथ्यात्वी ही हैं और वे जीव सिद्धों से अनन्तगुणे हैं।

संज्ञीमार्गणा के अल्पबहुत्व के सन्दर्भ में यह जानना चाहिए कि संज्ञी जीव अल्प हैं और असंज्ञी अनन्तगुणे—'सन्नियर थोवणता'। क्योंकि संज्ञी जीव तो देव, नारक, समनस्क पंचेन्द्रिय मनुष्य, तिर्यंच ही हैं, जबकि शेष संसारी जीव अनन्त वनस्पतिकायिक आदि असंज्ञी हैं। इसीलिये संज्ञी अल्प और असंज्ञी, संज्ञियों की अपेक्षा अनन्तगुणे कहे जाते हैं।

---

१ क्षायिकसम्यग्दृष्टयोऽनन्तगुणाः क्षायिकसम्यक्त्ववतां सिद्धानामानन्त्यात्।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १७८

आहारमार्गणा मे 'अणाहार थोवेयर असंखा' अनाहारक जीव थोडे है और आहारक अधिक है। इसका कारण यह है कि विग्रह गति मे वर्तमान तथा केवली समुद्घात के तीसरे, चौथे और पाचवें समय मे वर्तमान तथा चौदहवें गुणस्थान मे वर्तमान व सिद्ध जीव अनाहारक हैं और सब ससारी जीव आहारक है।[1] इसीलिये अनाहारक जीव अल्प और आहारक जीव असख्यातगुणे कहे है।

आहारकमार्गणा के उक्त अल्पबहुत्व को लेकर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि सिद्धो की अपेक्षा अनन्त वनस्पतिकायिक आदि जीव आहारक है अत आहारक जीवो की सख्या असख्यात के बजाय *अनन्तगुणी कहना चाहिये, असख्यातगुणी कैसे मानी जा सकती है?*

उक्त प्रश्न का यह समाधान है कि निगोद के अनन्त जीवो मे से असख्यात भाग ही मरण कर विग्रहगति को प्राप्त कर पुन जन्म धारण करता है और वे विग्रहगति मे अनाहारक ही होते है। वे अनाहारक जीव इतने अधिक होते है कि जिससे कुल आहारक जीव कभी भी अनाहारक जीवो की अपेक्षा अनन्तगुणे नही हो पाते है किन्तु असख्यगुणे ही रहते हैं।[2] इसीलिये आहारक जीवो को अनाहारक जीवो की अपेक्षा असख्यातगुणा कहा जाता है।

मार्गणाओ का उक्त अल्पबहुत्व पन्नवणा, अनुयोगद्वार आदि सूत्रो के आधार से प्रस्तुत किया गया है। दिगम्बर ग्रन्थो मे भी इसी प्रकार से *मार्गणाओ मे अल्पबहुत्व का कथन किया गया है।* जिसमे कही-कही समानता और कही-कही असमानता भी है। तुलनात्मक दृष्टि से उक्त मतव्य गोम्मटसार जीवकाड मे देखना चाहिए।

---

१ विग्गहगइमावन्ना केवलिणो समुहया अजोगी य।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारगा जीवा॥ —विशेषावश्यक भाष्य

२ यत प्रतिसमयमेकैकस्य निगोदस्याऽसख्येयभागप्रमाणाविग्रहगत्यापन्ना जाया लभ्यन्ते ते चानाहारका तत आहारकजीवानामनाहारकजीवापेक्षयाऽसख्यातगुणत्वमवति। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १७६

मार्गणाओं में जीवस्थान–गुणस्थान–योग–उपयोग–लेश्या और अल्पबहुत्वदर्शक यंत्र

क्रम संख्या	मार्गणा भेद संख्या	मार्गणा नाम	जीवस्थान १४	गुणस्थान १४	योग १५	उपयोग १२	लेश्या ६	अल्पबहुत्व
		१. गतिमार्गणा						
१.	१	नरकगति	२	४	११	९	३	असख्यातगुणा
२	२	तिर्यंचगति	१४	५	१३	९	६	अनन्तगुणा
३	३.	मनुष्यगति	३	१४	१५	१२	६	सबसे अल्प
४	४.	देवगति	२	४	११	९	६	असख्यातगुणा
		२. इन्द्रियमार्गणा						
५	१.	एकेन्द्रिय	४	२	५	३	४	अनन्तगुणा
६.	२.	द्वीन्द्रिय	२	२	४	३	३	विशेषाधिक
७	३	त्रीन्द्रिय	२	२	४	३	३	विशेषाधिक
८.	४	चतुरिन्द्रिय	२	२	४	४	३	विशेषाधिक
९	५	पचेन्द्रिय	४	१४	१५	१२	६	सबसे अल्प
		३. कायमार्गणा						
१०.	१	पृथ्वीकाय	४	२	३	३	४	विशेषाधिक
११	२	जलकाय	४	२	३	३	४	विशेषाधिक
१२	३	वायुकाय	४	१	५	३	३	विशेषाधिक
१३	४.	अग्निकाय	४	१	३	३	३	असख्यातगुणा
१४	५	वनस्पतिकाय	४	२	३	३	४	अनन्तगुणा
१५.	६.	त्रसकाय	१०	१४	१५	१२	६	सबसे अल्प

		४ योगमार्गणा					
१६	१	मनोयोग	१/२	१३	१५/१३	१२	६	सबसे अल्प
१७	२	वचनयोग	५/८	१३/२	१३/४	१२/४	६	असंख्यातगुणा
१८	३	काययोग	१४/४	१३/२	१५/५	१२/३	६	अनन्तगुणा
		५ वेदमार्गणा						
१९	१	पुरुषवेद	२	९	१५	१२	६	सबसे अल्प
२०	२	स्त्रीवेद	२	९	१३	१२	६	संख्यातगुणा
२१	३	नपुंसकवेद	१४	९	१५	१२	६	अनन्तगुणा
		६ कषायमार्गणा						
२२	१	क्रोध	१४	९	१५	१०	६	विशेषाधिक
२३	२	मान	१४	९	१५	१०	६	सबसे अल्प
२४	३	माया	१४	९	१५	१०	६	विशेषाधिक
२५	४	लोभ	१४	१०	१५	१०	६	विशेषाधिक
		७ ज्ञानमार्गणा						
२६	१	मतिज्ञान	२	९	१५	७	६	असंख्यातगुणा
२७	२	श्रुतज्ञान	२	९	१५	७	६	तुल्य
२८	३	अवधिज्ञान	२	९	१५	७	६	असंख्यातगुणा
२९	४	मनपर्यायज्ञान	१	७	१३	७	६	सबसे अल्प
३०	५	केवलज्ञान	१	२	७	२	१	अनन्तगुणा
३१	६	मतिअज्ञान	१४	२/३	१३	५	६	अनन्तगुणा
३२	७	श्रुतअज्ञान	१४	२/३	१३	५	६	समान
३३	८	विभंगज्ञान	२	२/३	१३	५	६	असंख्यातगुणा

क्रम संख्या	मार्गणा भेद संख्या	मार्गणा नाम	जीवस्थान १४	गुणस्थान १४	योग १५	उपयोग १२	लेश्या ६	अल्पबहुत्व
		८ सयममार्गणा						
३४	१	सामायिक	१	४	१३	७	६	सख्यातगुणा
३५	२.	छेदोपस्थापनीय	१	४	१३	७	६	सख्यातगुणा
३६	३	परिहारविशुद्धि	१	२	९	७	६	सख्यातगुणा
३७	४.	सूक्ष्मसपराय	१	१	९	७	१	सबसे अल्प
३८	५	यथाख्यात	१	४	११	९	१	सख्यातगुणा
३९.	६	देशविरति	१	१	११	६	६	असख्यातगुणा
४०	७	अविरति	१४	४	१३	९	६	अनन्तगुणा
		९. दर्शनमार्गणा						
४१.	१	चक्षुदर्शन	३/६	१२	१३	१०	६	असख्यातगुणा
४२	२	अचक्षुदर्शन	१४	१२	१५	१०	६	अनन्तगुणा
४३.	३	अवधिदर्शन	२	९	१५	७	६	सबसे अल्प
४४	४.	केवलदर्शन	१	२	७	२	१	अनन्तगुणा
		१०. लेश्यामार्गणा						
४५	१	कृष्णलेश्या	१४	६	१५	१०	१	विशेषाधिक
४६	२	नीललेश्या	१४	६	१५	१०	१	विशेपाधिक
४७.	३	कापोतलेश्या	१४	६	१५	१०	१	अनन्तगुणा
४८.	४	तेजोलेश्या	३	७	१५	१०	१	असख्यातगुणा
४९	५	पद्मलेश्या	२	७	१५	१०	१	असख्यातगुणा
५०	६.	शुक्ललेश्या	२	१३	१५	१२	१	सबसे अल्प

		११ भव्यत्वमार्गणा						
५१	१	भव्यत्व	१४	१४	१५	१२	६	अनन्तगुणा
५२	२	अभव्यत्व	१४	१	१३	५	६	सबसे अल्प
		१२ सम्यक्त्वमार्गणा						
५३	१	औपशमिक	२	८	१३	७	६	संख्यातगुणा
५४	२	क्षायोपशमिक	२	४	१५	७	६	असंख्यातगुणा
५५	३	क्षायिक	२	११	१५	९	६	अनन्तगुणा
५६	४	सासादन	७	१	१३	५	६	सबसे अल्प
५७	५	मिश्र	१	१	१०	५/६	६	संख्यातगुणा
५८	६	मिथ्यात्व	१४	१	१३	५	६	अनन्तगुणा
		१३ संज्ञीमार्गणा						
५९	१	संज्ञित्व	२	१४	१५	१२	६	सबसे अल्प
६०	२	असंज्ञित्व	१२	२	६	४	४	अनन्तगुणा
		१४ आहारकमार्गणा						
६१	१	आहारकत्व	१४	१३	१५	१२	६	असंख्यातगुणा
६२	२	अनाहारकत्व	८	५	१	१०	६	सबसे अल्प

३. गुणस्थान अधिकार

पूर्व मे जीवस्थान और मार्गणास्थान इन दो विभागो के आठ और छह विषयो का विचार किया जा चुका है। अव तृतीय विभाग गुणस्थान के वर्ण्य विपयो का विचार करते है। गुणस्थान विभाग के विचारणीय विपय इस प्रकार है—

(१) जीवस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बध-हेतु, (६) बध, (७) उदय, (८) उदीरणा, (९) सत्ता, (१०) अल्पवहुत्व, (११) भाव और (१२) सख्यात आदि संख्या।

गुणस्थानो के चौदह भेद और उनके लक्षण आदि का विवेचन द्वितीय कर्मग्रथ मे विशद रूप से किया जा चुका है। अत यहाँ गुणस्थान विभाग के वर्ण्य विपयों का विचार प्रारभ करते है।

गुणस्थानो में जीवस्थान

सव्वजियठाण मिच्छे सग सासणि पण अपज्ज सन्निदुगं।
सम्मे सन्नी दुविहो सेसेसुं सन्निपज्जत्तो ।।४५।।

शब्दार्थ—**सव्वजियठाण**—सभी जीवस्थान, **मिच्छे**—मिथ्यात्व मे, **सग**—सात, **सासणि**—सासादन मे, **पण**—पाच, **अपज्ज**—अपर्याप्त, **सन्निदुगं**—संज्ञीद्विक, **सम्मे**—सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे, **सन्नी**—सज्ञी, **दुविहो**—दो प्रकार के, **सेसेसु**—शेप गुणस्थान मे, **सन्निपज्जत्तो**—सज्ञी पर्याप्तक।

गाथार्थ—मिथ्यात्व गुणस्थान मे सव जीवस्थान होते है। पाँच अपर्याप्त और संज्ञीद्विक मिलकर सात जीवस्थान सासादन मे है। अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे दो प्रकार के सज्ञी जीवस्थान और शेप रहे गुणस्थानो मे संज्ञी पर्याप्त जीवस्थान है।

विशेषार्थ—गाथा मे चौदह गुणस्थानो मे जीवस्थानो का कथन किया गया है कि किस गुणस्थान मे कितने और कौन से जीवस्थान होते है। सर्वप्रथम पहले गुणस्थान मे जीवस्थान बतलाये है कि 'सव्वजियठाण मिच्छे' मिथ्यात्व गुणस्थान मे सभी (चौदह) जीवस्थान होते है। क्योकि एकेंद्रियादि सब प्रकार के ससारी जीव मिथ्यात्व मे पाये जाते हैं।

दूसरे गुणस्थान सासादन मे सात जीवस्थान होते है, जिनमे पाच अपर्याप्त और दो सन्नी हैं। इन सात जीवस्थानो के नाम इस प्रकार हैं—(१) बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, (२) द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, (३) त्रीन्द्रिय अपर्याप्त, (४) चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त, (५) असज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त, (६) सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त तथा (७) सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त।

बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीवस्थान सासादन गुणस्थान मे इसलिए माना जाता है कि कोई जीव सम्यक्त्व का वमन करते हुए एकेन्द्रिय जीवो म जन्म ले तो अपर्याप्त अवस्था मे सासादन गुणस्थान होता है और सज्ञी पचेन्द्रिय को ग्रथिभेद करने के पश्चात् उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करके सम्यक्त्व से पतित होने के समय सासादन गुणस्थान होता है।

सासादन गुणस्थान मे बताये गये सात जीवस्थानो म से छह अपर्याप्त है, सो यहाँ अपर्याप्त का अर्थ करण-अपर्याप्त समझना चाहिए लब्धि-अपर्याप्त नही। क्योकि लब्धि-अपर्याप्त जीव तो पहले मिथ्यात्व गुणस्थान वाले ही होते है।

चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त और सन्नी पचेन्द्रिय पर्याप्त यह दो जीवस्थान है। यहाँ भी अपर्याप्त का अर्थ करण-अपर्याप्त समझना चाहिए। लब्धि-अपर्याप्त नही समझने का कारण पूर्व मे स्पष्ट किया जा चुका है कि लब्धि-अपर्याप्त जीवो को सिर्फ पहला मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है।

उक्त तीन गुणस्थानों—मिथ्यात्व, सासादन, अविरत सम्यग्दृष्टि के सिवाय शेष ग्यारह गुणस्थानो मे सिर्फ सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त यह एक जीवस्थान होता है। सज्ञी पर्याप्त के सिवाय अन्य किसी प्रकार के जीवो मे ऐसे परिणाम नही होते है जो पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थान को छोडकर शेप ग्यारह गुणस्थानो—मिश्र तथा देशविरति से लेकर अयोगिकेवली तक—को प्राप्त कर सके, इसीलिए इन ग्यारह गुणस्थानो मे सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान माना गया है।[1]

इस प्रकार से गुणस्थानो मे जीवस्थानों का कथन करने के पश्चात् अब गुणस्थानो मे योगो का निरूपण करते है।

---

१ गुणस्थानो मे जीवस्थान का विचार गोम्मटसार (दिगम्बर ग्रन्थ) मे भी किया गया है। यहाँ के विचार से वह भिन्नता रखता है। उसमे दूसरे, छठे और तेरहवें गुणस्थान मे अपर्याप्त और पर्याप्त सज्ञी ये दो जीवस्थान माने है—सासण अयदे पमत्तविरदे य, सण्णिदुग (गो० जीवकाड गा० ६९९)

लेकिन उक्त कथन अपेक्षाकृत है। क्योकि गो० कर्मकाड गा० ११३ मे अपर्याप्त एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि को दूसरे गुणस्थान का अधिकारी मानकर (पुण्णिदर विगिविगले तत्थुप्पण्णो हु ससाणो) उनको जीवकाड मे पहले गुणस्थान मात्र का अधिकारी कहा है सो द्वितीय गुणस्थानवर्ती अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदि जीवो की अल्पता की अपेक्षा से। छठे गुणस्थान के अधिकारी को जो अपर्याप्त कहा है सो आहारकमिश्र काययोग की अपेक्षा से। तेरहवे गुणस्थान वाले—सयोगिकेवली को योग की अपूर्णता की अपेक्षा से। इनके लिये देखिये गो० जीवकाड गा० १२६, १२७।

उक्त कथन के सिवाय गो० जीवकाड गा० ६९५ की जी० प्र० टीका मे सासादन गुणस्थान मे कर्मग्रन्थ की तरह सात जीवस्थान भी वतलाये है—'सासादने वादरैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियसज्ञ्यसज्ञ्यपर्याप्तसज्ञिपर्याप्ता सप्त। द्वितीयोपशमविराधकस्य सासादनत्वप्राप्तिपक्षे च सज्ञिपर्याप्त-देवापर्याप्ताविति द्वौ।

गुणस्थानों में योग

मिच्छदुग अजइ जोगाहारदुगूणा अपुव्वपणगे उ ।
मणवइउरलं सविउव्व मीसि सविउव्वदुग देसे ॥४६॥
साहारदुग पमत्ते ते विउवाहारमीस विणु इयरे ।
कम्मुरलदुगंताइममणवयण सजोगि न अजोगी ॥४७॥

शब्दार्थ—मिच्छदुग—मिथ्यात्वद्विक अजइ—अविरत सम्यग्दृष्टि, जोगा—योग आहारदुग—आहारकद्विक, ऊणा—न्यून (रहित) अपुव्वपणगे—अपूर्वकरण आदि पाँच गुणस्थानों में, उ—तो मणवइ—मन के और वचन के उरल—औदारिक सविउव्व—वैक्रिय सहित, मीसि—मिश्र गुणस्थान में सविउव्वदुग—वैक्रियद्विक सहित, देसे—देशविरति गुणस्थान में।

साहारदुग—आहारकद्विक सहित, पमत्ते—प्रमत्त गुणस्थान में ते—तेरह विउवाहारमीस—वैक्रिय और आहारकमिश्र विणु—बिना सिवाय रहित, इयरे—इतर, अप्रमत्त गुणस्थान में कम्म—कार्मण, उरलदुग—औदारिकद्विक अंताइम—अंतिम और पहला, मणवयण—मन और वचनयोग सजोगि—सयोगिकेवली गुणस्थान में न—नहीं होता है अजोगि—अयोगिकेवली गुणस्थान में।

गाथार्थ—मिथ्यात्वद्विक और अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में आहारकद्विक को छोड़कर तेरह योग होते हैं। अपूर्वकरण आदि पाँच गुणस्थानों में चार मन के, चार वचन के और एक औदारिक यह नौ योग हैं। वैक्रिय काययोग सहित मिश्र गुणस्थान में और देशविरति गुणस्थान में वैक्रियद्विक सहित योग होते हैं।

प्रमत्त गुणस्थान में देशविरति के ग्यारह योग व आहारकद्विक कुल तेरह योग होते हैं और अप्रमत्त गुणस्थान में उक्त तेरह योगों में से वैक्रियमिश्र व आहारकमिश्र के

विना ग्यारह योग हैं। सयोगिकेवली गुणस्थान मे कार्मण, औदारिकद्विक, आदि व अन्त के दो मनोयोग, दो वचनयोग (कुल सात योग) होते है और अयोगिकेवली गुणस्थान में कोई भी योग नही होता है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओ मे गुणस्थानों मे योगो की संख्या वतलाई है कि किस गुणस्थान मे कितने और कौन-कौन से योग होते है।

योग के मनोयोग, वचनयोग और काययोग इन तीन मूल भेदो के क्रमशः चार, चार और सात भेदो के नाम पहले कहे जा चुके हैं। कुल मिलाकर यह भेद पन्द्रह होते है। उनमे से यहाँ सर्वप्रथम मिथ्यात्व, सासादन और अविरत सम्यग्दृष्टि इन तीन गुणस्थानों मे योगो को वतलाया है कि 'आहारदुगूणा' आहारकद्विक—आहारक काययोग और आहारकमिश्र काययोग के सिवाय शेष तेरह योग होते हैं। इन गुणस्थानो मे तेरह योग इस प्रकार पाये जाते हैं कि कार्मणयोग विग्रहगति तथा उत्पत्ति के प्रथम समय में, वैक्रियमिश्र और औदारिकमिश्र यह दो योग उत्पत्ति के द्वितीय समय से लेकर अपर्याप्त अवस्था तक और चार मनोयोग, चार वचनयोग, औदारिक काययोग और वैक्रिय काययोग यह दस योग पर्याप्त अवस्था मे पाये जाते है। कुल मिलाकर ये सव तेरह होते हैं।

आहारकद्विक—आहारक काययोग और आहारकमिश्र काययोग मिथ्यात्व, सासादन और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानो मे नही पाये जाने का कारण यह है कि ये दोनो योग चारित्र-सापेक्ष है और चतुर्दश पूर्वधर को ही होते है।[1] लेकिन मिथ्यात्व आदि इन तीन

---

१ आहारदुग जायइ चउदसपुव्विस्स। —पंचसंग्रह १।१२

गुणस्थानो मे न तो सयम है और न चतुर्दश पूर्वों का ज्ञान होना सम्भव है।[1]

'अपुव्वपणगे' अर्थात् अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह इन आठवे से लेकर बारहवे तक के पाच गुणस्थानो मे 'मणवइउरल' चार मनोयोग, चार वचनयोग और औदारिक काययोग कुल नौ योग होते हैं। शेप छह योग नही होने का कारण यह है कि ये पाच गुणस्थान विग्रहगति, केवलीसमुद्घात और अपर्याप्त अवस्था मे नही पाये जाते हैं। अतएव कामण और औदारिक मिश्र ये दो योग नही होते ह तथा ये गुणस्थान अप्रमत्त-अवस्थाभावी हैं, जिससे इनमे प्रमादजन्य लब्धि प्रयोग न होने के कारण वक्रिय-द्विक और आहारकद्विक यह चार योग सम्भव नही हैं। इसीलिये कामण, औदारिकमिश्र, वैक्रियद्विक और आहारकद्विक के सिवाय शेप नौ योग अपूर्वकरण आदि पाच गुणस्थानो मे होते हैं।

तीसरे मिश्र गुणस्थान मे पूर्वोक्त नौ योगो के साथ वैक्रिय काययोग को मिलाने से दस योग हैं और आहारकद्विक, औदारिकमिश्र, वैक्रिय मिश्र और कामण इन पाँच योगो के न होने का कारण यह है कि आहारकद्विक तो सयम सापेक्ष हैं और मिश्र गुणस्थान मे सयम नही होता है तथा औदारिकमिश्र, वक्रियमिश्र यह दो योग अपर्याप्त अवस्था और कामणयोग विग्रहगति भावी होने के कारण नही होते हैं। क्योंकि अपर्याप्त अवस्था म तीसरा गुणस्थान सम्भव नही है। इसीलिय मिश्र गुणस्थान म चार मनोयोग, चार वचनयोग और औदारिक, वैक्रिय काययोग यह दस योग माने जाते हैं।

मिश्र गुणस्थान मे वक्रियमिश्र काययोग न मानने पर जिज्ञासु

---

१ न च मिथ्यादृष्टिसासादनायतानां चतुर्दशपूर्वाधिगमसम्भव इति।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १७६

का प्रश्न है कि अपर्याप्त अवस्थाभावी वैक्रियमिश्र काययोग जो देव, नारको को होता है, वह न भी माना जाये, लेकिन वैक्रियलब्धिधारी पर्याप्त मनुष्य, तिर्यचो मे पाया जाने वाला वैक्रियमिश्र काययोग इस गुणस्थान मे माना जाना चाहिये ।

इसका समाधान ग्रन्थकर्ता ने स्वोपज्ञ टीका में तथा श्री मलयगिरि सूरि[1] आदि ने यही दिया है कि तथाविध सम्प्रदाय के नष्ट हो जाने से इस गुणस्थान मे वैक्रियमिश्र काययोग न माने जाने का कारण अज्ञात है, तथापि यह जान पड़ता है कि वैक्रियलब्धि वाले मनुष्य, तिर्यंच तीसरे गुणस्थान के समय वैक्रियलब्धि का प्रयोग कर वैक्रिय शरीर नही बनाते होगे ।

पाँचवें देशविरति गुणस्थान मे 'सविउव्वदुग' वैक्रियद्विक सहित योग होते है । अर्थात् पूर्व में जो अपूर्वकरण आदि पाँच गुणस्थानो मे चार मनोयोग, चार वचनयोग और एक औदारिक काययोग कुल नौ योग माने हैं, उनमे वैक्रियद्विक—वैक्रिय और वैक्रियमिश्र काययोग और मिलाने से ग्यारह योग देशविरति गुणस्थान मे होते है । इस गुणस्थान में वैक्रियद्विक योग मानने का कारण यह है कि वैक्रियलब्धि सम्पन्न मनुष्य व तिर्यंच वैक्रिय शरीर बनाते है तब उनके वैक्रिय और वैक्रियमिश्र काययोग ये दोनों योग होते है, इसी से देशविरति गुणस्थान में ग्यारह योग माने हैं । देशविरति गुणस्थान मे पूर्ण सयम न होने से आहारकद्विक योग तथा अपर्याप्त अवस्था न होने से औदारिकमिश्र और कार्मण काययोग यह चार योग सम्भव नही हैं ।

प्रमत्तसयत नामक छठा गुणस्थान मनुष्यों को ही होता है और इस गुणस्थान मे देशविरति में पाये जाने वाले ग्यारह और आहारकद्विक 'साहारदुग पमत्ते' कुल तेरह योग होते हैं । तेरह योग मानने

---

१ पचसग्रह १।१७ की टीका ।

का कारण यह है कि चार मन के, चार वचन के और एक औदारिक कुल नौ योग तो सब मुनियो मे साधारण हैं और वैक्रियद्विक और आहारकद्विक ये चार योग वैक्रिय शरीर या आहारक शरीर बनाने वाले लब्धिधारी मुनियो के होते हैं। वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र ये दो योग वैक्रिय शरीर और आहारक शरीर के प्रारम्भ तथा परित्याग करने के समय पाये जाते है।

प्रमत्तसयत गुणस्थान मे जो तेरह योग कहे गये है, उनमे से इसके प्रतिपक्षी नाम वाले गुणस्थान अर्थात अप्रमत्तसयत नामक सातवे गुणस्थान मे 'विउवाहारमीस विणु' वक्रियमिश्र और आहारक मिश्र इन दो योगो को कम करने से ग्यारह योग होते है। अप्रमत्त सयत गुणस्थान मे वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र काययोग न मानने का कारण यह है कि वैक्रिय और आहारक शरीर की रचना के समय सयत मुनि प्रमादी हो जाता है और सातवा गुणस्थान अप्रमत्त अवस्थाभावी है। इसीलिये उसमे छठे गुणस्थान वाले तेरह योगो मे से उक्त दो मिश्र योगो को छोडकर ग्यारह योग माने गये हैं।

अप्रमत्तसयत गुणस्थान म वक्रिय और आहारक काययोग इन दोनो योगो के मानने का कारण यह है कि वैक्रिय शरीर या आहारक शरीर बना लेने पर अप्रमत्त अवस्था सभव है और इसीलिये अप्रमत्त सयत गुणस्थान के योगो की सख्या मे वक्रिय काययोग और आहारक काययोग की गणना की जाती है।

सयोगिकेवली गुणस्थान मे कार्मण, औदारिकद्विक तथा पहला मनोयोग (सत्य मनोयोग) और अन्तिम मनोयोग (असत्यामृषा मनो योग) और इसी प्रकार पहला और अन्तिम वचनयोग कुल सात योग होते है। इन सात योगो म से केवली समुद्घात के समय कार्मण और औदारिकमिश्र ये दो योग अन्य सब समयो मे औदारिक काययोग, अनुत्तर विमानवासी देवो आदि के प्रश्नो का मन से उत्तर देते समय

दो मनोयोग तथा देशना देते समय दो वचनयोग होते हैं। इसीलिये सयोगिकेवली नामक तेरहवे गुणस्थान मे सात योग माने जाते है। लेकिन जब केवली भगवान सब योगो का निरोध करके अयोगिकेवली अवस्था प्राप्त करते हैं तब कोई भी योग नही रहता है। इसीलिये चौदहवे अयोगिकेवली गुणस्थान मे कोई भी योग नही माना है। उस समय अयोगि अवस्था होती है।[1]

इस प्रकार से गुणस्थानो मे योगों का वर्णन करने के पश्चात अब आगे गुणस्थानो मे उपयोगों का कथन करते हैं।

गुणस्थान मे उपयोग

तिअनाण दुदंसाइमदुगे अजइ देसि नाणदंसतिगं।
ते मीसि मीस समणा जयाइ केवलिदुगंतदुगे ॥४८॥

शब्दार्थ—**तिअनाण**—तीन अज्ञान, **दुदंस**—दो दर्शन, **आइमदुगे**—आदि के दो गुणस्थानो मे, **अजइ**—अविरति मे, **देसि**—देशविरति मे, **नाणदंसतिगं**—ज्ञान-दर्शनत्रिक, **ते**—वे, **मीसि**—मिश्र गुणस्थान मे, **मीसा**—अज्ञान से मिश्र, **समणा**—मनपर्यायज्ञान सहित, **जयाइ**—प्रमत्त आदि गुणस्थानो मे, **केवलिदुग**—केवलद्विक, **अंतदुगे**—अतिम दो गुणस्थानो मे।

गाथार्थ—पहले दो गुणस्थानो मे तीन अज्ञान और दो दर्शन, अविरति और देशविरति में तीन ज्ञान और तीन दर्शन (छह उपयोग) होते है। उक्त छह उपयोग मिश्र गुणस्थान में अज्ञान से मिश्रित होते है। मनपर्यायज्ञान सहित

---

१ पचसग्रह १।१६-१८ तक तथा प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा० ६६-६६ मे भी गुणस्थानो मे योग सम्बन्धी विचार इसी प्रकार से किया गया है।

गो० जीवकाड गा० ७०४ मे किया गया योग सम्बन्धी विचार यहाँ के वर्णन से भिन्न है। उसमे पाँचवे, सातवें गुणस्थानो मे नौ और छठे गुणस्थान मे ग्यारह योग माने हैं। देखिये गा० ७०४।

(सात उपयोग) प्रमत्त आदि (सात) गुणस्थानो म होते हैं और अतिम दो गुणस्थानो मे केवलद्विक उपयोग हैं।

विशेषार्थ—गाथा म गुणस्थानो मे उपयोगो का कथन किया है। उपयोग के कुल भेद बारह है उनमे से पहले दो गुणस्थाना—मिथ्यात्व, सासादन—मे उपयोगा की सख्या बतलाते हुए गाथा मे कहा है कि 'तिअनाण दुदसाइमदुगे' तीन अज्ञान—मति-अज्ञान,' श्रुत-अज्ञान और विभगज्ञान तथा दो दर्शन—चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन कुल पाच उपयोग होते है।

आदि के दो गुणस्थानो मे मतिअज्ञान आदि अचक्षुदर्शन पर्यंत पाच उपयोग मानने का कारण यह है कि इन दोनो गुणस्थाना मे सम्यक्त्व का अभाव है। अतएव सम्यक्त्व सहचारी मतिज्ञान आदि पाच ज्ञान, अवधिदर्शन, केवलदर्शन ये सात उपयोग नही होते हैं। शेप मति-अज्ञान आदि पाच उपयोग होते है।[1]

चौथे अविरति सम्यग्दृष्टि और पाचवें देशविरति गुणस्थानो मे 'नाणदसतिग तीन ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और तीन दर्शन—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, यह छह उपयोग हैं। इन दोनो गुणस्थानो म मिथ्यात्व नही होने से मिथ्यात्व सहचारी तीन अज्ञान, सर्वविरति न होने से मनपर्यायज्ञान और घाति कर्मों का अभाव न होने से केवलद्विक कुल छह उपयोग नही होने से शेप छह उपयोग मतिज्ञान आदि होते हैं।

तीसरे मिश्र गुणस्थान मे भी यही छह उपयोग—तीन ज्ञान, तीन दर्शन होते हैं, लेकिन मिश्रदृष्टि मिश्रित (शुद्धाशुद्ध उभयरूप) होने

---

१ पचोपयोगा मिथ्यादृष्टिसासादनयोर्भवन्ति, न शेषा सम्यक्त्व विरत्यभावात —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८१

के कारण ज्ञान, अज्ञान मिश्रित है।[1] इस मिश्र गुणस्थान में शुद्धाशुद्ध उभय मिश्रित दृष्टि होने का कारण पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि कदाचित् सम्यक्त्व की बहुलता से ज्ञान का भी बाहुल्य हो सकता है और कदाचित् मिथ्यात्व की अधिकता मे अज्ञान का बाहुल्य, फिर भी उभय अश समान ही रहते हैं। इसीलिये मिश्र गुणस्थान मे पाये जाने वाले उपयोगो को अज्ञान मिश्रित कहा जाता है।[2]

मिश्र गुणस्थान मे अवधिदर्शन उपयोग मानने का कथन सैद्धान्तिक मत की अपेक्षा से समझना चाहिये।

अभी तक पहले से लेकर पाँचवे गुणस्थान तक उपयोगों की संख्या बतलाई है। अब प्रमत्तसयत आदि छठे से चौदहवें गुणस्थान तक नौ गुणस्थानो मे उपयोग बतलाते हैं। यह उपयोगों का कथन गुणस्थानो के दो विभाग करके बतलाया है। पहले विभाग मे छाद्मस्थिक अवस्था मे होने वाले प्रमत्तसयत आदि क्षीणमोहपर्यन्त सात गुणस्थानो और दूसरे विभाग मे निरावरण अवस्था मे पाये जाने वाले सयोगि और अयोगि केवली दो गुणस्थानो को ग्रहण किया है।

प्रथम विभाग के छठे प्रमत्तसंयत आदि बारहवे क्षीणमोह गुणस्थान पर्यन्त सात गुणस्थानो मे सम्यक्त्व सहचारी तीन ज्ञान और तीन दर्शन, इन छह उपयोगो के साथ सर्वविरति सहचारी मनपर्यायज्ञान उपयोग होने से सात उपयोग होते हैं। इन सात गुणस्थानो मे अज्ञानत्रिक और केवलद्विक इन पांच उपयोगो को नही मानने का

---

१ 'तं' पूर्वोक्ता ज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकरूपा. षडुपयोगा 'मिश्रे' सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके 'मिश्रा' अज्ञानसहिता द्रष्टव्या, तस्योभयदृष्टिपातित्वात्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८१

२ केवलं कदाचित् सम्यक्त्वबाहुल्यतो ज्ञानबाहुल्यम् कदाचिच्च मिथ्यात्वबाहुल्यतोऽज्ञानबाहुल्यम्, समकक्षताया तूभयासममतेति। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८१

कारण यह है कि मिथ्यात्व का अभाव होने से मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभगज्ञान यह तीन अज्ञान नही हैं और घातिकर्म का क्षय न होने स केवलद्विक—केवलज्ञान, केवलदशन उपयोग सभव नही हैं।[1] इसीलिये इन पाँच को छोडकर शेष सात उपयोग इनमे समझना चाहिये।

अतद्विक यानी अत के सयोगिकेवली और अयोगिकेवली—इन दोनो गुणस्थानो मे केवलद्विक—केवलज्ञान और केवलदशन यह दो उपयोग हैं। घातिकर्मों का क्षय होने से छद्मस्थ अवस्थाभावी केवलज्ञान के सिवाय मतिज्ञान आदि सात ज्ञानोपयोग और केवलदशन के सिवाय चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शनोपयोग कुल दस उपयोग नही होते हैं।[2] इसीलिये केवलज्ञान और केवलदशन यह दो उपयोग होते हैं।

इस प्रकार से गुणस्थानो मे उपयोगो का वर्णन किया गया। अब आगे की गाथा मे कार्मग्रथिक और सैद्धान्तिक मतो मे भिन्नता पाई जाने वाले विषयो को स्पष्ट करते हैं।

सैद्धान्तिक मतव्य

सासणभावे नाणं विउव्वगाहारगे उरलमिस्सं।
नेगिंदिसु सासाणो नेहाहिगयं सुयमयं पि ॥४६॥

शब्दार्थ—सासणभावे—सासादन भाव मे, नाणं—ज्ञान (मतिज्ञान श्रुतज्ञान) विउव्वगाहारगे—वैक्रिय और आहारक शरीर मे, उरलमिस्सं—औदारिकमिश्र योग न—नही, एगिंदिसु—एकेन्द्रिय मे,

---

१ यतादीनि सप्त गुणस्थानकानि तेषु पूर्वोक्ता ज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकाख्याः षडुपयोगा मनःपर्यायज्ञानसहिताः सप्त भवन्ति, न शेषा मिथ्यात्वघातिकर्मक्षयाभावात्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८१

२ नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे। —आवश्यक निर्युक्ति, गा० ५३९

सासाणो—सासादनत्व, **नेहाहिगय**—यहा ग्रहण नही किया है, **सुयमयंपि**—किंतु सूत्र मे माना है।

गाथार्थ—सासादन अवस्था मे सम्यग्ज्ञान, वैक्रिय और आहारक शरीर बनाने के समय औदारिकमिश्र काययोग, एकेन्द्रिय जीवों मे सासादन गुणस्थान का अभाव यह तीन बाते सूत्र सम्मत है, लेकिन यहाँ (कर्मग्रंथ मे) ग्रहण नहीं की गई है।

विशेषार्थ—सिद्धात मे और कर्मग्रंथो मे कुछ विषयों पर मत-भिन्नता है। उनमे से तीन विषयो को गाथा में दिखाया गया है। मतभिन्नता वाले विषय इस प्रकार है—

१ सिद्धात मे सासादन अवस्था मे सम्यग्ज्ञान माना है।

२ सिद्धात मे वैक्रिय और आहारक शरीर बनाने के समय औदारिकमिश्र काययोग माना है।

३ एकेन्द्रिय जीवो को सासादन गुणस्थान सिद्धात मे नही माना है।

उक्त तीनो बाते कार्मग्रथिक स्वीकार नही करते है। विचार-भिन्नता के कारणो सहित उक्त मतो का दृष्टिकोण नीचे स्पष्ट करते है।

१. सिद्धात मे सासादन सम्यक्त्व मे ज्ञान भी माना गया है, लेकिन कर्मग्रन्थकार अज्ञान मानते है। सिद्धांत का तत्सम्बन्धी पाठ इस प्रकार है—

'बेइन्दिया ण भते ! किं नाणी अन्नाणी ? गोयमा ! नाणी वि अन्नाणी वि। जे नाणी ते नियमा दुनाणी, आभिणिबोहियनाणी सुयनाणी। जे अन्नाणि ते वि नियमा दुअन्नाणी, तं जहा—मइअन्नाणी सुयअन्नाणी।[1]

—हे भगवन् ! द्वीन्द्रिय ज्ञानी है या अज्ञानी ? हे गौतम ! ज्ञानी

---

१ भगवती ८।२

भी है और अज्ञानी भी। जो ज्ञानी है वह मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी है। जो अज्ञानी है वह भी नियम से मतिअज्ञानी और श्रुतअज्ञानी है।

यहाँ जो ज्ञानी कहा गया है वह सासादन सम्यक्त्व की अपेक्षा से कहा गया है, अन्य सम्यक्त्व का अभाव होने से, उसकी अपेक्षा नहीं है। जैसा कि प्रज्ञापना टीका में कहा है—

'बेइन्दियस्स दो नाणा कहं लब्भंति ? भण्णइ—सासायणं पडुच्च तस्सा पज्जत्तयस्स दो नाणा लब्भंति।

—द्वीन्द्रिय को दो ज्ञान किस प्रकार से होते हैं? सासादन सम्यक्त्व की अपेक्षा करण अपर्याप्त अवस्था में दो ज्ञान होते हैं।

सिद्धान्त के उक्त कथन का साराश यह है कि दूसरे गुणस्थान में वर्तमान जीव यद्यपि मिथ्यात्व के सम्मुख है, पर मिथ्यात्वी नहीं, उसमें सम्यक्त्व का अंश होने से कुछ विशुद्धि है, इसलिये उसके ज्ञान को कुछ विशुद्धि होने के कारण ज्ञान मानना चाहिये।

सिद्धान्त के उक्त अभिप्राय से भिन्न कार्मग्रन्थिक मत यह है कि सासादन गुणस्थान में ज्ञान नहीं अज्ञान है। क्योंकि सासादन सम्यक्त्व ऊपरी गुणस्थान से पतित होने वाले को होता है और वह मिथ्यात्व के सम्मुख है, जिससे परिणाम मलिन हैं। इसीलिये उसका ज्ञान भी मलिन होने से अज्ञान ही है। कर्मग्रंथकार सम्यक्त्वमोहनीय के क्षय, उपशम या क्षयोपशम भाव में ही ज्ञान मानते हैं।[1]

२ सिद्धान्त में माना है कि लब्धि द्वारा वैक्रिय और आहारक शरीर बनाते समय यानी प्रारम्भ काल में औदारिक के साथ मिश्र होने से औदारिकमिश्र काययोग किन्तु त्यागते समय क्रम से वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र होता है। जैसा कि पन्नवणा पद १६ में कहा है—'ओरालियसरीरकायप्पयोगे ओरालियमीससरीरप्पयोगे

---

१ दिगम्बर ग्रंथों में कार्मग्रंथिक मत को स्वीकार किया गया है। देखिये गो० जीवकांड गा० ६८७, ७०४।

वेउव्विय सरीरकायप्पयोगो आहारकसरीरकायप्पओगे आहारकमीस-कायप्पयोगे ।'

इसका अभिप्राय यह है कि जब वैक्रियलब्धि सम्पन्न औदारिक शरीर वाला पचेन्द्रिय मनुष्य, पचेन्द्रिय तिर्यंच अथवा बादर वायु-कायिक जीव वैक्रिय शरीर करता है, तब औदारिक शरीरयोग मे वर्तमान होता है। वैक्रिय शरीर में शरीर पर्याप्ति पूर्ण न करे तब तक वैक्रिय के साथ मिश्रता होती है किन्तु औदारिक की प्रधानता होने से व्यपदेश औदारिकमिश्र का होता है। इसी प्रकार आहारक शरीर के सम्बन्ध में समझना चाहिये। अर्थात् वैक्रिय और आहारक शरीर के करते समय औदारिकमिश्र और परित्याग काल में अनुक्रम से वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र होता है।

लेकिन सिद्धांत के उक्त अभिप्राय के लिये कार्मग्रन्थिक मत यह है कि उक्त दोनो शरीर बनाते तथा त्यागते समय क्रम से वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र योग ही होता है, औदारिकमिश्र नही। क्योकि किसी भी शरीर द्वारा काययोग का व्यापार हो किन्तु औदारिक शरीर जन्मसिद्ध है और वैक्रिय व आहारक लब्धिजन्य। इसलिये लब्धिजन्य शरीर की प्रधानता मानकर प्रारम्भ और परित्याग के समय वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र का व्यवहार करना चाहिये।[1]

३ सिद्धांत में एकेन्द्रिय को सासादन गुणस्थान नही माना है, जबकि कर्मग्रथकार मानते है।[2] भगवती, प्रज्ञापना और जीवाभिगम

---

१ दिगम्बर साहित्य का मतव्य भी कर्मग्रंथ जैसा जान पड़ता है। क्योकि उसमे पांचवें और छठे किसी भी गुणस्थान मे औदारिकमिश्र काययोग नही माना है। देखिये —गो० जीवकाड, गा० ७०४।

२ दिगम्बर साहित्य मे सैद्धातिक और कार्मग्रन्थिक दोनो मतो को ग्रहण किया है। गो० कर्मकाड गा० ११३ से ११५ तक की गाथा मे एकेन्द्रिय

सूत्र म एकेंद्रिया को अज्ञानी ही कहा है। यदि ऐसा न कहा गया होता तो द्वीद्रिय की तरह एकेंद्रिय को भी ज्ञानी और सासादन भाव भी मानना पडता। एकेन्द्रिय को अज्ञानी मानन सम्बधी सूत्र पाठ इस प्रकार है—

'एगिंदिया ण भंते ! कि नाणी अन्नाणी ? गोयमा ! नो नाणी नियमा अन्नाणी।

—हे भगवन् ! एकेंद्रिय ज्ञानी है या अज्ञानी ? गौतम ! ज्ञानी नही नियम से अज्ञानी हैं।

इसस स्पष्ट हो जाता है कि यदि सिद्धात मे एकेंद्रिय को सासादन भाव सम्मत होता तो द्वीन्द्रिय की तरह एकेंद्रिय को भी ज्ञानी कहा जाता।

लेकिन कामग्रथिक एकेंद्रिय म सासादन गुणस्थान मानते है। एकेंद्रिय म सासादन भाव मानन का कामग्रंथिक मत पचसग्रह १।२७ म निर्दिष्ट है—

इगिविगिलेसु जुयल ।

इन विपयो के सिवाय निम्नलिखित दो विपयो के वारे मे भी सिद्धात और कमग्रथ मे मत भिन्नता है—१ सिद्धात म अवधिदशन एक से वारह गुणस्थान तक माना गया है जवकि कमग्रथकार चौये स वारह तक मानते हैं। सिद्धात मे ग्रथिभेद के अनतर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होना माना गया है लेकिन कमग्रथकार औपशमिक सम्यक्त्व मानते हैं।

इस प्रकार स प्रसगापात्त कामग्रंथिक और सैद्धान्तिक मत भिन्नताओ को वतलान क पश्चात अव आग की गाथा मे गुणस्थानो म लेश्याओ व वधहेतुओ को वतलाते हैं।

म सासादन भाव (कामग्रंथिक पक्ष) स्वीकार किया मालूम होता है और सर्वार्थसिद्धि टीका (तत्त्वार्थसूत्र १।८) तथा गो० जीवकाड गा० ६७८ म सैद्धातिक पक्ष है।

गुणस्थानों में लेश्या तथा बंधहेतु

छसु सव्वा तेउतिगं इगि छसु सुक्का अजोगि अल्लेसा ।
बंधस्स मिच्छअविरइकसायजोग त्ति चउ हेऊ ॥५०॥

शब्दार्थ—**छसु**—छह गुणस्थानो मे, **सव्वा**—सभी लेश्यायें, **तेउतिगं**—तेजत्रिक, **इगि**—एक मे (अप्रमत्त मे), **सुक्का**—शुक्ल-लेश्या, **अजोगि**—अयोगिकेवली, **अल्लेसा**—लेश्या रहित है, **बंधस्स**—बन्ध के, **मिच्छ**—मिथ्यात्व, **अविरइ**—अविरति, **कसाय**—कषाय, **जोग**—योग, **त्ति**—इस प्रकार, **चउ**—चार, **हेऊ**—हेतु ।

गाथार्थ—आदि के छह गुणस्थानों मे सभी लेश्यायें होती है। एक—अप्रमत्त गुणस्थान मे तेज आदि तीन लेश्याये और शेष गुणस्थानो—आठवे से लेकर तेरहवे तक छह गुणस्थानो में शुक्ललेश्या होती है और अयोगिकेवली गुणस्थान लेश्या रहित है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग यह चार हेतु कर्मबन्ध के हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे गुणस्थानों मे लेश्याओ का कथन करने के पश्चात बंधहेतुओं के नामों का संकेत किया है।

गुणस्थानो मे लेश्याओं की संख्या और उनके नामो के विचार को प्रारम्भ करते हुए कहा है कि 'छसु सव्वा' आदि के छह गुणस्थानों मे सभी लेश्याये होती है। यानी कृष्ण, नील, कापोत, तेज., पद्म और शुक्ल यह छह लेश्यायें है जो पहले मिथ्यात्व से लेकर छठे प्रमत्त-संयत गुणस्थान तक पाई जाती है।

यहाँ गुणस्थानो मे लेश्याये बतलाई हैं और पहले लेश्यामार्गणा मे गुणस्थान बताये गये हैं। गुणस्थानो मे लेश्याओं का कथन करते समय पहले छह गुणस्थानो मे छह लेश्याये मानी है जबकि लेश्या-मार्गणा मे गुणस्थान बतलाते समय पहले चार गुणस्थानो मे छह लेश्याये बताई है। तत्सम्बन्धी मत वैविध्य का स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है।

आदि के छह गुणस्थानो मे सभी लेश्याये मानने के सम्बन्ध मे दो विचारधारायें हैं। प्रथम मत आदि के चार गुणस्थान तक छह लेश्याये और दूसरा मत पहले छह गुणस्थानो मे छह लेश्या मानता है।[1]

पहले मत का आशय यह है कि छहो प्रकार की द्रव्यलेश्या वालो को चौथा गुणस्थान प्राप्त होता है किन्तु पाँचवा और छठा गुणस्थान सिर्फ तीन शुभलेश्या (तेज पद्म, शुक्ल) वालो को। अत गुणस्थान-प्राप्ति के समय वर्तमान द्रव्यलेश्या की अपेक्षा से चौथे गुणस्थान तक छहो लेश्याये माननी चाहिये और पाचवे, छठे मे तीन ही।

दूसरे मत का यह आशय है कि छहो लेश्याओ के समय चौथा गुणस्थान और तीन शुभ द्रव्यलेश्याओ के समय पाचवा, छठा गुणस्थान प्राप्त होता है, परन्तु प्राप्त होने के बाद चौथे, पाचवे और छठे तीन गुणस्थान वालो मे छहो द्रव्यलेश्याये पाई जाती हैं। इसलिए गुणस्थान प्राप्ति के उत्तरकाल मे वर्तमान द्रव्यलेश्याओ की अपेक्षा छठे गुण-स्थान पर्यन्त छह लेश्याये मानी जाती हैं।

यहाँ यह अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि चौथा, पाँचवा और छठा गुणस्थान प्राप्त होने के समय भावलेश्या तो शुभ ही होती है, अशुभ नही। किन्तु प्राप्त होने के बाद भावलेश्या अशुभ भी हो सकती है।

उक्त दोनो मत अपेक्षाकृत है और इनका साराश यह है कि प्रथम मतानुसार पाँचवा, छठा गुणस्थान प्राप्त करते समय शुभलेश्यायें होती हैं, किन्तु प्राप्त करने के पश्चात अशुभ लेश्याये भी होती है। इस अपेक्षा से आदि के छह गुणस्थानो मे छह लेश्यायें हैं। जबकि दूसरे मत के अनुसार पाचवा और छठा गुणस्थान शुभलेश्याओ मे ही

---

१ पहला मत पचसग्रह १।३० प्राचीन बधस्वामित्व गा० ४० नवीन बधस्वामित्व गा० २५ सर्वार्थसिद्धि गो० जीवकाड गा० ७०४ के भावार्थ म और दूसरा मत प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा० ७३ व यहाँ है।

प्राप्त होता है, अतः उन-उन गुणस्थानों की प्राप्ति के समय शुभ-लेश्यायें होने से प्रथम चार गुणस्थानों में छह लेश्यायें मानी जाती है।

आदि के छह गुणस्थानों—मिथ्यात्व से प्रमत्तसयत तक—में तीन अशुभ कृष्ण, नील, कापोत लेश्यायें होने के सम्बन्ध में यह समझ लेना चाहिये कि प्रत्येक लेश्या असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण संक्लेश मिश्रित परिणाम रूप है। इसलिये उसके तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम, आदि अनेक भेद समझना चाहिए। अतएव कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याओं को छठे गुणस्थान में अति मन्दतम और पहले गुणस्थान में अति तीव्रतम मानकर उनका सम्बन्ध घटाना चाहिये।

आदि के छह गुणस्थानों में लेश्यायें बतलाने के बाद शेष आठ गुणस्थानों में लेश्याओं का विचार करते हुए कहा है 'तेउतिगं इगि' यानी छठवें गुणस्थान के पश्चात् आने वाला जो गुणस्थान अप्रमत्त-सयत (लेकिन संख्या-क्रम से इसकी सख्या सातवी है) है उसमें तेज-त्रिक—तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या—लेश्यायें होती हैं। सातवें गुणस्थान में आर्त और रौद्र ध्यान न होने के कारण पारिणामिक विशुद्धता रहती है, जिससे उस गुणस्थान मे अशुभलेश्यायें सर्वथा नही होती है किन्तु तीन शुभलेश्यायें ही होती है और अप्रमत्तसयत के बाद के छह गुणस्थानो मे पाई जाने वाली लेश्याओं के सम्बन्ध मे गाथा का सकेत है कि 'छसु सुक्का' अपूर्वकरण आदि आठवे से लेकर सयोगिकेवली तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त छह गुणस्थानो मे सिर्फ शुक्ल-लेश्या होती है।

अयोगिकेवली जो चौदहवा गुणस्थान है, उसमे कोई भी लेश्या नही होती है। इसका कारण यह है कि जहाँ तक योग पाया जाता है, वही तक लेश्यायें होती है, लेकिन चौदहवे अयोगिकेवली गुणस्थान मे योग का अभाव हो जाने से लेश्या का सद्भाव नही रहता है।

इस प्रकार से चौदह गुणस्थानों में लेश्याओं का निरूपण गुणस्थानों के तीन विभाग करके किया है—

प्रथम विभाग में आदि के छह गुणस्थानों में छहों लेश्यायें बतलाई हैं।

दूसरे विभाग में सिर्फ एक—अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में तेज आदि तीन शुभ लेश्यायें कही हैं।

तीसरे विभाग में आठवें अपूर्वकरण से लेकर तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान पर्यन्त छह गुणस्थानों में शुक्ललेश्या बताई है।

गुणस्थानों में लेश्याओं के सम्बन्ध में जिज्ञासु प्रश्न करता है कि मिथ्यात्व गुणस्थान में तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या बतलाई हैं और सातवें गुणस्थान में तेज व पद्म लेश्या तथा आठवें से तेरहवें गुणस्थान तक शुक्ललेश्या। तो इनमें क्या अन्तर है?

इसका समाधान यह है कि पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में तेज और पद्म लेश्या अति मन्दतम और सातवें गुणस्थान में अति तीव्रतम होती है। इसी प्रकार पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में शुक्ल लेश्या अति मन्दतम और तेरहवें गुणस्थान में अति तीव्रतम होती है। मिथ्यात्व गुणस्थान तथा अन्य गुणस्थानों में शुभ लेश्यायें पाये जाने के बारे में यही अन्तर है।

इस प्रकार से गुणस्थानों में लेश्याओं का कथन करने के पश्चात गुणस्थानों में बंधहेतुओं को बतलाने के लिये सर्वप्रथम बंधहेतुओं की संख्या बतलाते हैं कि—

'बंधस्स चउ हेऊ' कर्मबंध के चार कारण हैं। तब प्रश्न होता है कि उनके नाम क्या हैं? तो ग्रंथकार कहते हैं कि—'मिच्छअविरइ-कसायजोग त्ति' मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग यानी मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग यह चार बंधहेतु हैं।

मिथ्यात्व—मिथ्यात्व के उदय से जो तत्त्वों का अश्रद्धान रूप आत्म-

परिणाम होता है उसे मिथ्यात्व कहते हैं। कदाग्रह, सशय आदि मिथ्यात्व के रूप है।

अविरति—अर्थात् दोषो मे विरत न होना। यह आत्मा का वह परिणाम है जो चारित्र को रोकता है। चारित्र को रोकने या न होने देने का कारण अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय है।

कषाय—समभाव की मर्यादा को तोड़ना, चारित्र मोहनीय के उदय से क्षमा, विनय, सन्तोष आदि आत्मिक गुणो का प्रगट नही होना या अल्पमात्रा मे प्रगट होना।

योग—आत्मप्रदेशो मे परिस्पन्द (चचलत्व) को योग कहते हैं। यह परिस्पन्द मन, वचन, काय के योग्य पुद्गलो के आलम्बन से होता है।

कर्मबन्ध के हेतुओ की संख्या की तीन परम्परायें

कर्मबन्ध के हेतुओ की संख्या के बारे मे तीन परम्पराये देखने मे आती है—

१ कषाय और योग ये दोनो ही बन्धहेतु है।

२ मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग यह चार बन्ध हेतु है।

३ तीसरी परम्परा पूर्वोक्त मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार हेतुओ के साथ प्रमाद को बढाकर पाँच बन्धहेतुओ की है।[1]

इस प्रकार से सख्या और उसके कारण नामो मे भेद रहने पर भी तात्त्विक दृष्टि से इन परम्पराओ मे कोई भेद नही है। इसका कारण यह है कि प्रमाद एक तरह का असयम ही है अत इसका अविरति या कषाय मे अन्तर्भाव हो जाता है। इसीलिये प्रमाद के सिवाय मिथ्यात्व आदि चार बन्धहेतु माने जाते है। लेकिन जब इन चार बन्धहेतुओ के बारे मे सूक्ष्मता से विचार करते है तो मिथ्यात्व और अविरति ये

---

१ मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव·। —तत्त्वार्थसूत्र ८।१

दोनो कषाय के स्वरूप से अलग नही पडते है, जिससे कषाय और योग इन दोनो को बन्धहेतु माना जाता है।

उक्त कथन पर प्रश्न होता है कि फिर सख्या और भेद की विभिन्न परम्पराओ का आधार क्या है ? इसका समाधान यह है कि आत्मा के साथ कर्मवर्गणाओ का सम्बन्ध होते समय प्रकृति (स्वभाव), स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप चार अशो का निर्माण होता है। उनके कारण कषाय और योग दोनो ही हैं। क्योकि प्रकृति और प्रदेशरूप अशो का निर्माण तो योग से और स्थिति व अनुभाग रूप अशो का निर्माण कषाय से होता है।[1] इसलिए एक ही कर्म मे उत्पन्न होने वाले उक्त चार अशो के कारणो का विश्लेषण करने की दृष्टि से कषाय और योग इन दोनो बधहेतुओ का कथन किया है।

आध्यात्मिक विकास की चढाव-उतार वाली भूमिका स्वरूप गुणस्थानो मे बधने वाली कर्म प्रकृतियो के तरतम भाव के कारण को बतलाने के लिये मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार बध-हेतुओ की परम्परा है। जिस गुणस्थान मे उक्त चार बधहेतुओ मे से जितने अधिक बधहेतु होगे, उस गुणस्थान मे कर्म प्रकृतियो का बध भी अधिक होगा और जहा ये बधहेतु कम होगे, वहा कर्म प्रकृतियो का बध भी कम ही होगा। इस प्रकार से चार बधहेतुओ का कथन गुणस्थानो मे तरतम भाव को प्राप्त होने वाले कर्म बध के कारणो की अपेक्षा से किया गया है। पाच बधहेतुओ की परम्परा का आशय चार बधहेतुओ की परम्परा से भिन्न नही है। वह तो जिज्ञासुओ को विस्तार से बधहेतुओ का ज्ञान कराने के लिये है।

अधिकतर शास्त्रो मे जो कर्मबध के चार और दो बधहेतुओ की परम्परा देखने मे आती है, वह कारण सापेक्ष है। योग और कषाय

---

१ जोगा पयडिपदेसा ठिइअणुभाग कसायओ कुणइ। —पचसग्रह ५१३

इन दो बंधहेतुओं की परम्परा किसी भी कर्म में सम्भावित चार अंशों के कारण का पृथक्करण करती है और मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार हेतुओं की परम्परा अलग-अलग गुणस्थानों में तरतम भाव को प्राप्त होने वाले कर्मबंध के कारणों का स्पष्टीकरण करने के लिये है।

यहाँ पर गुणस्थानों में कर्म बंध के कारणों का विवेचन किया जा रहा है, अतएव मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार को बंधहेतु के रूप में प्रस्तुत किया है। ये चारों कर्मबंध के सामान्य हेतु हैं अर्थात् अतरंग हेतु हैं और इन कारणों के रहने पर जीव ज्ञानावरण आदि कर्मों का बंध करता रहता है। पहले कर्मग्रंथ गा० ५४ से ६१ तक, तत्त्वार्थसूत्र के छठे अध्याय के ११ से २६ तक के सूत्रों में तथा अन्य ग्रंथों में जो ज्ञानावरण आदि प्रत्येक कर्म के अलग-अलग बंधहेतु कहे हैं और यहाँ जो मिथ्यात्व आदि बंधहेतुओं का कथन किया है, इन दोनों में यह अन्तर है कि पहले कर्मग्रंथ आदि में कहे गये हेतु प्रत्येक कर्म के खास-खास बंधहेतु होने से विशेषरूप हैं, जबकि मिथ्यात्व आदि समस्त कर्मों के समान बंधहेतु होने से सामान्य हैं।

कर्मबंध के सामान्य और विशेष बंधहेतुओं का अलग से कथन करने पर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि प्रत्येक समय आयु के सिवाय सात कर्मों का बंध होता रहता है। इसलिये ज्ञान, ज्ञानी आदि पर प्रद्वेष या उनका निह्नव करते समय भी ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि की तरह अन्य कर्मों का बंध होता ही है। इस स्थिति में तत्त्वार्थसूत्र ६/११-२६ तक के सूत्र में कहे गये 'तत्प्रदोष-निह्नव' आदि ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्मों के विशेष हेतु कैसे कहे जा सकते हैं ?

इसका समाधान यह है कि तत्प्रदोषनिह्नव आदि आस्रवों को जो ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म का विशेष बंधहेतु कहा है वह अनुभाग बंध की अपेक्षा से, प्रकृति बंध की अपेक्षा से नहीं। अर्थात् किसी भी

आस्रव के सेवन के समय प्रकृतिबध सब प्रकार का होता है किन्तु अनुभागबध मे अन्तर पडता है कि ज्ञान, ज्ञानी, ज्ञानोपकरण आदि पर प्रद्वेष करते समय ज्ञानावरण, दर्शनावरण के साथ अन्य कर्म प्रकृतिया का भी बध होता रहता हे किन्तु उस समय अनुभागबध विशेप रूप से ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म का ही होता है।

उक्त कथन का साराश यह है कि कर्मबध के सामान्य और विशेप जो बधहेतु बतलाये गये हैं उनमे विशेप बधहेतुओ का विभाग अनुभागबध की अपेक्षा से किया गया है, प्रकृतिबध की अपेक्षा से नही। सामान्य बधहेतुओ से सभी कर्मों का प्रकृति, प्रदेश आदि रूप बध होगा और इस बध के समय जिस कर्म के विशेप बधहेतु अधिक होंगे, उसका अनुभागबध विशेप रूप मे होगा।

यह सामान्य नियम है कि मिथ्यात्व से योगपर्यन्त बधहेतुओ मे से जहाँ पूर्व-पूर्व के बधहेतु होगे वहाँ उसके बाद के भी सभी होगे। जैसे कि मिथ्यात्व के होने पर अविरति आदि शेप अवश्य होंगे। इसी प्रकार अविरति आदि बधहेतुओ के लिये भी समझना चाहिये। परन्तु जब उत्तर का बधहेतु होगा तब पूर्व बधहेतु हो भी और न भी हो। जैसे अविरति के होने पर पहले मिथ्यात्व गुणस्थान मे मिथ्यात्व होगा परन्तु दूसरे तीसरे, चौथे गुणस्थान मे अविरति के होने पर भी मिथ्यात्व नही रहता है। इसी प्रकार अन्य बधहेतुओ के लिए भी समझना चाहिये।

इस प्रकार से कर्मबध के मूल हेतुओ को बतला कर अब आगे की दो गाथाओ मे उनके उत्तरभेद और गुणस्थानो मे मूल बन्ध-हेतुओ को बतलाते हैं।

बन्धहेतुओं के उत्तरभेद व गुणस्थानों मे बन्धहेतु

अभिगहियमणभिगहियाऽऽभिनिवेसिय ससइयमणाभोग।
पण मिच्छ बार अविरइ मणकरणानियमु छजियवहो ॥५१॥

नव सोल कसाया पनर जोग इय उत्तरा उ सगवन्ना ।
इगचउपणतिगुणेसुं चउतिदुइगपच्चओ बन्धो ॥५२॥

शब्दार्थ—अभिगहिय—आभिग्रहिक, अणभिगहिय—अनाभिग्रहिक, आभिनिवेसिय—आभिनिवेशिक, ससइयं—साशयिक, अणाभोग—अनाभोग, पण—पाँच, मिच्छा—मिथ्यात्व, बार—बारह, अविरइ—अविरति, मणकरण—मन और इन्द्रियो का, अनियमु—अनियम, वश मे नही रखना। छजियवहो—छह काय के जीवो का वध।

नव सोल—नौ तथा सोलह, कसाय—कषाय, पनर—पन्द्रह, जोग—योग, इय—इस प्रकार से, उत्तरा—उत्तरभेद, उ—और, सगवन्ना—सत्तावन, इग—एक, चउ—चार, पण—पाँच, ति—तीन, गुणेसु—गुणस्थानो मे, चउ—चार, ति—तीन, दु—दो, इग—एक, पच्चओ—प्रत्ययिक, बन्धो—बन्ध (होता है)।

गाथार्थ—आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक, आभिनिवेशिक, साशयिक और अनाभोगिक ये पाँच मिथ्यात्व के भेद है। मन तथा पाँच इन्द्रियो को वश मे न रखना तथा छह काय के जीवो का वध करना यह अविरति के बारह भेद है।

नौ तथा सोलह कुल पच्चीस भेद कषाय के है तथा योग पन्द्रह होते है। कुल मिलाकर ये उत्तरभेद सत्तावन होते है। एक, चार, पाँच और तीन गुणस्थान में अनुक्रम से चार, तीन, दो और एक हेतु प्रत्ययिक बन्ध होता है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं मे मिथ्यात्व आदि बन्धहेतुओ में से मिथ्यात्व और अविरति के उत्तरभेदो के नाम तथा कषाय व योगो के भेदों की सख्या और इन भेदो के कुल जोड का संकेत करने के पश्चात गुणस्थानो मे मूल बन्धहेतुओं की संख्या का कथन किया है।

मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं—(१) आभिग्रहिक, (२) अनाभिग्रहिक, (३) आभिनिवेशिक, (४) सांशयिक तथा (५) अनाभोग।[1]

मिथ्यात्व मोहनीयकर्म का औदयिक परिणाम ही मुख्यतया मिथ्यात्व कहलाता है। यहाँ मिथ्यात्व के उदय से होने वाली आभिग्रहिक आदि बाह्य प्रवृत्तियों को कार्यकारण की भेदविवक्षा से मिथ्यात्व कहा है। उनके लक्षण नीचे लिखे अनुसार हैं—

१ तत्त्व की परीक्षा किये बिना ही किसी एक सिद्धान्त का पक्षपात करके अन्य पक्ष का खंडन करना आभिग्रहिक मिथ्यात्व है। इस प्रकार के मिथ्यात्व के होने का कारण वंश-परम्परा से चले आये विचारों पर आरूढ़ रहना है। उस स्थिति में यह ज्ञान नहीं होता है कि सत्य क्या है और किसी भी असत्य धर्म को तत्त्वबुद्धि से ग्रहण कर लिया जाता है।

सम्यग्दृष्टि जीव कदापि अपरीक्षित सिद्धान्त का पक्षपात नहीं करता है, अतएव जो व्यक्ति तत्त्वपरीक्षापूर्वक किसी एक पक्ष को मानकर अन्य पक्ष का खंडन करता है, वह आभिग्रहिक नहीं है। किन्तु कुलाचार मात्र से अपने को सम्यक्त्वी मानकर तत्त्व की परीक्षा नहीं करता, वह वस्तुतः आभिग्रहिक है। जो व्यक्ति स्वयं तत्त्व परीक्षा करने में असमर्थ हैं यदि वे गीतार्थ (तत्त्वपरीक्षक) के आश्रित

1 (क) पंचसंग्रह ४।२ में भी मिथ्यात्व के उक्त पाँच भेद कहे हैं।
(ख) गो० जीवकांड गा० १५ में मिथ्यात्व के १ एकांत, २ विपरीत ३ वैनयिक, ४ सांशयिक और ५ अज्ञान—यह पाँच भेद किये हैं।
(ग) [illegible] गा० ५६ में मिथ्यात्व के संशय, अभिग्रहीत अनभिग्रहीत—यह तीन भेद किये हैं।
(घ) तत्त्वार्थसूत्र ८।१ के भाष्य में मिथ्यात्व के अभिगृहीत और अनभिगृहीत—यह दो भेद किये हैं।

हो तो उन्हें आभिग्रहिकी मिथ्यात्वी नही समझना चाहिये, क्योंकि गीतार्थ के आश्रित रहने से उनमे मिथ्या पक्षपात सम्भव नही है।

२ सत्यासत्य की परीक्षा किये विना ही सब पक्षों को बरावर समझना अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है।[1] यह मिथ्यात्व मंदबुद्धि वाले, परीक्षा करने मे असमर्थ जनसाधारण में पाया जाता है, जिससे वे अकसर कह देते है कि सब धर्म बरावर हैं।

३ अपने पक्ष को असत्य जानकर भी उसकी स्थापना करने के लिये दुरभिनिवेश (दुराग्रह) करना आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है। यथार्थ वक्ता मिलने पर भी श्रद्धा का विपरीत बना रहना दुरभिनिवेश कहलाता है।

४ संशय से उत्पन्न होने वाले मिथ्यात्व को सांशयिक मिथ्यात्व कहते हैं। इस मिथ्यात्व के कारण भगवद्-उपदिष्ट जीवाजीव आदि पदार्थों मे सशय हो जाता है कि भगवान ने जो धर्मास्तिकाय आदि कहे है, वे हैं या नही। अथवा देव, गुरु, धर्म के विषय में सदेहशील बने रहना सांशयिक मिथ्यात्व है।[2]

यद्यपि सूक्ष्म विपयो मे सशय सर्वविरति साधुओं मे भी पाया जाता है, किन्तु वह मिथ्यात्वरूप इसलिये नही माना जाता है कि वे—

तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं—

की भावना से आगम को प्रमाण मानकर अपने सशय का निवर्तन

---

१ तद्विपरीतमनाभिग्रहिकम्, यद्वशात् सर्वाण्यपि दर्शनानि शोभनानीत्येवमीपन्माध्यस्थ्यमुपजायते। —**चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८३**

२ 'साशयिक' यत् सशयेन निर्वृत्तम्, यद्वशाद् भगवदर्हदुपदिष्टेष्वपि जीवाजीवादितत्त्वेपु सशय उपजायते, यथा—न जाने किमिद भगवदुक्त धर्मास्तिकायादि सत्यम्? उतान्यथा? इति।

—**चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८३**

कर लेते हैं। इसीलिए वास्तव में संशय उसे ही समझना चाहिये जो आगम प्रामाण्य के द्वारा भी निवृत्त नहीं होता है। जब संशयशील व्यक्ति अनिर्णय की स्थिति में किसी एक पक्ष पर दुराग्रह कर लेता है तो वह आभिनिवेशिक मिथ्यात्व हो जाता है।

५ विचार व विशेष ज्ञान के अभाव अर्थात् मोह की प्रगाढ़तम अवस्था के कारण सत्यासत्य का विचार ही न हो, उसे अनाभोग मिथ्यात्व कहते हैं। यह मिथ्यात्व एकेन्द्रिय आदि क्षुद्रतम जन्तुओं और मूढ़ प्राणियों में पाया जाता है।

मिथ्यात्व के उक्त पाँच भेदों में से आभिग्रहिक और अनाभिग्रहिक ये दोनों विपर्यास रूप होने से तीव्र क्लेश के कारण हैं और शेष तीन विपर्यास रूप न होने से तीव्र क्लेश के कारण नहीं हैं। इसीलिए आदि के दोनों मिथ्यात्व गुरु—मुख्य और शेष तीन लघु कहलाते हैं।

मन तथा स्पर्शन, रसन आदि पाँचों इन्द्रियों को अपने अपने विषय में स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवृत्ति करने देने में तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा त्रस, इन छह काय के जीवों का वध—हिंसा करने से अविरति के बारह भेद हैं। अर्थात् मन को अपने विषयों में स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवृत्ति करने देना मन-अविरति है। इसी प्रकार शरीर, जीभ आदि पाँचों इन्द्रियों की अविरति के बारे में समझ लेना चाहिए। पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करना पृथ्वीकाय-अविरति है। इसी प्रकार से जलकायिक आदि त्रसकायिक पर्यन्त छह कायों की अविरति जानना चाहिए।

अविरति के उक्त बारह भेदों में मृषावाद अविरति, अदत्तादान अविरति आदि सभी अविरतियों का समावेश हो जाता है। क्योंकि इनमें भी मन और इन्द्रियों की स्वच्छन्द प्रवृत्तियाँ और पृथ्वीकायिक आदि छह काय के जीवों की सूक्ष्म या स्थूल रूप से हिंसा होती है। अविरति का मूल कारण कषायादि परिणाम है। कषाय के प

होकर ही मन आदि की स्वच्छन्द प्रवृत्ति और जीवो की हिंसा होते देखी जाती है।

हास्यादि नौ नोकपायो तथा अनन्तानुबधी क्रोध आदि सोलह कपायो को मिलाने से कपाय के पच्चीस भेद है। इनका विस्तृत विवेचन प्रथम कर्मग्रथ मे किया गया है। हास्यादि नौ नोकपायो को कपाय की सहचारी और उत्तेजक होने से कपाय माना है।

योग के पद्रह भेदो के नाम आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन पहले २४ वी गाथा में हो चुका है।

इस प्रकार से ५ मिथ्यात्व, १२ अविरति, २५ कपाय और १५ योग ये सब मिलाकर सत्तावन होते है, जो कर्मवध के हेतु है। कर्मवध के हेतुओ के भेद-प्रभेद वतलाने के वाद अव गुणस्थानो मे मूल बंध-हेतुओ को कहते हैं कि 'इगचउपणतिगुणेसु चउतिदुइगपच्चओ वधो।'

गाथा के उक्त चरण के पहले पाद 'इगचउपणतिगुणेसुं' मे गुणस्थानो की सख्या का सकेत किया है कि एक, चार, पाँच और तीन गुणस्थानो मे तथा दूसरे पाद 'चउतिदुइगपच्चओ बंधो' मे वधहेतुओं की सख्या वतलाई है कि चार, तीन, दो और एक वधहेतु हैं। इस प्रकार से गुणस्थानो की सख्या के क्रम के साथ वधहेतुओ की सख्या का क्रम रखने पर यह फलितार्थ निकलेगा कि एक गुणस्थान मे चार बधहेतु है, चार गुणस्थानो मे तीन वधहेतु, पाँच गुणस्थानो मे दो वधहेतु और तीन गुणस्थानो मे सिर्फ एक वधहेतु है। इसका विशेप स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

मिथ्यात्व, सासादन आदि के क्रम से अयोगिकेवली पर्यन्त चौदह गुणस्थानो के नाम दूसरे कर्मग्रंथ मे वतलाये है। यहाँ जो गुणस्थानो मे वन्धहेतुओ की सख्या वतलाई है वह पूर्वोक्त गुणस्थानो की क्रमगणना के अनुसार जानना चाहिए अर्थात् एक—पहले मिथ्यात्व गुणस्थान के समय मिथ्यात्व, अविरति, कपाय और योग यह चारो बन्धहेतु पाये

जाते हैं। चार—दूसरे सासादन से लेकर पाचवे देशविरति पर्यन्त चार गुणस्थानो मे मिथ्यात्व के सिवाय शेष तीन—अविरति, कषाय और योग बन्धहेतु है। पाच—छठे प्रमत्तसयत गुणस्थान से लेकर दसवें सूक्ष्मसपराय पर्यन्त पाच गुणस्थानो मे मिथ्यात्व, अविरति के सिवाय शेष कषाय और योग यह दो बन्धहेतु है। तीन—ग्यारहवें उपशान्तमोह से तेरहवे सयोगिकेवली पर्यन्त तीन गुणस्थानो मे सिर्फ एक योग ही बन्धहेतु है। चौदहवे गुणस्थान मे योग का भी अभाव हो जाने से बन्ध का एक भी कारण नही रहता है।

इस प्रकार से गुणस्थानो मे मूल बन्धहेतुओ के कथन के बाद अब बन्ध योग्य १२० बन्ध प्रकृतियो के यथासम्भव मूल बन्धहेतुओ का कथन आगे की गाथा मे करते हैं।

चउमिच्छमिच्छअविरइपच्चइया सायसोलपणतीसा।
जोग विणु तिपच्चइयाऽऽहारगजिणवज्ज सेसाओ ॥५३॥

शब्दार्थ—चउ—चार, मिच्छ—मिथ्यात्व, मिच्छ अविरइ—मिथ्यात्व और अविरति, पच्चइया—प्रत्ययिकी, साय—साता वेदनीय, सोल—सोलह, पणतीस—पतीस प्रकृतियाँ, जोग विणु—योग के अलावा, ति—तीन, पच्चइया—प्रात्ययिक, आहारग—आहारक द्विक, जिण—जिन नामकर्म, वज्ज—छोडकर, सेसाओ—शेष प्रकृतियाँ।

गाथार्थ—साता वेदनीय का बन्ध चारो हेतुओ से होता है। सोलह प्रकृतियो का बन्ध सिर्फ मिथ्यात्व से और पतीस प्रकृतियो का बन्ध मिथ्यात्व और अविरति इन दो हेतुओ से होता है। योग के सिवाय तीन हेतुओ से तीर्थंकर और आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियो के अलावा शेष सब प्रकृतियो का बन्ध होता है।

विशेषार्थ—ज्ञानावरण आदि आठ मूल कर्म प्रकृतियो की बन्धयोग्य १२० प्रकृतियां हैं—ज्ञानावरण की ५, दर्शनावरण की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २६, आयुकर्म की ४, नामकर्म की ६७, गोत्रकर्म की २ और अन्तराय कर्म की ५। ये सब बन्धयोग्य उत्तर प्रकृतियाँ कुल मिलाकर १२० होती है। इन एक सौ बीस मे से एक सौ सत्रह प्रकृतियो के बन्धहेतुओ का गाथा मे सकेत किया गया है कि साता वेदनीय का बन्ध मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चारो हेतुओ से होता है। मिथ्यात्व से सोलह प्रकृतियों का, मिथ्यात्व और अविरति दोनो से पैंतीस प्रकृतियो का, तीर्थंकर और आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियो को छोडकर शेष पैंसठ प्रकृतियो का मिथ्यात्व, अविरति, कषाय इन तीन हेतुओं से बन्ध होता है।

सातावेदनीय का बन्ध चतुर्हेतुक कहा गया है यानी मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग यह चारों सातावेदनीय के बन्धहेतु हैं। इसका कारण यह है कि पहले गुणस्थान मे मिथ्यात्व से, दूसरे आदि चार गुणस्थानो मे अविरति से, छठे आदि पाच गुणस्थानों मे कषाय से तथा ग्यारहवे आदि तीन गुणस्थानों मे योग से सातावेदनीय का बन्ध होता है। इस तरह तेरह गुणस्थानो मे उसके सब मिलाकर चार बन्धहेतु होते हैं।

मिथ्यात्व से सोलह प्रकृतियो का बन्ध होता है। जिनके नाम इस प्रकार हैं—नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु), जातिचतुष्क (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय), स्थावर चतुष्क (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण नामकर्म), हुड सस्थान, आतप नाम, सेवार्त संहनन, नपुंसकवेद, मिथ्यात्व मोहनीय।[1] इन सोलह प्रकृतियो का बन्ध मिथ्यात्वहेतुक इसलिये कहा गया है कि ये प्रकृतियाँ सिर्फ पहले

१ नरयतिग जाइथावरचउ हुडायवछिवट्ठनपुमिच्छ।
—द्वितीय कर्मग्रन्थ, गा० ४

गुणस्थान में बांधी जाती हैं। इनका मिथ्यात्व के साथ अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है। मिथ्यात्व हो तभी इन प्रकृतियों का बन्ध होता है और मिथ्यात्व के अभाव में ये नहीं बंधती हैं। इसीलिये मिथ्यात्व इनका मुख्य कारण है और बाकी के तीन हेतु गौण हैं, जिससे इन प्रकृतियों को मिथ्यात्व प्रत्ययिक माना जाता है। मिथ्यात्व का उदय होने से ही पहले गुणस्थान का नाम मिथ्यात्व है।

मिथ्यात्व और अविरति इन दो बंधहेतुओं से तिर्यंचत्रिक आदि पैंतीस प्रकृतियों के बंध का अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है। इनके बंध में मिथ्यात्व और अविरति यह दोनों मुख्य कारण हैं और बाकी के दो गौण। इसीलिए इन दोनों से उनका बंध कहा है। क्योंकि जहाँ तक मिथ्यात्व और अविरति हों वहाँ तक इन प्रकृतियों का बंध होता है और उनके अभाव में बंध का भी अभाव हो जाता है। पहले गुणस्थान में ये प्रकृतियाँ मिथ्यात्व से और दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थानों में अविरति से बांधी जाती हैं।

मिथ्यात्व अविरति बंधहेतुक पैंतीस प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

तिर्यंचत्रिक, स्त्यानर्द्धित्रिक, दुर्भगत्रिक, अनन्तानुबंधी चतुष्क, मध्यम संस्थान चतुष्क, मध्यम संहनन चतुष्क, नीचगोत्र, उद्योत नाम, अशुभ विहायोगति, स्त्रीवेद, वज्रऋषभनाराच संहनन, मनुष्यत्रिक, अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क और औदारिकद्विक।[1]

---

१ ... नामति तिरियाण ट्ठुणतिग।
अणमज्झागिइसंघयणचउ निउज्जोयकुखगइत्थि त्ति॥
... वइर नरतिग वियकसाया।
उरल दुगंता ॥ —द्वितीय कर्मग्रन्थ, गा० ४ ५ ६

उक्त १६ और ३५ प्रकृतियों के पूरे नाम द्वितीय कर्मग्रन्थ पृ० ५५ से ६२ तक में दिये गये हैं।

साता वेदनीय, नरकत्रिक आदि सोलह, तिर्यंचत्रिक आदि पैंतीस और तीर्थंकर नामकर्म, आहारकद्विक इन पचपन प्रकृतियों को बंध-योग्य एक सौ बीस प्रकृतियों मे से घटा देने पर शेप पैंसठ प्रकृतियाँ (१२० – ५५ = ६५) रह जाती है। इन पैंसठ प्रकृतियों का बंध अविरति, कपाय और योग हेतुक इस अपेक्षा से समझना चाहिए कि पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व से, दूसरे आदि चार गुणस्थानो में अविरति से और छठे आदि पाँच गुणस्थानो मे कपाय से होता है।

उक्त कथन का विशेप स्पष्टीकरण यह हे कि यह पैंसठ प्रकृतियाँ मिथ्यात्व से सूक्ष्मसम्पराय पर्यन्त दस गुणस्थानों मे यथायोग्य मिथ्यात्व, अविरति और कपाय इन तीन हेतुओ से वधती है। इसलिए इन तीन हेतुओ की मुख्यता है और योग की गौणता। इन तीन हेतुओ के साथ पैंसठ प्रकृतियों का अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है। जहाँ तक यह तीन हेतु होते है वहाँ तक ये प्रकृतियाँ वधती हे और हेतुओं के नही रहने पर अगले गुणस्थानो मे नही वधती है। तथापि पहले गुणस्थान मे मिथ्यात्व की, दूसरे आदि चार गुणस्थानो मे अविरति की और छठे आदि पाँच गुणस्थानो मे कपाय की प्रधानता है और अन्य हेतुओं की अप्रधानता। इस कारण से मिथ्यात्व, अविरति और कषाय को बधहेतु कहा है।

मिथ्यात्व के समय अविरति आदि तीन हेतु, अविरति के समय कपाय आदि दो हेतु और कपाय के समय योग रूप हेतु अवश्य रहता है।

ग्यारहवे से तेरहवे गुणस्थान तक सिर्फ योग रहता है और योग के साथ इन प्रकृतियो का अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध नही है। इसीलिये योग को ग्रहण नहीं किया गया है।

इस प्रकार से एक सौ सत्रह प्रकृतियो के मूल बन्धहेतुओ का कथन

किया है और तीथकर नामकम व आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियो के वध के लिये ग्रथकार ने स्वोपज्ञ टीका म सकेत किया है कि—

आहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणाहारकद्विकतीथकरनाम्नोस्तु प्रत्यय 'सम्मत्तगुणनिमित्त तित्थयर सजमेण आहार' (वृहत्शतक गा० ४५) इति वचनात सयम सम्यक्त्व चाभिहित इतीह तद्वजनमिति।

आहारक शरीर और अहारक अगोपाग—आहारकद्विक तथा तीर्थंकर नामकर्म का वध सम्यक्त्व और सयमहेतुक है। इसलिये इन तीन प्रकृतियो का यहा निषेध किया गया है। अर्थात् आहारकद्विक और तीथकर नाम इन तीन प्रकृतिया का बन्ध सयम तथा सम्यक्त्व के सद्भाव मे होता है। अत इन तीन प्रकृतिया की गणना कषाय हेतुक प्रकृतिया म नही की है।

यद्यपि पचसग्रह ४।१९ मे—'सेसाउ कसाएहिं' पद स तीर्थंकर नामकम और आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियो के वध को कषाय हेतुक माना है तथा गाथा २०[1] मे सम्यक्त्व को तीर्थंकर नामकम का और सयम को आहारकद्विक का विशेष हेतु कहा है। तत्त्वार्थसूत्र ९।१ की सर्वार्थसिद्धि टीका म भी इन तीन प्रकृतिया को कषायहेतुक माना है। तथापि यहा ग्रथकर्ता श्री देवेन्द्रसूरि ने इन तीन प्रकृतियो के वध को कषाय हेतुक नही कहा ह। जिसका कारण सिर्फ विशेष हेतु दिखाने का जान पडता है किन्तु कषाय का निषेध नही। क्योकि सभी कर्म के प्रकृति और प्रदेश वध मे योग को और स्थिति व अनुभाग वन्ध मे कषाय की कारणता सिद्ध है।[2]

बधयोग्य १२० उत्तर प्रकृतियो के यथासम्भव मूल बधहेतु

---

१ तित्थयराहाराण वध सम्मत्तसजमा हेऊ। —पचसग्रह ४।२०

२ उत्तर प्रकृतिया के मूल बधहेतुओ तथा तीथकर नाम व आहारकद्विक के वधहेतुओ विषयक पचसग्रह के मतव्य का परिशिष्ट म देखिये।

बतलाकर अब आगे गुणस्थानो में उत्तर बन्धहेतुओ का सामान्य व विशेप रूप मे वर्णन करते है।

गुणस्थानों में उत्तर बन्धहेतुओ का वर्णन

पणपन्न पन्न तियछहिय चत्त गुणचत्त छचउदुगवीसा ।
सोलस दस नव नव सत्त हेउणो न उ अजोगिम्मि ॥५४॥

शब्दार्थ—पणपन्न—पचपन, पन्न—पचास, तियछहिय चत्त—तेतालीस, छियालीस, गुणचत्त—उनतालीस, छचउदुगवीसा—छब्बीस, चौवीस, बाईस, सोलस—सोलह, दस—दस, नव—नौ, नव—नौ, सत्त—सात, हेउणो—बधहेतु (हे), न—नही, उ—और, अजोगिम्मि—अयोगिकेवली मे।

गाथार्थ—अनुक्रम से तेरह गुणस्थानों मे पचपन, पचास, तेतालीस, छियालीस, उनतालीस, छब्बीस, चौवीस, बाईस, सोलह, दस, नौ, नौ और सात उत्तर बन्धहेतु जानना चाहिये और अयोगिकेवली गुणस्थान मे बन्धहेतु नही है।

विशेषार्थ—गाथा ५१, ५२ मे मिथ्यात्व, अविरति, कपाय और योग इन चार मूल बन्धहेतुओ के क्रमशः ५, १२, २५, १५ कुल मिलाकर ५७ भेद कहे है। यहाँ गाथा मे प्रत्येक गुणस्थान मे उनमे से कितने-कितने होते है इसकी सख्या का सकेत किया है। ग्रथलाघव की दृष्टि से चौदहवे अयोगिकेवली गुणस्थान की विशेपता बतलाते हुए कि उसमे कोई बन्धहेतु नही है, के साथ अन्य गुणस्थानो के नाम अथवा क्रम सख्या का उल्लेख नही करके बन्धहेतुओ की सख्या का निर्देश किया है। जिसको अनुक्रम से प्रत्येक गुणस्थान के समक्ष रखने से उस गुणस्थान के बन्धहेतुओ की संख्या ज्ञात हो जाती है।

गुणस्थानो के नाम और उनमे से प्रत्येक गुणस्थान के बन्धहेतुओ की सख्या इस प्रकार है—पहले मिथ्यात्व गुणस्थान मे ५५ बन्धहेतु हैं। दूसरे सासादन मे ५०, तीसरे मिश्र मे ४३, चौथे अविरति मे ४६,

पाचवें देशविरति में ३९, छठे प्रमत्तसंयत में २६, सातवें अप्रमत्तसंयत में २४, आठवें अपूर्वकरण में २२, नौवें अनिवृत्तिबादर में १६, दसवें सूक्ष्मसम्पराय में १०, ग्यारहवें उपशान्त मोह व बारहवें क्षीणमोह में नौ-नौ तथा तेरहवें सयोगिकेवली में ७ बंधहेतु हैं। चौदहवें अयोगिकेवली गुणस्थान में बंधहेतु नहीं हैं।

अब आगे की चार गाथाओं में प्रत्येक गुणस्थान के बंधहेतुओं की व्याख्या को कारण सहित स्पष्ट करते हैं।

पणपन्न मिच्छि हारगदुगूण सासाणि पन्न मिच्छ विणा।
मिस्सदुगकम्मअण विणु तिचत्त मीसे अह छचत्ता ॥५५॥
सदुमिस्सकम्म अजए अविरइकम्मुरलमीसबिकसाए।
मुत्तु गुणचत्त देसे छवीस साहारदु पमत्ते ॥५६॥
अविरइ इगार तिकसायवज्ज अपमत्ति मीसदुगरहिया।
चउवीस अपुव्वे पुण दुवीस अविउव्वियाहारा ॥५७॥
अछहास सोल बायरि सुहुमे दस वेयसंजलणति विणा।
खीणुवसंति अलोभा सजोगि पुव्वुत्त सग जोगा ॥५८॥

शब्दार्थ—पणपन्न—पचपन, मिच्छि—मिथ्यात्व गुणस्थान में, हारगदुग—आहारकद्विक, ऊण—हीन, रहित, सासाणि—सासादन गुणस्थान में, पन्न—पचास, मिच्छ विणा—पांच मिथ्यात्वों के बिना, मिस्सदुग—मिश्रद्विक (औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र), कम्म—कार्मण के बिना, अण—अनन्तानुबंधी, विणु—बिना, तिचत्त—तेतालीस, मीसे—मिश्र गुणस्थान में, अह—और, छचत्ता—छियालीस।

स—सहित, दुमिस्स—मिश्रद्विक (औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र), कम्म—कार्मण योग, अजए—अविरति गुणस्थान में, अविरइ—अविरति, कम्म—कार्मण योग, उरलमीस—औदारिकमिश्र, बिकसाए—दूसरी कषाय (अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क), मुत्तु—छोड़कर, गुणचत्त—उनतालीस, देसे—देशविरति गुणस्थान में, छवीस—

मे नहीं हैं तथा इस गुणस्थान के समय मृत्यु न होने के कारण अपर्याप्त अवस्थाभावी कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र ये तीन योग भी नही होते हैं।[1] इस प्रकार से दूसरे गुणस्थान के पचास बन्धहेतुओं में से सात बन्धहेतु घट जाने से शेष तेतालीस बन्धहेतु तीसरे गुणस्थान मे रहते हैं।

चौथे अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में छियालीस बन्धहेतु हैं। चौथा गुणस्थान अपर्याप्त अवस्था मे भी पाया जाता है, अतएव इसमें अपर्याप्त अवस्थाभावी कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र यह तीन योग सम्भव है। जिससे तीसरे गुणस्थान सम्बन्धी तेतालीस हेतुओं मे इन तीन को मिलाने से कुल छियालीस बन्धहेतु चौथे गुणस्थान में समझना चाहिए।[2]

पाँचवें देशविरति गुणस्थान में उनतालीस बन्धहेतु हैं। इसका कारण यह है कि यह गुणस्थान पर्याप्त अवस्थाभावी है अतः अपर्याप्त अवस्थाभावी कार्मण और औदारिकमिश्र यह दो योग नहीं होते हैं। अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का उदय चौथे गुणस्थान तक ही होता है, आगे नही, इस कारण वह पाँचवे गुणस्थान मे नही पाया जाता है तथा पाँचवा गुणस्थान देशविरति रूप (एकदेश संयम रूप) होने से इसमे त्रस हिंसा का त्याग होने पर त्रस अविरति तो नही है। इस तरह चौथे गुणस्थान सम्बन्धी छियालीस बन्ध-

---

१ 'न सम्ममिच्छो कुणइ काल' इति वचनात् सम्यग्मिथ्यादृष्टेः परलोकगमनाभावाद् औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रद्विकं कार्मणं च न सम्भवन्ति।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८६

२ अविरतसम्यग्दृष्टेः परलोकगमनसम्भवात् पूर्वापनीतमौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रलक्षण द्विकं कार्मणं च पूर्वोक्ताया त्रिचत्वारिंशति पुनः प्रक्षिप्यते ततोऽविरते षट्चत्वारिंशद् बन्धहेतवो भवन्ति।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८६

हेतुओ मे से कार्मण, औदारिकमिश्र, अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क और त्रस अविरति इन सात हेतुओ को कम करने से पाचवें गुणस्थान मे उनतालीस बन्धहेतु रहते है।

त्रसहिंसारूप त्रसकाय अविरति को देशविरति गुणस्थान के बंधहेतुओ मे नही मानने पर प्रश्न होता है कि त्रस अविरति को मात्र सकल्प से त्यागा जा सकता है, आरम्भ से नही, तो यहाँ त्रस-अविरति का त्याग कसे माना जा सकता है ? इसका समाधान यह है कि गृहस्थ के अशक्य परिहार होने से आरम्भ से त्रस अविरति होने पर भी वह अल्प है, अत उसकी यहा विवक्षा नही की है।[1]

देशविरति गुणस्थान के उनतालीस बधहेतुओ मे जो वैक्रियमिश्र काययोग शामिल है, वह अपर्याप्त अवस्थाभावी नही किन्तु वैक्रिय-लब्धिज य है जो पर्याप्त अवस्था मे ही होता है।

छठे प्रमत्तविरत गुणस्थान मे छब्बीस बधहेतु हैं। इसका कारण यह है कि यह गुणस्थान सर्वविरतिरूप होने से शेष ग्यारह अविरतियाँ नही रहती है तथा प्रत्याख्यानावरणचतुष्क का उदय पाँचवे गुणस्थान तक होने से पाँचवे गुणस्थान सम्बन्धी उनतालीस बधहेतुओ म स पद्रह (११+४) घटा देने पर शेष चौबीस रहते हैं। किन्तु इस गुण-स्थान मे चतुर्दश पूर्वधारी मुनि के आहारकलब्धि के प्रयोग द्वारा आहारक शरीर की रचना के समय आहारकद्विक का उदय सम्भव होने से उक्त चौबीस हेतुओ के साथ आहारकद्विक योग को मिलाने पर कुल छब्बीस हेतु छठे गुणस्थान मे होते हैं।

सातवें अप्रमत्तसयत गुणस्थान म चौबीस बधहेतु है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए गाथा मे सकेत किया है—'मीसदुग रहिया'

---

१ गृहिणामशक्यपरिहारत्वेन सत्यप्यारम्भजा त्रसाविरतिन विवक्षितेत्यदोष ।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८६

यानी इस गुणस्थान मे वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र यह दो योग नही होते है। क्योकि वैक्रियमिश्र योग वैक्रिय शरीर के प्रारम्भ और परित्याग के समय तथा आहारकमिश्र आहारक शरीर के प्रारम्भ और परित्याग के समय होता है और उस समय प्रमत्तभाव होने के कारण सातवा गुणस्थान नही होता है। इसलिये छठे गुणस्थान के छब्बीस बंधहेतुओ मे से वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र इन दो योगो को कम करने पर सातवे गुणस्थान मे चौवीस बंधहेतु हैं।

आठवे अपूर्वकरण गुणस्थान मे बाईस बंधहेतु हैं। इस गुणस्थान मे वैक्रिय और आहारक यह दो काययोग नही होते है। इन दोनो योगो के न होने का कारण यह है कि वैक्रिय शरीर वाले को वैक्रिय काययोग और आहारक शरीर वाले को आहारक काययोग होता है और ये शरीर वाले अधिक से अधिक सातवे गुणस्थान के ही अधिकारी होते हैं, आगे के गुणस्थानो के नही। इस कारण से सातवे गुणस्थान के चौवीस बंधहेतुओ मे से इन दो योगो को नही गिनने पर आठवे गुणस्थान मे बाईस बंधहेतु होते है।

नौवे अनिवृत्तिबादर गुणस्थान मे सोलह बंधहेतु हैं। इस गुणस्थान मे हास्यषट्क का उदय नही होता है। क्योकि हास्यषट्क—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा—का उदय आठवे गुणस्थान तक सम्भव है। इसलिये आठवें गुणस्थान के बाईस बंधहेतुओ मे से हास्यषट्क को कम करने पर शेष सोलह बन्धहेतु नौवे गुणस्थान मे होते है—अछहास सोल बायरि।

दसवे सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान मे दस बंधहेतु है—'सुहुमे दस वेय-संजलणति विणा' यानी वेदत्रिक—पुरुष वेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद और संज्वलनत्रिक—क्रोध, मान, माया इनका उदय नौवे गुणस्थान तक होने से इन छह को नौवे गुणस्थान के सोलह हेतुओं मे से कम करने पर शेष दस बन्धहेतु दसवे गुणस्थान मे माने जाते है।

ग्यारहवें उपशातमोह और बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान मे नौ-नौ बधहेतु हैं। क्योंकि सज्वलन लोभ का उदय दसवें गुणस्थान तक ही रहता है। इसलिये सज्वलन लोभ को दसवें गुणस्थान के बधहेतुओ मे से कम करने पर शेष नौ हेतु ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान मे पाये जाते हैं। उन नौ हेतुओ के नाम यह हैं—मनोयोग चतुष्क, वचनयोग चतुष्क और एक औदारिक काययोग।

तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान म सात बधहेतु हैं। जिनके नाम यह है—सत्य मनोयोग, असत्यामृपा मनोयोग, सत्य वचनयोग, असत्यामृपा वचनयोग, औदारिक काययोग, औदारिकमिश्र काययोग तथा कार्मण काययोग। मनोयोगद्विक किसी के द्वारा मन से पूछे गये प्रश्न का मन द्वारा उत्तर देने के समय, वचनयोगद्विक देशना के समय तथा औदारिक काययोग पर्याप्त अवस्था मे तथा केवली समुद्घात के दूसरे छठे और सातव समय मे औदारिकमिश्र काययोग और तीसरे, चौथे, पाचवे समय म कार्मण काययोग पाया जाता है। इसलिये तेरहवें गुणस्थान म सात बधहेतु माने हैं। चौदहवे अयोगिकेवली गुणस्थान मे योग का अभाव होने से बधहेतु का सर्वथा अभाव कहा है।

यहा चौदह गुणस्थानो मे सामान्य से सभी जीवा की अपेक्षा से उत्तर बधहेतु बतलाये ह किन्तु एक जीव की अपेक्षा विचार करें तो इनके ४७१३०१० भग होते हैं। उनमे से प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान मे ३४७७६००, सासादन गुणस्थान म ३८३०४०, मिश्र गुणस्थान मे ३०२४००, अविरति गुणस्थान मे ३८३०४०, देशविरति गुणस्थान मे १६३६८०, प्रमत्तसयत गुणस्थान मे ११८४, अप्रमत्तसयत मे १०२४, अपूर्वकरण मे ८६४, अनिवृत्तिबादर म १४४, सूक्ष्मसपराय गुणस्थान म ६, उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थान मे ६ और सयोगि

केवली गुणस्थान मे ७ भग होते है। अयोगिकेवली गुणस्थान में हेतु न होने से कोई भग नही होता है।

ये सब मिलाकर चौदह गुणस्थानो मे ४७१३०१० भंग होते है, जो वधहेतुओं का अपेक्षाभेद से आपस मे गुणा करने से वनते हैं।

इस प्रकार से गुणस्थानो मे वघहेतुओ का कथन किया गया। अव आगे की गाथा मे गुणस्थान मे वघ का निरूपण करते है।

गुणस्थान में बंध

अपमत्तंता सत्तट्ठ मीस अप्पुव्वबायरा सत्त।
बंधइ छ स्सुहमो एगमुवरिमाऽबंधगाऽजोगी ॥५६॥

शब्दार्थ—**अपमत्तता**—अप्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त, **सत्तट्ठ**—सात या आठ, **मीस**—मिश्र गुणस्थान वाला, **अप्पुव्व**—अपूर्वकरण गुणस्थान वाला, **बायरा**—वादर सपराय गुणस्थान वाला, **सत्त**—सात कर्म, **बंधइ**—वाँधता है, **छ**—छह, **स्सुहमो**—सूक्ष्मसपराय गुणस्थान वाला, **एगं**—एक, **उवरिम**—ऊपर के गुणस्थान वाले, **अबंधगा**—अवन्धक, **अजोगी**—अयोगि गुणस्थान वाला।

गाथार्थ—अप्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त सात अथवा आठ कर्मो का बध होता है। मिश्र, अपूर्वकरण और वादरसपराय गुणस्थान वाले सात कर्मो का, सूक्ष्म सपराय गुणस्थान वाले छह कर्मो का बध करते है। पूर्वोक्त गुणस्थानों के सिवाय शेष ऊपर के (११, १२, १३) गुणस्थान वाले एक कर्म को वाँधते है और अयोगिकेवली गुणस्थान अवन्धक है।

विशेषार्थ—कारण के रहने पर कार्य अवश्य होता है। अतएव गुणस्थानो मे कर्मबध के कारणों को वतलाने के पश्चात् यहाँ कर्म प्रकृतियो के बध को स्पष्ट किया गया है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ मूल प्रकृतियाँ हैं। इनमे से 'अपमत्तता सत्तट्ठ' अप्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त सात या आठ कर्मो का

बंध होता है। अर्थात् तीसरे मिश्र गुणस्थान को छोडकर[1] पहले मिथ्यात्व से लेकर सातवें अप्रमत्तविरत गुणस्थान तक सात अथवा आठ कर्मों का बंध होता है। सात अथवा आठ कर्मों का बंध मानने का कारण यह है कि आयुकर्म का बंध होने के समय तो आठ कर्मों का और उसका बंध न होने के समय सात कर्मों का बंध समझना चाहिए। आयुकर्म के सदैव बंध न होने के कारण को पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि वर्तमान जीवन के तीसरे, नौवें, सत्ताईसवें भाग के प्रथम समय में अथवा जब इस समय में भी परभव सम्बन्धी आयु का बंध न किया जा सके तो वर्तमान आयु के अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर अवश्य ही परभव की आयु का बंध हो जाता है। आयुकर्म के बंध की इसी विशेषता के कारण पहले से सातवें गुणस्थान तक सात या आठ कर्मों का बंध होना माना है।

तीसरे मिश्र, आठवें अपूर्वकरण और नौवें अनिवृत्तिबादर गुणस्थान—इन तीन गुणस्थानों में सात कर्मों का बंध होता है—मीस-अपुव्वबायरा सत्त। इन तीन गुणस्थानों में आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मों का बंध होता है और आयुकर्म के बंध न होने का कारण यह है कि आठवें, नौवें गुणस्थान में परिणाम इतने विशुद्ध हो जाते

---

[1] मिश्र गुणस्थान को छोडने का कारण यह है कि—

ण सम्ममिच्छो कुणइ कालं—मिश्र गुणस्थान में मरण नहीं होता है। गो० जीवकांड गाथा २४ में तीसरे गुणस्थान की विशेषताओं को इस प्रकार बताया है—

सो संजमं ण गिण्हदि देसजमं वा ण बंधदे आउं।
सम्मं वा मिच्छं वा पडिवज्जिय मरदि णियमेण॥

—तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव संयम ग्रहण नहीं करता है। आयुकर्म का बंध नहीं करता है और नियम से सम्यक्त्व या मिथ्यात्व को प्राप्त करके ही मरण करता है। किन्तु इस गुणस्थान में मरण नहीं होता है।

है कि जिससे उनमे आयु वध योग्य परिणाम ही नही रहते है और तीसरे गुणस्थान मे आयुकर्म के वन्ध न होने का कारण उसकी स्वभावगत विशेषता है, जिससे उसमे आयु का वन्ध नही हो पाता है।

दसवे सूक्ष्मसपराय गुणस्थान मे मोहनीय और आयु इन दो कर्मो का वन्ध न होने से छह कर्मो का वन्ध होता है। क्योकि इस गुण-स्थान मे परिणामो के अति विशुद्ध हो जाने से आयु का वन्ध और वादर कपायोदय न होने से मोहनीय कर्म का वन्ध वर्जित किया है।[1]

इस प्रकार से एक से लेकर दस गुणस्थान तक कर्मवन्ध को वतलाने के वाद शेप चार गुणस्थानों के वन्ध का कथन दो विभाग करके किया गया है। पहला विभाग योग वाले ग्यारह, वारह और तेरह इन तीन गुणस्थानो का किया है और दूसरा विभाग योगातीत चौदहवे अयोगिकेवली गुणस्थान का। जिस गुणस्थान तक एक भी कर्मवन्ध का हेतु है उस तक अवश्य ही कर्म का वध होता है। इसलिए ग्यारह, वारह और तेरह इन तीन गुणस्थानो मे मिथ्यात्व, अविरति, कपाय इन बधहेतुओ के क्षय हो जाने से सिर्फ योग यह एक कर्मबध का हेतु रहता है। जिससे इन तीन गुणस्थानो मे कषायोदय सर्वथा न होने से अन्य प्रकृतियो का बध असम्भव है किन्तु योग द्वारा वधयोग्य एक—सातावेदनीय कर्म का वध होता है। जिसका सकेत गाथा मे 'एगमुवरिम' पद से किया गया है। चौदहवे अयोगिकेवली गुणस्थान मे वंधहेतुओ का सर्वथा अभाव होने से किसी भी कर्म का वध नही होता है।

उक्त कथन का साराश यह है कि पहले, दूसरे, चौथे, पाँचवे, छठे

१　सूक्ष्मसम्परायो मोहनीयायुर्वर्जनानि पट् कर्माणि वध्नाति, मोहनीयवधस्य वादरकपायोदयनिमित्तत्वात्, तस्य च तदभावात्, आयुर्वन्धाभावस्त्वति-विशुद्धत्वादवसेय ।　—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८७

और सातवें गुणस्थान में सात अथवा आठ कर्मों का, तीसरे, आठवें, नौवें गुणस्थान में सात कर्मों का, दसवें गुणस्थान में छह कर्मों का, ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थान में एक कर्म का बंध होता है और चौदहवें गुणस्थान में बंधहेतु न रहने से किसी भी कर्म का बंध नहीं होता है, चौदहवाँ गुणस्थान बंधातीत है।

इस प्रकार से गुणस्थानों में कर्मबंध का कथन करने के बाद आगे की गाथा में सत्ता और उदय को बतलाते हैं।

गुणस्थानों में सत्ता और उदय

आसुहुम सत्तुदए अट्ठ वि मोह विणु सत्त खीणम्मि।
चउ चरिमदुगे अट्ठ उ संते उवसंति सत्तुदए ॥६०॥

शब्दार्थ—आसुहुम—सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान पर्यन्त, सत्तुदए—सत्ता तथा उदय में, अट्ठ—आठों कर्म, वि—और, मोहविणु—मोहनीय कर्म के सिवाय, सत्त—सात कर्म, खीणम्मि—क्षीणमोह गुणस्थान में, चउ—चार प्रकृतियाँ, चरिमदुगे—अंतिम दो गुणस्थानों में, अट्ठ—आठ, उ—तथा, संते—सत्ता में, उवसंति—उपशांत मोह गुणस्थान में, सत्तुदए—सात प्रकृतियों का उदय।

गाथार्थ—सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक सत्ता और उदय में आठों कर्म प्रकृतियाँ होती हैं। मोहनीय कर्म के सिवाय सात कर्म प्रकृतियाँ क्षीणमोह गुणस्थान में सत्ता व उदय में हैं। अंतिम दो गुणस्थान में चार कर्म प्रकृतियाँ सत्ता व उदय में होती हैं और उपशांतमोह गुणस्थान में आठ कर्म प्रकृतियाँ सत्ता में एवं सात कर्म प्रकृतियाँ उदय में होती हैं।

विशेषार्थ—गाथा में चौदह गुणस्थानों में से प्रत्येक गुणस्थान में कर्म प्रकृतियों की सत्ता और उदय को बतलाया है कि—

आसुहुम सत्तुदए अट्ठ' सूक्ष्मसंपराय नामक दसवें गुणस्थान तक पहले से लेकर आठों कर्म सत्तागत भी हैं और उदयगत भी।

बारहवे क्षीणमोह गुणस्थान मे मोहनीय कर्म का सर्वथा अभाव हो जाने से मोहनीय कर्म के सिवाय शेप सात कर्मो की सत्ता और उदय माना है।

अन्त के दो गुणस्थानो—सयोगिकेवली और अयोगिकेवली मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अतराय इन चार घाति कर्मो का क्षय हो जाने से सिर्फ चार अघाति कर्म—वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र सत्तागत और उदयमान रहते है। इसीलिये इन दोनो गुणस्थानो मे चार कर्मो की सत्ता और उदय माना है।

ग्यारहवे उपशातमोह गुणस्थान की यह विशेपता है कि इसमे मोहनीय कर्म सत्तागत है किन्तु उदयमान नही। इसीलिये शेप तेरह गुणस्थानो मे कर्मो की सत्ता और उदय को बतलाने के पश्चात् ग्यारहवे गुणस्थान मे सत्ता व उदय बतलाने के लिये गाथा मे कहा है—'अट्ठ उ सते उवसति सत्तुदए' ग्यारहवे उपशातमोह गुणस्थान मे सत्ता तो आठो कर्मो की है किन्तु उदय सात कर्मो का। अर्थात् ग्यारहवे गुणस्थान मे आठ कर्मो की सत्ता और सात कर्मो का उदय होता है।

साराश यह है कि पहले ग्यारह गुणस्थानो मे आठ कर्मो का, बारहवें मे सात का और तेरहवे, चौदहवे मे चार का सत्तास्थान है। लेकिन उदयस्थान पहले दस गुणस्थानो मे आठ का, ग्यारहवे, बारहवे मे सात का और तेरहवे, चौदहवे मे चार का है।

इस प्रकार से गुणस्थानो मे कर्मो की सत्ता और उदयस्थानो का कथन करने के पश्चात आगे गुणस्थानो मे उदीरणा का निरूपण करते है।

गुणस्थानों में उदीरणा तथा अल्पबहुत्व

उइरंति पमत्तंता सगट्ठ मीसट्ठ वेयआउ विणा।
छग अपमत्ताइ तओ छ पंच सुहुमो पणुवसंतो ॥६१॥

शब्दार्थ—उइरंति—उदीरणा करते हैं, पमत्तता—प्रमत्त गुणस्थान तक, सगट्ठ—सात अथवा आठ, मीस—मिश्र गुणस्थान वाला, अट्ठ—आठ, वेय—वेदनीय कर्म, आउ—आयु कर्म, विणा—रहित, बिना, छग—छहकर्म की, अपमत्ताइ—अप्रमत्त आदि तीन गुणस्थान वाले, तओ—तदनन्तर, उसके बाद, छ—छह, पंच—पांच, सुहुमा—सूक्ष्मसम्पराय वाला, पण—पांच, उवसंतो—उपशान्तमोह वाला।

गाथार्थ—प्रमत्त गुणस्थान तक के जीव सात अथवा आठ कर्म की उदीरणा करते हैं। मिश्र गुणस्थान वाला आठ कर्म की, अप्रमत्त आदि तीन गुणस्थान वाले वेदनीय और आयु के बिना छह कर्म की और उसके बाद सूक्ष्मसम्पराय वाला छह अथवा पांच की और उपशान्तमोह वाला पांच कर्म की उदीरणा करता है।

विशेषार्थ—इस गाथा में पहले से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक कर्मों की उदीरणा का कथन किया है। गुणस्थानों में कर्मों की उदीरणा का विचार समझने के लिये यह ध्यान रखना चाहिये कि उदयमान कर्म की ही उदीरणा होती है, अनुदयमान की नहीं तथा जब उदयमान कर्म की स्थिति आवलिका प्रमाण शेष रहती है, उस समय उसकी उदीरणा रुक जाती है।[1]

अब गुणस्थानों में कर्मों की उदीरणा का विचार करते हैं कि 'उइरंति पमत्तता सगट्ठ'—तीसरे मिश्र गुणस्थान में कर्मों की उदीरणा का अलग से कथन किया गया है, अतः तीसरे गुणस्थान को छोड़कर पहले मिथ्यात्व से लेकर छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान पर्यन्त पांच गुणस्थानों में सात अथवा आठ कर्मों की उदीरणा होती है। सात अथवा आठ कर्मों की उदीरणा मानने का कारण यह है कि आयुकर्म की

---

१ आवलिकावशेषस्य कर्मण उदीरणाया अभावात् तथास्वाभाव्यात्।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८८

उदीरणा न होने के समय सात कर्म की और होने पर आठ कर्म की उदीरणा समझना चाहिये।[1] आयुकर्म की उदीरणा उस समय रुक जाती है जिस समय वर्तमान भव की आयु आवलिका प्रमाण शेष रहती है। यद्यपि वर्तमान भव की आयु के आवलिका मात्र बाकी रहने के समय परभव सम्बन्धी आयु की स्थिति आवलिका से अधिक रहती है किन्तु उसके अनुदयमान होने से उसकी उदीरणा नही होती है।

तीसरे मिश्र गुणस्थान मे आठ कर्म की उदीरणा मानी जाती है—'मीसट्ठ।' क्योकि इस गुणस्थान मे मृत्यु नही होती है। इसलिये आयु की अन्तिम आवलिका मे जबकि उदीरणा रुक जाती है, यह गुणस्थान सम्भव नही है। जिससे आठ कर्मो की उदीरणा मानी जाती है।[2]

'छग अपमत्ताइ'—अप्रमत्तसयत आदि तीन गुणस्थानो यानी सातवे, आठवे और नौवें गुणस्थान मे छह कर्मो की उदीरणा होती है। अनुदीर्ण कर्म है—वेदनीय और आयु। इन तीन गुणस्थानो मे अति विशुद्ध अध्यवसाय होने के कारण उदीरणायोग्य आवश्यक अध्यवसायो का अभाव होने से वेदनीय और आयुकर्म की उदीरणा नही होती है।[3]

दसवे सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान मे छह अथवा पाँच कर्मो की उदी-

---

१ मिथ्यादृष्टिप्रभृतय प्रमत्तान्ता यावद् अद्याप्यनुभूयमानभवायुरावलिकाशेष न भवति तावत् सर्वेऽप्यमी निरन्तरमष्टावपि कर्माण्युदीरयन्ति। आवलिकावशेषे पुनरनुभूयमाने भवायुपि सप्तैव।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८८

२ सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके वर्तमानस्य सत आयुष आवलिकावशेषत्वाभावात्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८८

३ तेपामतिविशुद्धतया वेदनीयायुषोरुदीरणायोग्याध्यवसायस्थानाभावात्।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८८

रणा होती है—'छ पंच सुहुमो'—वेदनीय और आयुकर्म की उदीरणा न होने के समय छह कर्म की और उक्त दो के साथ मोहनीय कर्म की भी उदीरणा न होने के समय पांच की समझना चाहिये। दसवें गुणस्थान की अन्तिम आवलिका में मोहनीय कर्म की उदीरणा रुक जाती है। इसलिये उस समय उसकी स्थिति आवलिका प्रमाण शेष रहती है।

ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थान में वेदनीय, मोहनीय और आयु इन तीन कर्मों की उदीरणा न होने के कारण पांच की उदीरणा होती है। इस गुणस्थान में मोहनीय की उदीरणा का निषेध इसलिये किया है कि 'वेद्यमानमेवोदीर्यते'—उदयप्राप्त कर्म की ही उदीरणा होती है तथा अति विशुद्ध परिणाम होने से वेदनीय और आयु कर्म की भी उदीरणा सम्भव नहीं है।

इस प्रकार से एक से ग्यारह गुणस्थान तक उदीरणा बतलाकर अब आगे की दो गाथाओं में बारह, तेरह और चौदह इन तीन गुणस्थानों में उदीरणा और गुणस्थानों में अल्पबहुत्व का कथन करते हैं।

पण दो खीण दु जोगी णुदीरगु अजोगि थेव उवसंता।
संखगुण खीण सुहुमा नियट्टिअपुव्व सम अहिया ॥६२॥
जोगि अपमत्त इयरे संखगुणा देससासणामीसा।
अविरय अजोगिमिच्छा असंख चउरो दुवे णंता ॥६३॥

शब्दार्थ—पण दो—पांच तथा दो, खीण—क्षीणमोह गुणस्थान वाला, दु—दो, जोगी—सयोगिकेवली गुणस्थान वाला, अणुदीरगु—अनुदीरक, अजोगी—अयोगिकेवली, थेव—थोड़ा, उवसंता—उपशान्तमोह गुणस्थान वाले, संखगुण—संख्यातगुणा, खीण—क्षीणमोह गुणस्थान वाले, सुहुम—सूक्ष्मसंपराय वाले, अनियट्टि—

अनिवृत्तिवादर वाले, अपुव्व—अपूर्वकरण वाले, सम—समान, अहिया—अधिक (विशेपाधिक)।

जोगि—सयोगिकेवली गुणस्थान वाले, अपमत्त—अप्रमत्त गुणस्थान वाले, इयरे—इतर, प्रमत्त गुणस्थान वाले, सखगुण—सख्यातगुणा, देश—देशविरति वाले, सासणा—सासादन गुणस्थान वाले, मीसा—मिश्र गुणस्थान वाले, अविरय—अविरति गुणस्थान वाले, अजोगि—अयोगिकेवली गुणस्थान वाले, मिच्छा—मिथ्यात्व गुणस्थान वाले, असख—असख्यातगुणा, चउरो—चार, दुवे—दो, णंता—अनतगुणा।

गाथार्थ—क्षीणमोह गुणस्थान वाले पाच अथवा दो कर्म की, सयोगिकेवली दो कर्म की उदीरणा करते है। अयोगि-केवली गुणस्थान अनुदीरक है।

उपशान्तमोह गुणस्थानवर्ती जीव सबसे थोड़े है, क्षीण-मोह गुणस्थान वाले सख्यातगुणे तथा सूक्ष्मसम्पराय, अनि-वृत्तिवादर और अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती आपस मे तुल्य तथा क्षीणमोह गुणस्थान वालो से विशेपाधिक है।

सयोगिकेवली, अप्रमत्त और प्रमत्त गुणस्थान वाले सख्यातगुणे है। देशविरति, सासादन, मिश्र और अविरति यह चार गुणस्थान वाले असख्यातगुणे तथा अयोगिकेवली और मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती यह दो अनन्तगुणे है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओ मे पूर्व गाथा मे वताये गये गुणस्थानो से शेप रहे वारह, तेरह और चौदह इन तीन गुणस्थानो मे उदीरणा का कथन करने के वाद चौदह गणस्थानो के अल्पवहुत्व का निरूपण किया है।

वारहवे गुणस्थान मे कर्मो की उदीरणा के लिये कहा है—'पण दो खीण' यानी क्षीणमोह गुणस्थान मे पाँच या दो की उदीरणा होती है। इस गुणस्थान मे आयु, वेदनीय और मोहनीय इन तीन के

सिवाय शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण, नाम, गोत्र और अंतराय इन पाँच कर्मों की उदीरणा होती रहती है लेकिन अंतिम आवलिका में जब ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय की स्थिति आवलिका प्रमाण शेष रहती है तब उनकी उदीरणा रुक जाती है और शेष नाम व गोत्र दो की उदीरणा सम्भव है। इसीलिये बारहवें गुणस्थान में पाँच अथवा दो कर्म की उदीरणा होने का कथन किया है।

तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान में सिर्फ नाम और गोत्र इन दो कर्मों की उदीरणा मानी है। इसका कारण यह है कि इस गुणस्थान में चार घाती कर्मों का क्षय हो जाने पर चार अघाती कर्म शेष रहते हैं और इन चार कर्मों में भी आयु व वेदनीय कर्म की उदीरणा तो बारहवें गुणस्थान में ही रुकी हुई है। इसीलिये उनके कम करने पर इस गुणस्थान में दो कर्मों की उदीरणा मानी गई है।

चौदहवाँ गुणस्थान अनुदीरक है यानी किसी भी कर्म की उदीरणा नहीं होती है। क्योंकि योग के सद्भाव में ही उदीरणा हो सकती है और इस गुणस्थान में योग का अभाव होने से उदीरणा का भी अभाव है।

सारांश यह है कि तीसरे गुणस्थान में आठ कर्मों की ही उदीरणा होती है। पहले, दूसरे, चौथे, पाँचवें और छठे इन पाँच गुणस्थानों में सात या आठ कर्मों की, सातवें गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान की एक आवलिका शेष रहे तब तक छह की और दसवें की अंतिम आवलिका में बारहवें गुणस्थान की अंतिम आवलिका के शेष रहने तक पाँच की और बारहवें की चरम आवलिका में तेरहवें गुणस्थान के अंत तक दो कर्मों की उदीरणा होती है। चौदहवाँ गुणस्थान योग के अभाव के कारण उदीरणा से रहित है।

गुणस्थानों में उदीरणा का निर्देश करके अब अल्पबहुत्व बतलाते हैं।

गुणस्थानो में अल्पबहुत्व

गुणस्थानो मे अल्पबहुत्व को बतलाते हुए सबसे पहले कहा है कि 'थेव उवसता'—यानी ग्यारहवे गुणस्थान वाले जीव अन्य प्रत्येक गुणस्थान वालो से अल्प है। क्योकि वे प्रतिपद्यमान (किसी विवक्षित समय मे उस अवस्था को पाने वाले) चौवन और पूर्व प्रतिपन्न (किसी विवक्षित समय के पहले उस अवस्था को पाये हुए) एक, दो या तीन आदि पाये जाते हैं।[1]

बारहवे क्षीणमोह गुणस्थान वाले, ग्यारहवे गुणस्थान वालो से संख्यातगुणे है। क्योकि बारहवे गुणस्थान वाले प्रतिपद्यमान उत्कृष्ट एकसौ आठ और पूर्वप्रतिपन्न शतपृथक्त्व (दो सौ से नौ सौ तक) पाये जाते है।

ग्यारहवाँ गुणस्थान उपशमश्रेणि का और बारहवां गुणस्थान क्षपकश्रेणि का है और उपशम श्रेणि के प्रतिपद्यमान जीव उत्कृष्ट चौवन और पूर्वप्रतिपन्न एक, दो, तीन आदि तथा क्षपकश्रेणि के प्रतिपद्यमान उत्कृष्ट एकसौ आठ और पूर्वप्रतिपन्न शतपृथक्त्व माने गये है। इसीलिये ग्यारहवे गुणस्थान वाले अल्प और बारहवे गुणस्थान वाले सख्यातगुणे माने गये है।

दसवे सूक्ष्मसपराय, नौवे अनिवृत्तिबादर और आठवे अपूर्वकरण गुणस्थान वाले उपशम और क्षपक दोनो श्रेणियो मे पाये जाते है। इसलिये ये तीनों गुणस्थान वाले जीव आपस मे समान है किन्तु बारहवे गुणस्थान वालो की अपेक्षा विशेषाधिक है।

तेरहवे सयोगिकेवली गुणस्थान वाले आठवे गुणस्थान वालो

---

१ उपशान्तमोहगुणस्थानवर्तिनो जीवा, यतस्ते प्रतिपद्यमानका उत्कर्षतोऽपि चतु पचाशत्प्रमाणा एव प्राप्यन्त इति।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८९

की अपेक्षा संख्यातगुणे हैं। क्योंकि ये जघन्य दो करोड और उत्कृष्ट नौ करोड होते हैं।

तेरहवें गुणस्थान वालों से सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान वाले संख्यातगुणे हैं। क्योंकि ये कोटिसहस्रपृथक्त्व प्रमाण (दो हजार करोड से नौ हजार करोड तक) हो जाते हैं। सातवें गुणस्थान से छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान वाले संख्यातगुणे हैं। क्योंकि प्रमाद भाव बहुत समय तक बहुतों का पाया जाता है।

छठे गुणस्थान की अपेक्षा पाँचवें देशविरति गुणस्थान वाले असंख्यातगुणे हैं। क्योंकि असंख्यात संज्ञी तिर्यंच भी देशविरति गुणस्थान को प्राप्त करने वाले होते हैं। पाँचवें गुणस्थान वालों से दूसरे सासादन गुणस्थान वाले असंख्यातगुणे रहे हैं। क्योंकि देशविरति गुणस्थान तो मनुष्य और तिर्यंच इन दो गतियों में ही पाया जाता है किन्तु सासादन सम्यक्त्व तो चारों गतियों में होना सम्भव है। इसीलिए दूसरे गुणस्थान वालों को पाँचवें गुणस्थान वालों की अपेक्षा असंख्यातगुणा कहा गया है।

दूसरे गुणस्थान वालों की अपेक्षा तीसरे मिश्र गुणस्थान वाले असंख्यातगुने हैं। क्योंकि मिश्रदृष्टि का कालमान सासादन सम्यक्त्व की अपेक्षा असंख्यातगुणा अधिक है। इसलिये मिश्रदृष्टि वालों को सासादन सम्यक्त्वियों से असंख्यातगुणा कहा है। तीसरे गुणस्थान की अपेक्षा चौथे अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान वाले असंख्यात गुणे हैं। क्योंकि यह गुणस्थान चारों गतियों में सदा ही पाया जाता है।

चौदहवें अयोगिकेवली गुणस्थान वाले चौथे गुणस्थान वालों से अनन्तगुणे हैं। इस गुणस्थान का समय यह है कि यद्यपि भवस्थ अयोगि केवली ... (शतपृथक्त्व प्रमाण) ही हैं

लेकिन सिद्ध (अभवस्थ अयोगि) अनत है। इसीलिये अयोगिकेवलियो को चौथे गुणस्थान वालो से अनन्तगुणा कहा है।[1]

चौदहवे गुणस्थान वालो से भी पहले मिथ्यात्व गुणस्थान वाले अनन्तगुणे है। क्योकि साधारण वनस्पतिकायिक जीव सिद्धो से भी अनन्तगुणे है और वे सभी मिथ्यादृष्टि है। इसी से मिथ्यादृष्टि वाले जीव चौदहवे गुणस्थान वालो से अनन्तगुणे कहे हैं।

ऊपर कहा गया अल्पबहुत्व उत्कृष्ट सख्या की अपेक्षा से समझना चाहिये। क्योकि जघन्य सख्या के समय जीवों का प्रमाण उपर्युक्त अल्पबहुत्व के विपरीत भी हो जाता है। जैसे कि कभी ग्यारहवें गुणस्थान वाले बारहवे गुणस्थान वालो से अधिक भी हो जाते है।

पहला, चौथा, पाचवा, छठा, सातवां और तेरहवा ये छह गुणस्थान सदा पाये जाते है और शेप आठ गुणस्थान—दूसरा, तीसरा, आठवा, नौवा, दसवा, ग्यारहवा, बारहवा और चौदहवां कभी पाये जाते है और कभी नही भी पाये जाते है। तब भी उनमे वर्तमान जीवो की सख्या कभी जघन्य और कभी उत्कृष्ट रहती है।

गुणस्थानो मे जीवस्थान आदि का विवरण पृष्ठ ३२१ की तालिका मे दिया गया है।

इस प्रकार से गुणस्थानो मे अल्पबहुत्व का कथन करने के पश्चात् अब गुणस्थानो के वर्ण्य विपयो मे से भावो का वर्णन करते है। सर्वप्रथम भावो के नाम और उनके भेदो को बतलाते है।

भावों के नाम और भेद

उवसमखयमीसोदयपरिणामा दु नव ठार इगवीसा।
तियभेय सन्निवाइय सम्मं चरण पढम भावे ॥६४॥

---

१ तेभ्योऽप्ययोगिकेवलिनो भवस्थाभवस्थभेदभिन्ना अनन्तगुणा, सिद्धानामनन्तत्वात्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८६

गुणस्थानों में जीवस्थान आदि अल्पबहुत्व पर्यन्त का विवरण

क्रम संख्या	गुणस्थान	जीवस्थान	योग	उपयोग	लेश्या	मूलबंधहेतु	उत्तरबंधहेतु	मिथ्यात्व	अविरति	कषाय	योग	बंध प्रकृति	उदय प्रकृति	उदीरणा प्रकृति	सत्ता प्रकृति	अल्पबहुत्व
१	मिथ्यात्व	१४	१३	५	६	४	५५	५	१२	२५	१३	७/८	८	७/८	८	अनन्तगुणा
२	सासादन	७	१३	५	६	३	५०	०	१२	२५	१३	७/८	८	७/८	८	असंख्यगुणा
३	मिश्र	१	१०	६	६	३	४३	०	१२	२१	१०	७	८	८	८	"
४	अविरति	२	१३	६	६	३	४६	०	१२	२१	१३	७/८	८	७/८	८	"
५	देशविरति	१	११	६	६	२	३९	०	११	१७	११	७/८	८	७/८	८	"
६	प्रमत्तसंयत	१	१३	७	६	२	२६	०	०	१३	१३	७/८	८	७/८	८	संख्यातगुणा
७	अप्रमत्तसंयत	१	११	७	३	२	२४	०	०	१३	११	७/८	८	६	८	"
८	अपूर्वकरण	१	९	७	१	२	२२	०	०	१३	९	७	८	६	८	तुल्य
९	अनिवृत्तिकरण	१	९	७	१	२	१६	०	०	७	९	७	८	६	८	"
१०	सूक्ष्मसंपराय	१	९	७	१	२	१०	०	०	१	९	६	८	६/५	८	विशेषाधिक
११	उपशान्तमोह	१	९	७	१	१	९	०	०	०	९	१	७	५	८	सबसे कम
१२	क्षीणमोह	१	९	७	१	१	९	०	०	०	९	१	७	५/२	८	संख्यातगुणा
१३	सयोगिकेवली	१	७	२	१	१	७	०	०	०	७	१	४	२	४	"
१४	अयोगिकेवली	१	०	२	०	०	०	०	०	०	०	०	४	०	४	अनन्तगुणा

शब्दार्थ—उवसम—औपशमिक, खय—क्षायिक, मीस—मिश्र (क्षायोपशमिक), उदय—औदयिक, परिणामा—पारिणामिक भाव, दु—दो, नव—नौ, ठार—अठारह, इगवीसा—इक्कीस, तिय—तीन, भेय—भेद, सन्निवाइय—सान्निपातिक, सम्मं—सम्यक्त्व, चरणं—चारित्र, पढम भावे—प्रथम भाव मे (औपशमिक भाव मे)।

गाथार्थ—औपशमिक, क्षायिक, मिश्र (क्षायोपशमिक) औदयिक, पारिणामिक इन पाँच भावो के क्रमशः दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं। छठा भाव सान्निपातिक है। सम्यक्त्व और चारित्र यह प्रथम भाव के दो भेद है।

विशेषार्थ—गाथा मे जीव के भाव दिखाये हैं। ये मूल भाव पाँच है—१ औपशमिक, २ क्षायिक, ३ क्षायोपशमिक, ४ औदयिक, ५ पारिणामिक।[1] इनको जीव के भाव कहने का कारण यह है कि जीव औपशमिक आदि भावों सहित द्रव्य है यानी ये जीव के असाधारण धर्म है।[2]

भावो के उक्त क्रम के विषय मे जिज्ञासु का प्रश्न है कि औदयिक भाव तो निगोद से लेकर समस्त ससारी जीवो मे पाया जाता है और औपशमिक तो कुछ एक को ही होता है। अतः औपशमिक के पहले औदयिक भाव को रखना चाहिये था। इसका समाधान यह है कि जीव के ऐसे स्वरूप को बताना चाहिये जो असाधारण हो। क्योकि असाधारण स्वरूप के द्वारा ही जीव की अन्य द्रव्यो से भिन्नता बतलाई जा सकती है। इसीलिये प्रारम्भ मे औदयिक आदि को ग्रहण न करके सबसे पहले औपशमिकादि भावों का क्रम रखा है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि औदयिक और पारिणामिक भाव—ये दो भाव

---

१ औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च। —तत्त्वार्थसूत्र २।१

२ किं जीवा ? उवसमभाइएहिं भावेहिं सजुय दव्व। —पंचसग्रह २।२

तो अजीव द्रव्य मे भी पाये जाते है जिससे उन भावो को प्रारम्भ मे ग्रहण नही किया है। क्षायिक भाव ओपशमिक भाव पूवक ही हो सकता है, क्योकि कोई भी जीव उपशम भाव को प्राप्त किये विना क्षायिक भाव प्राप्त करता ही नही है। अनादि मिथ्यादृष्टि पहली बार उपशम सम्यक्त्व को ही प्राप्त करता है, अत क्षायिक को प्रारम्भ मे नही रखा है। क्षायोपशमिक भाव औपशमिक भाव से अत्यन्त भिन्न नही है। इसीलिये प्रारम्भ मे औपशमिक भाव को ग्रहण किया है।

औपशमिक आदि पाचो भावो के लक्षण इस प्रकार हैं—

१ औपशमिक भाव—आत्मा मे कर्म की निज शक्ति का कारणवश प्रगट न होना उपशम है।[1] अथवा प्रदेश और विपाक दोनो प्रकार के कर्मोदय का रुक जाना उपशम है। उपशम से होने वाले भाव को औपशमिक भाव कहते हैं। औपशमिक भाव सादि-सान्त है।

२ क्षायिक भाव—कम के आत्यन्तिक क्षय से प्रगट होने वाला भाव क्षायिक भाव है।[2] यह भाव सादि अनन्त है।

३ क्षायोपशमिक भाव—कर्मों के क्षयोपशम से प्रगट होने वाले भाव को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। क्षयोपशम एक प्रकार की आत्मिक शुद्धि है जो कम के एक अश का प्रदेशोदय द्वारा क्षय होते रहने पर प्रगट होती है। यह विशुद्धि वैसी ही मिश्रित होती है जसे

---

१ (क) आत्मनि कमण स्वशक्ते कारणवशादनुद्भूतिरुपशम ।

—सर्वार्थसिद्धि टीका, २।१

(ख) तत्रोपशमनमुपशम —विपाकप्रदेशरूपतया द्विविधस्याप्युदयस्य विष्कम्भण स एव तेन वा निर्वृत्त औपशमिक ।

—चतुथ कमग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १८६

२ (क) क्षय —कमणोऽत्यन्तोच्छेद स एव तेन वा निर्वृत्त क्षायिक ।

—चतुथ कमग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १९०

(ख) क्षयो निवृत्तिरात्यन्तिकी।

—तत्त्वाथ राज० २।१

धोने से मादक शक्ति के कुछ क्षीण हो जाने पर और कुछ रह जाने पर कोदो की शुद्धि।

वर्तमान काल मे सर्वघाती स्पर्धको का उदयाभावी क्षय होने से और आगामी काल की अपेक्षा उन्ही का सदवस्था रूप उपशम होने से तथा देशघाती स्पर्धको का उदय रहते हुए क्षायोपशमिक भाव होता है। अर्थात् कर्म के उदयावलि-प्रविष्ट मन्द रस स्पर्धक का क्षय और अनुदयमान रस स्पर्धक की सर्वघातिनी विपाक शक्ति का निरोध या देशघाति रूप मे परिणमन व तीव्र शक्ति का मन्द शक्ति रूप मे परिणमन (उपशमन) क्षयोपशम है।

यद्यपि यहाँ कुछ कर्मो का उदय भी विद्यमान रहता है किन्तु उसकी शक्ति अत्यन्त क्षीण हो जाने के कारण जीव के गुण को घातने मे समर्थ नही होता है। पूर्ण शक्ति के साथ उदय मे न आकर शक्ति-क्षीण होकर उदय मे आना ही यहाँ क्षय या उदयाभावी क्षय कहलाता है और सत्ता वाले सर्वघाती कर्मो का अकस्मात उदय मे न आना ही उनका सदवस्थारूप उपशम है। यद्यपि क्षीणशक्ति या देशघाती कर्मो का उदय प्राप्त होने की अपेक्षा यहाँ औदयिक भाव भी कहा जा सकता है, किन्तु गुण के प्रगट होने वाले अश की अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव ही कहते है।

४. औदयिक भाव—कर्मो के उदय से होने वाले भाव को औदयिक भाव कहते है। कर्मो की शुभाशुभ प्रकृतियो के विपाक का अनुभव करना उदय है।[1]

५. पारिणामिक भाव—जिसके कारण मूल वस्तु में किसी प्रकार का

---

१ (क) कर्मणामुदयादुत्पन्नो गुण औदयिकः। —**धवला १।१,१,८।१६१।१**

(ख) उदय —शुभाशुभप्रकृतीना विपाकतोऽनुभवन स एव तेन वा निर्वृत्त औदयिक। —**चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १६०**

परिवर्तन न हो, किन्तु स्वभाव मे ही परिणत होते रहना पारिणामिक भाव है अथवा कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम की अपेक्षा न रखने वाले द्रव्य की स्वभावभूत अनादि पारिणामिक शक्ति से ही आविर्भूत भाव को पारिणामिक भाव कहते हैं।

इन औपशमिक आदि पारिणामिक पर्यन्त पाचो भावो के क्रमश दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं। अर्थात् औपशमिक के २ भेद, क्षायिक के ९ भेद, क्षायोपशमिक के १८ भेद, औदयिक के २१ भेद और पारिणामिक के ३ भेद है।[1] कुल मिलाकर ५३ भेद होते हैं।

इस प्रकार से मूल मे पाच भाव हैं और उनके क्रमश दो, नौ, अठारह आदि भेदो के कारण ५३ भेद हो जाते हैं। इनके सिवाय जीव मे कुछ ऐसे भाव भी पाये जाते हैं जो दो या दो से अधिक मिले हुए होते हैं। ये सान्निपातिक भाव है। अर्थात् एक एक भाव को मूल भाव और दो या दो से अधिक मिले हुए भावो को सान्निपातिक भाव कहते हैं।

मूल भावो के नाम और उनके स्वरूप का कथन करने के बाद उनके उत्तर भेदो को बतलाते हैं। पहले भाव औपशमिक के दो उत्तर भेद—१ औपशमिक सम्यक्त्व और २ औपशमिक चारित्र हैं[2]—सम्म चरण पढम भावे।

१ अनन्तानुबधी कषाय चतुष्क और दर्शनमोहनिक कुल सात प्रकृतिया के उपशम से जो तत्त्व रुचिव्यजक आत्म-परिणाम प्रगट होता है, वह औपशमिक सम्यक्त्व है।

२ चारित्र मोहनीय की पच्चीस प्रकृतिया के उपशम से व्यक्त होने वाले स्थिरतात्मक परिणाम को औपशमिक चारित्र कहते हैं।

---

१ द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम्। —तत्त्वार्थसूत्र २।२

२ सम्यक्त्वचारित्रे। —तत्त्वार्थसूत्र २।३

अब आगे की गाथा मे क्षायिक और क्षायोपशमिक भावों के भेदों के नाम बतलाते हैं—

बीए केवलजुयलं सम्म दाणाइलद्धि पण चरणं।
तइए सेसुवओगा पण लद्धी सम्म विरइदुगं ॥६५॥

शब्दार्थ—बीए—दूसरा (क्षायिकभाव), केवलजुयल—केवल-युगल, केवलद्विक (केवलज्ञान और केवलदर्शन), सम्मं—सम्यक्त्व, दाणाई—दानादि, लद्धी—लब्धि, पण—पांच, चरणं—चारित्र, तइए—तीसरा (क्षायोपशमिक भाव), सेस—बाकी के, उवओगा—उपयोग, पण लद्धी—पांच लब्धि, सम्म—सम्यक्त्व, विरइदुग—विरतिद्विक (देशविरति और सर्वविरति)।

गाथार्थ—दूसरे (क्षायिक) भाव के केवलद्विक, सम्यक्त्व, दानादि पाँच लब्धियाँ और चारित्र यह भेद जानना चाहिए। तीसरे (क्षायोपशमिक) भाव के केवलद्विक के सिवाय शेष दस उपयोग, पाँच लब्धियाँ, सम्यक्त्व और विरतिद्विक यह भेद हैं।

विशेषार्थ—गाथा में क्षायिक भाव के नौ और क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेदों के नाम बताये हैं।

क्षायिक भाव के नाम इस प्रकार हैं—१ केवलज्ञान, २ केवलदर्शन, ३ सम्यक्त्व, ४ दान, ५ लाभ, ६ भोग, ७ उपभोग, ८ वीर्य, ९ चारित्र।[1] इनमें से केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण कर्म के सर्वथा क्षय से केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो भाव प्रगट होते हैं।[2] दर्शनमोहनीय कर्म की सात प्रकृतियों (अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क तथा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व) के क्षय से उत्पन्न

१ ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च। —तत्त्वार्थसूत्र २।४

२ केवलज्ञानावरणक्षयभूतत्वेन क्षायिक केवलज्ञान, केवलदर्शनावरणक्षयसम्भूतं क्षायिक केवलदर्शनम्। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १९०

होने वाले तत्त्व रुचि रूप आत्मा के गुण को क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य इन पाच प्रकार के अन्तराय कर्म के आत्यन्तिक क्षय से उत्पन्न क्रमश क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य भाव है।[1] चारित्रमोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय से उत्पन्न यथाख्यात चारित्र रूप परिणाम को क्षायिक चारित्र कहते हैं।[2]

क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेदो के लिये गाथा में सकेत दिया है कि 'तइए सेसुवओगा पण लद्धी सम्म विरइदुग'—यानी बारह उपयोगो मे से केवलद्विक उपयोगो को छोडकर शेष दस उपयोग, दानादि पाच लब्धियाँ, सम्यक्त्व और विरतिद्विक—देशविरति और सर्वविरति, ये क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद हैं। जिनके नाम क्रमश इस प्रकार हैं—

(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनपर्यायज्ञान, (५) मति अज्ञान, (६) श्रुत-अज्ञान, (७) विभगज्ञान (अवधि-अज्ञान), (८) चक्षुदर्शन, (९) अचक्षुदर्शन, (१०) अवधिदर्शन, (११) दान, (१२) लाभ, (१३) भोग, (१४) उपभोग, (१५) वीर्य, (१६) सम्यक्त्व, (१७) चारित्र—सर्वविरति, (१८) सयमासयम—देशविरति।[3]

उक्त अठारह भेदो में से मतिज्ञान आदि मनपर्यायज्ञान पर्यन्त चार ज्ञान तथा मति, श्रुत व अवधि अज्ञान कुल सात ज्ञानावरण कर्म के

---

१ दानादिरूपपचप्रकारान्तरायक्षयाद्भूता क्षायिक्य ।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १९०

२ चारित्रमोहनीयक्षयसम्भूत च क्षायिक चरण यथाख्यातसज्ञितमिदम्य ।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १९०

३ ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपचभेदा यथाक्रम सम्यक्त्व चारित्र सयमासयमाश्च ।

—तत्त्वार्थसूत्र २।५

क्षयोपशम से, चक्षु, अचक्षु, अवधि, यह तीन दर्शन दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से, दानादि वीर्य पर्यन्त पाच भाव अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से, सम्यक्त्व, दर्शनमोह सप्तक के क्षयोपशम से, सर्वविरति, देशविरति, चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होते है। अर्थात् मतिज्ञान, मतिअज्ञान, मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से, श्रुतज्ञान, श्रुतअज्ञान, श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से, अवधिज्ञान, विभगज्ञान, अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से, मनपर्यायज्ञान, मनपर्यायज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से और चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन क्रमश· चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण के क्षयोपशम से प्रगट होते है। दानादि वीर्य पर्यन्त पाच भाव क्रम से दानान्तराय आदि पांच प्रकार के अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से होते है। अनन्तानुवधी कपाय चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक के क्षयोपशम से सम्यक्त्व, अप्रत्याख्यानावरण कपाय चतुष्क के क्षयोपशम से देशचारित्र (देशविरति) और प्रत्याख्यानावरण कपाय चतुष्क के क्षयोपशम से सर्वविरति प्रगट होते है।

मतिअज्ञान आदि क्षायोपशमिक भाव अभव्य के अनादि-अनन्त और विभगज्ञान सादि-सान्त है। मतिज्ञान आदि भाव भव्य के सादि-सात है और दानादि लब्धियाँ तथा अचक्षुदर्शन अनादि-अनन्त है।

दानादि पाँच लब्धियो, सम्यक्त्व और चारित्र को क्षायिक भावो मे गर्भित करके पुन· क्षायोपशमिक भावो मे भी गर्भित करने पर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि इनको क्षायोपशमिक भाव मे गर्भित करना युक्तियुक्त नही है। इसका समाधान यह है कि दानादि लब्धियाँ अन्तराय कर्म के क्षय और क्षायोपशमिक के भेद से दो प्रकार की है। दानादि अन्तराय कर्म के क्षय से प्रगट होने वाली दानादि लब्धियो को क्षायिक भाव मे ग्रहण किया है और क्षयोपशम से प्रगट होने वालियों को क्षायोपशमिक भाव मे। क्षयोत्पन्न लब्धियाँ

केवलज्ञानी में ही और क्षयोपशम से जन्य छद्मस्थों में पाई जाती हैं।[1] इसी प्रकार से सम्यक्त्व और चारित्र के लिये भी समझना चाहिये कि दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम से जन्य सम्यक्त्व और चारित्र का यहाँ ग्रहण किया है।

अब आगे की गाथा में औदयिक और पारिणामिक भावों के भेद बतलाते हैं।

अन्नाणमसिद्धित्तासंजमलेसाकसायगइवेया ।
मिच्छं तुरिए भव्वाभव्वत्तजियत्तपरिणामे ॥६६॥

शब्दार्थ—अन्नाण—अज्ञान, असिद्धत्त—असिद्धत्व, असंजम—असंयम, लेसा—लेश्या, कसाय—कषाय, गइ—गति, वेया—वेद, मिच्छं—मिथ्यात्व, तुरिए—चौथे भाव में, भव्व—भव्यत्व, अभव्वत्त—अभव्यत्व, जियत्त—जीवत्व, परिणामे—पारिणामिक भाव में।

गाथार्थ—अज्ञान, असिद्धत्व, असंयम, लेश्या, कषाय, गति, वेद और मिथ्यात्व ये चौथे औदयिक भाव के भेद हैं। भव्यत्व, अभव्यत्व और जीवत्व यह तीन पारिणामिक भाव हैं।

विशेषार्थ—गाथा में औदयिक और पारिणामिक भावों के भेद बतलाये हैं। पूर्व में यह संकेत दिया जा चुका है कि औदयिक भाव के इक्कीस भेद होते हैं। यहाँ गाथा में कुछ भेदों के तो नाम दिये हैं और जिन भेदों के अन्तर्गत अन्य भेद हैं, उनके नामों का निर्देश किया

---

१ इह दानादिलब्धयो द्विविधा भवन्ति—अन्तरायकर्मणः क्षयसम्भविन्यः क्षयोपशमसम्भविन्यश्च। तत्र च याः क्षायिक्यस्ताः पूर्वमुक्तास्ताः क्षयोपशमसम्भविन्य एव याः पुनरिह क्षायोपशमिकान्तर्गता उच्यन्ते ताः छद्मस्थानामेव।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १६०

है—जैसे लेश्या, कषाय, गति और वेद। इनके अन्तर्गत भेदो के नाम इस प्रकार है—

लेश्या—कृष्ण, नील, कापोत, तेजः, पद्म, शुक्ल।

कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ।

गति—नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव।

वेद—पुरुष, स्त्री, नपुसक।

इन भेदो और गाथोक्त शेष नामो—अज्ञान, असिद्धत्व, असयम और मिथ्यात्व—को जोड़ने से औदयिक भाव के कुल इक्कीस नाम हो जाते हैं। जो इस प्रकार है—

१ अज्ञान, २ असिद्धत्व, ३ असंयम, ४ कृष्ण, ५ नील, ६ कापोत, ७ तेजः ८ पद्म, ९ शुक्ल लेश्या, १० क्रोध, ११ मान, १२ माया, १३ लोभ कषाय, १४ नरक, १५ तिर्यंच, १६ मनुष्य, १७ देव गति, १८ पुरुष, १९, स्त्री, २० नपुंसक वेद, २१ मिथ्यात्व।[1]

उक्त सभी भेद कर्मोदयजन्य होने से औदयिक भाव कहलाते है। जैसे कि अज्ञान का मतलब ज्ञान का अभाव और मिथ्याज्ञान दोनो से है। इनमे से ज्ञान का अभाव ज्ञानावरण कर्म के उदयजन्य और मिथ्याज्ञान मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदयजन्य है। इसीलिये अज्ञान औदयिक है। असिद्धत्व भाव सिद्धत्व की अभाव रूप अवस्था (ससारावस्था), यह ज्ञानावरण आदि आठ कर्मो के उदय का फल है। असयम अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से उत्पन्न फल है।

लेश्या उदयजन्य भाव है। लेश्या के लक्षण के बारे में मत-भिन्नता है जिसका संकेत पहले किया जा चुका है—१ काषायिक-परिणाम, २ कर्मपरिणति और ३ योगपरिणाम। ये तीनो ही औदयिक हैं,

---

१ गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासयतासिद्धत्वलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्-भेदाः।

—तत्त्वार्थसूत्र २।६

क्योकि कापायिक परिणाम कपायमोहनीय के उदय का, कम-परिणति कम के उदय का और योगपरिणाम योगत्रयजनक कम के उदय का फल है।[1]

कपाय की उत्पत्ति कपाय मोहनीय कम के उदय से होती है। नरक तिर्यंच आदि गतिया अपने-अपने नाम वाले गति नामकम के उदय का फल हैं। वेद—द्रव्य और भाव दोनो प्रकार के वेद औदयिक है। आकृति रूप द्रव्यवेद अगोपाग नामकम के उदय तथा पुरुप, स्त्री, नपुसक अभिलापा रूप भाववेद पुरुप, स्त्री, नपुसक वद नोकपाय मोहनीय के उदय से होता है। मिथ्यात्व—अतत्त्वश्रद्धान—मिथ्यात्व मोहनीय के उदय का परिणाम है।

य औदयिक भाव अभव्य के अनादि-अनन्त और भव्य के वहुधा अनादि-सान्त ह।

निद्रा, निद्रा निद्रा, सुख-दुख का वेदन, हास्य, रति, शरीर आदि अय जितने भी असख्यात भाव है वे सभी ओदयिक हैं। लेकिन यहा पूव आचार्यों की परम्परा का अनुसरण करके स्थूलदृष्टि से इक्कीस ही औदयिक भाव वतलाये हैं।

यद्यपि पूव गाथा मे मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभगज्ञान को क्षायोपशमिक भावो मे ग्रहण किया है और यहा ओदयिक माना है, सो इसका कारण यह है कि मतिअज्ञान आदि उक्त तीन उपयोगो को मतिज्ञानावरण आदि के क्षयोपशमजय होने की अपेक्षा से क्षायोप

---

१ लश्यास्तु यपा मत कपायनिष्यन्दो लश्या त मतेन कपायमोहनीयादयजत्वाद् औदयिकत्व, य मतेत तु यागपरिणामो लेश्या तदभिप्रायेण योगत्रयजनक कर्मोदयप्रभवा, यपा त्वष्टकमपरिणामा लश्यास्त मतेन ससारित्वासिद्धत्व वद् अष्टप्रकारकर्मोदयजा इति।

—चतुथ कमग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० १९१

शमिक भाव कहा है और मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय की अपेक्षा से यहाँ औदयिक भाव माना है। क्योंकि अतत्त्वार्थश्रद्धान का कारण मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय है।

पारिणामिक भाव के 'भव्वाभव्वत्तजियत्त परिणामे'—१ भव्यत्व, २ अभव्यत्व और ३ जीवत्व, यह तीन भेद है।[1] ये तीनो भाव अनादि-अनन्त है।

प्राण (द्रव्य, भाव) का धारण करना जीवत्व है। यह भाव समस्त ससारी और सिद्ध जीवो में पाया जाता है। इसीलिये भव्यत्व, अभव्यत्व की अपेक्षा व्यापक है। मुक्ति-प्राप्ति की योग्यता को भव्यत्व और मुक्ति-प्राप्ति की अयोग्यता को अभव्यत्व भाव कहते हैं। ये तीनों भाव अनादि सिद्ध आत्मद्रव्य के अस्तित्व से ही सिद्ध हैं।

यद्यपि अस्तित्व, भोक्तृत्व, कर्तृत्व, प्रदेशत्व आदि भी दूसरे अनेक पारिणामिक भाव है। लेकिन यहाँ पारिणामिक भाव के जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व यह तीन ही भेद बताने का कारण यह है कि जीव का स्वरूप उसके असाधारण भावों द्वारा ही बतलाया जा सकता है। इसलिये औपशमिक आदि के साथ पारिणामिक भाव भी वे ही बतलाये है जो सिर्फ जीव के असाधारण है। अस्तित्व आदि पारिणामिक भाव हैं, किन्तु वे जीव की तरह अजीव मे भी है। जिससे वे जीव के असाधारण भाव नही है। इसलिये यहाँ उनका निर्देश नही किया है।

सान्निपातिक भाव के भेद

इस प्रकार से औपशमिक आदि पाँच भावो का सप्रभेद निरूपण करके अब सान्निपातिक नामक छठे भेद का वर्णन करते हैं। ये

---

१ जीवभव्याभव्यत्वादीनि च। —तत्त्वार्थसूत्र २।७

सान्निपातिक भाव औपशमिक आदि पाँच भावो मे से दो, तीन, चार या पाँच भावो के मिलने पर होते हैं। दो भावों के मेल से होने वाला सान्निपातिक 'द्विकसयोग', तीन भावो के मेल से होने वाला 'त्रिक-सयोग' चार भावो के सयोग से होने वाला 'चतुस्सयोग' और पाँच भावो के मेल मे होने वाला 'पचसयोग' कहलाता है।

इनमे द्विकसयोग के दस भेद, त्रिकसयोग के दस भेद, चतुस्सयोग के पाँच भेद और पचसयोग का एक भेद होता है। कुल मिलाकर छब्बीस भेद होते हैं। इनम से छह भेद जीवो मे पाये जाते हैं और शेष २० भेद तो सम्भव ही नही हैं।

सान्निपातिक भाव के द्विसयोगी आदि भेद इस प्रकार बनते हैं।

द्विक सयोगी दस भेद

१ औपशमिक+क्षायिक।
२ औपशमिक+क्षायोपशमिक।
३ औपशमिक+औदयिक।
४ औपशमिक+पारिणामिक।
५ क्षायिक+क्षायोपशमिक।
६ क्षायिक+औदयिक।
७ क्षायिक+पारिणामिक।
८ क्षायोपशमिक+औदयिक।
९ क्षायोपशमिक+पारिणामिक।
१० औदयिक+पारिणामिक।

त्रिक-सयोगी दस भेद

१ औपशमिक+क्षायिक+क्षायोपशमिक।
२ औपशमिक+क्षायिक+औदयिक।
३ औपशमिक+क्षायिक+पारिणामिक।
४ औपशमिक+क्षायोपशमिक+औदयिक।

५ औपशमिक+क्षायोपशमिक+पारिणामिक।

६ औपशमिक+औदयिक+पारिणामिक।

७ क्षायिक+क्षायोपशमिक+औदयिक।

८ क्षायिक+क्षायोपशमिक+पारिणामिक।

९ क्षायिक+औदयिक+पारिणामिक।

१०. क्षायोपशमिक+पारिणामिक+औदयिक।

चतुः-संयोगी के पाँच भेद

१ औपशमिक+क्षायिक+क्षायोपशमिक+औदयिक।

२ औपशमिक+क्षायिक+क्षायोपशमिक+पारिणामिक।

३ औपशमिक+क्षायिक+औदयिक+पारिणामिक।

४ औपशमिक+क्षायोपशमिक+औदयिक+पारिणामिक।

५ क्षायिक+क्षायोपशमिक+औदयिक+पारिणामिक।

पंच-संयोगी एक भेद

१ औपशमिक + क्षायिक+क्षायोपशमिक + औदयिक+ पारिणामिक।

इनमे से जो छह भेद जीवो मे पाये जाते है, उनको निम्नलिखित दो गाथाओं द्वारा वतलाते हैं।

चउ चउगईसु मीसगपरिणामुदएहिं चउ सखइएहिं।
उवसमजुएहिं वा चउ केवलि परिणामुदयखइए ॥६७॥
खयपरिणामे सिद्धा नराण पणजोगुवसमसेढीए।
इय पनर सन्निवाइयभेया वीसं असंभविणो ॥६८॥

शव्दार्थ—**चउ**—चार भेद, **चउगईसु**—चार गतियो मे, **मीसग**—मिश्र भाव, **परिणामुदएहि**—पारिणामिक तथा औदयिक भाव मे, **चउ**—चार भेद, **सखइएहि**—क्षायिक भाव सहित, **उवसम-जुएहि**—उपशम सम्यक्त्व सहित, **वा**—अथवा, **चउ**—चार भेद, **केवलि**—केवलज्ञानी, **परिणाम**—पारिणामिक, **उदय**—औदयिक, **खइए**—क्षायिक मे।

गति नामकर्म के नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव यह चार भेद हैं। अतः इस त्रिकसयोगी के गति रूप स्थानभेद से चार भेद है।

'सखइएहिं' अथवा 'उवसमजुएहिं' यानी उक्त त्रिसंयोगी क्षायोपशमिक, पारिणामिक, औदयिक—के साथ क्षायिक या उपशम के सयोग से बनने वाले चतु संयोगी सान्निपातिक भाव चारो गतियों के जीवों मे पाये जाते हैं। अर्थात् क्षायोपशमिक, पारिणामिक, औदयिक, क्षायिक, यह चतु·संयोगी भाव चारों गतियों मे पाया जाता है। गति रूप स्थान के चार भेद होने से इस चतु·संयोगी के भी चार भेद हो जाते हैं। चारो गतियो मे क्षायिक भाव क्षायिक सम्यक्त्व रूप, क्षायोपशमिक भाव भावेन्द्रिय आदि रूप, पारिणामिक भाव जीवत्व आदि रूप और औदयिक भाव कषाय आदि रूप है।

पूर्वोक्त त्रिसयोगी—क्षायोपशमिक, पारिणामिक, औदयिक के साथ औपशमिक का योग करने से बना हुआ चतु·संयोगी भेद भी चारो गतियो मे पाया जाता है। इनमे से औपशमिक भाव औपशमिक सम्यक्त्व रूप, क्षायोपशमिक भाव भावेन्द्रिय आदि रूप, पारिणामिक भाव जीवत्व आदि रूप और औदयिक भाव कषाय आदि रूप समझना चाहिये। गति रूप स्थान के चार भेद होने से इस चतु सयोगी के भी चार भेद होते हैं।

पारिणामिक, औदयिक और क्षायिक के संयोग से बनने वाला त्रिसंयोगी भेद 'परिणामुदयखइए' सिर्फ भवस्थ केवलियो में पाया जाता है। इसीलिए वह एक ही प्रकार का है। केवलियों मे पारिणामिक भाव जीवत्व आदि के रूप में, औदयिक भाव गति आदि के रूप मे और क्षायिक भाव केवलज्ञान आदि के रूप में पाया जाता है।

'खयपरिणामे सिद्धा'—क्षायिक और पारिणामिक के योग से बनने वाला द्विकसंयोगी भेद सिर्फ सिद्ध जीवो में पाया जाता है। इसका कारण यह है कि पारिणामिक भाव जीवत्व आदि रूप और क्षायिक

भाव केवलज्ञान आदि रूप है। सिद्धो मे किसी प्रकार का भेद नही होने के कारण यह भेद एक ही प्रकार का है।

पचसयोगी सान्निपातिक भाव सिर्फ उपशम श्रेणि वाले मनुष्यो मे होता है—'नराण पणजोगुवसमसेढीए' अतएव यह एक ही प्रकार का है। इस पचसयोगी भेद मे से उपशम श्रेणि वाले मनुष्यो मे क्षायिक भाव सम्यक्त्व रूप, औपशमिक भाव चारित्र रूप, क्षायोपशमिक भाव भावेन्द्रिय आदि रूप, पारिणामिक भाव जीवत्व आदि रूप और औदयिक भाव लेश्या आदि रूप है।

इस प्रकार छह सान्निपातिक भाव जीवो मे सम्भव हैं। इनके स्थानभेद मे पन्द्रह भेद हो जाते है। यहा जिज्ञासु शका प्रस्तुत करता है कि पहले तो सान्निपातिक भाव के छब्बीस भेद बताये व यहाँ पन्द्रह भेद और बतलाये अतएव इन पन्द्रह भेदो को बीस भेदो मे मिलाने पर पतीस भेद हो जाते हैं। इस भिन्नता का कारण क्या है? इसका समाधान यह है कि मूल मे तो द्विसयोगी आदि छह भेद हैं। एक द्विसयोगी, दो त्रिसयोगी, दो चतु सयोगी, एक पचसयोगी, किन्तु गतियो की अपेक्षा उनका विचार करने पर स्थानभेद से पन्द्रह भेद हो जाते हैं। इसलिए मूल छह भेदो को बीस भेदो के साथ जोडने पर सान्निपातिक भाव के कुल छब्बीस भेद होते हैं। इसमे किसी प्रकार का विरोध नही है।

इस प्रकार से औपशमिक आदि भावो का वर्णन करने के पश्चात् अब आगे की गाथा मे कर्म व धर्मास्तिकाय आदि अजीव द्रव्यो मे भावो का विचार करते हैं।

कर्म व अजीव द्रव्यों में भाव

मोहेव समो मीसो चउघाइसु अट्ठकम्मसु य सेसा।
धम्माइ पारिणामिय भावे खधा उदइए वि ॥६६॥

शब्दार्थ—मोहेव—मोहनीय में ही, समो—उपशम, मीसो—क्षयोपशम, चउघाइसु—चार घाति कर्मों में, अट्ठकम्मसु—आठ कर्मों में, य—और, सेसा—बाकी के, धम्माइ—धर्मास्तिकाय आदि, पारिणामिय—पारिणामिक, भावे—भाव, खंधा—स्कन्ध (पुद्गल), उदइए—औदयिक भाव, वि—भी।

गाथार्थ—मोहनीय कर्म में ही उपशम भाव होता है। चार घाति कर्मों में क्षायोपशमिक भाव और आठ कर्मों में शेष (औदयिक, क्षायिक और पारिणामिक) भाव होते हैं। धर्मास्तिकाय आदि पाँच अजीव द्रव्यों में पारिणामिक भाव होता है किन्तु पुद्गल स्कन्ध में औदयिक भाव भी पाया जाता है।

विशेषार्थ—गाथा में आठ कर्मों और धर्मास्तिकाय आदि पाँच द्रव्यों में औपशमिक आदि भावों में से कौन-कौन से भाव पाये जाते हैं, उनको बतलाया है।

सर्वप्रथम मोहनीय कर्म में पाये जाने वाले भाव का संकेत करते हुए कहा है कि 'मोहेव समो' मोहनीय कर्म में सिर्फ औपशमिक भाव पाया जाता है। क्योंकि मोहनीय कर्म के सिवाय अन्य कर्मों की उपशम अवस्था नहीं होती है। इसीलिये औपशमिक भाव[1] मोहनीय कर्म में कहा गया है। क्षायोपशमिक भाव चार घाति कर्मों में पाया जाता है—'मीसो चउघाइसु।' लेकिन इतनी विशेषता है कि केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण इन दो घाति कर्मों के विपाकोदय का निरोध नहीं होने के कारण क्षयोपशम नहीं होता है। शेष

---

१ औपशमिक शब्द के दो अर्थ हैं—(१) कर्म की उपशम आदि अवस्थायें औपशमिक भाव है, यह अर्थ कर्म के भावों पर लागू पड़ता है। (२) कर्म की उपशम आदि अवस्थाओं से होने वाली पर्याय औपशमिक आदि भाव है, यह अर्थ जीव के भावों पर लागू पड़ता है।

तीनों भाव—क्षायिक, पारिणामिक और औदयिक आठों कर्मों के हैं। क्योंकि क्षय, परिणमन और उदय यह तीनों अवस्थायें आठों कर्मों की होती हैं।[1] सारांश यह है कि मोहनीय कर्म के पांचों भाव, मोहनीय के सिवाय तीन घाति कर्मों के चार भाव और चार अघाति कर्मों के तीन भाव हैं।

कर्मों में भावों का कथन करने के बाद अब धर्मास्तिकाय आदि पांच अजीव द्रव्यों में भावों को बतलाते हैं।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और पुद्गलास्तिकाय ये पांच अजीव द्रव्य हैं।[2] इन सभी में सामान्यतया पारिणामिक भाव[3] तो पाया ही जाता है, लेकिन पुद्गलास्तिकाय की यह विशेषता है कि उसमें औदयिक भाव भी है। अर्थात् धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल इन चार अजीव द्रव्यों में पारिणामिक भाव ही पाया जाता है और पुद्गलास्तिकाय में पारिणामिक और औदयिक यह दो भाव हैं। जिसका स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है।

---

1 पंचसंग्रह ३।२५ में भी कर्मों के भावों के लिए इसी प्रकार बताया है—
मोहस्सेव उवसमो खाओवसमो चउण्ह घाईणं।
खय परिणामिय उदया अट्ठण्हवि होंति कम्माणं॥

2 अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः। कालश्चेत्येके।
—तत्त्वार्थसूत्र ५।१, ३८

3 पारिणामिक शब्द का अर्थ स्वरूप परिणमन है। यह अर्थ सब द्रव्यों में घटित होता है। जैसे कर्म का जीव प्रदेशों के साथ सम्बन्ध होना, द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव आदि भिन्न भिन्न निमित्त पाकर अनेक रूप में परिवर्तित होता रहना कर्म का पारिणामिक भाव है। जीव का परिणमन जीवत्व रूप में होना, धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का गति सहायक आदि रूप में रहना।

धर्मास्तिकाय जीव, पुद्गलो की गति मे सहायक वनने रूप अपने कार्य में अनादि काल से परिणत हुआ करता है। इसीलिये उसमे सिर्फ पारिणामिक भाव माना है। इसी प्रकार से अधर्मास्तिकाय स्थिति मे सहायक वनने के रूप कार्य मे, आकाशास्तिकाय अवकाश देने रूप कार्य मे और काल समयपर्याय रूप स्वकार्य मे अनादि काल से परिणमन करता आ रहा है। ये चारो द्रव्य स्वकार्य-मर्यादा के अलावा अन्य कोई कार्य नही करते है।

पुद्गलास्तिकाय मे पारिणामिक और औदयिक, यह दो भाव हैं। सो पुद्गल के परमाणु और स्कंध रूप पर्यायो के होने की अपेक्षा से है। परमाणु पुद्गल मे तो केवल पारिणामिक भाव होता है किन्तु स्कध रूप पुद्गल पारिणामिक और औदयिक ये दो भाव वाले हैं। स्कन्धों मे भी द्व्यणुक आदि स्कध स्व-स्वरूप मे परिणत होते रहने के कारण पारिणामिक भाव वाले है और औदारिक आदि शरीर रूप स्कध पारिणामिक, औदयिक दो भाव युक्त है। औदारिक आदि शरीर औदारिक आदि शरीर नामकर्म के उदयजन्य होने के कारण औदयिक भाव वाले हैं।

पुद्गल द्रव्य मे जो दो भाव कहे हैं सो कर्म-पुद्गल से भिन्न पुद्गल के समझना चाहिए। क्योकि यह पूर्व मे वताया जा चुका है कि—कर्म-पुद्गल के तो औपशमिक आदि पांचो भाव होते है।

अजीव द्रव्यो मे भावो के सम्बन्ध मे उक्त कथन का साराश यह है कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल ये पाच अजीव द्रव्य हैं। पुद्गलास्तिकाय के सिवाय शेष चार अजीव द्रव्यो मे पारिणामिक भाव इस प्रकार होता है—धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलों की गति मे, अधर्मास्तिकाय जीव और पुद्गल की स्थिति मे सहायक होने का कार्य अनादि काल से कर रहा है। आकाशास्तिकाय जीव और पुद्गल द्रव्य को अवकाश देने रूप

कार्य मे और काल समयपर्याय रूप स्वकार्य मे परिणमन कर रहे हैं। इसीलिये इन चारो मे अनादि पारिणामिक भाव है।

पुद्गल मे पारिणामिक और औदयिक ये दो भाव हैं। पारिणामिक भाव के दो भेद हैं—सादि पारिणामिक और अनादि पारिणामिक। द्वयणुक आदि स्कंध मे सादि काल से उस उस भाव में परिणत होने से सादि पारिणामिक भाव जबकि मेरु आदि, शाश्वत पदार्थों मे अनादि काल से उस भाव मे परिणत होते रहने के कारण अनादि पारिणामिक भाव होता है। औदारिक आदि शरीर नामकर्म आदि के उदय से ग्रहण किये हुए अनन्त पुद्गल परमाणु वाले स्कंधो तथा उनमे होने वाले अंगोपांग आदि आकार और वर्णादि मे औदयिक और पारिणामिक भाव है। क्योंकि ये स्व-स्वभाव मे परिणत होने से पारिणामिक भाव और औदारिक आदि शरीर नामकर्मजन्य होने से औदयिक भाव वाले हैं। जीव जिन्हे ग्रहण नही कर सकता ऐसे द्वि-अणुक आदि स्कंधो मे जो वृद्धि-ह्रास होता है उसमे तो सादि पारिणामिक भाव घटता है। जीव जिसको ग्रहण कर सकता है ऐसे स्कंधो मे ही औदयिक भाव है। कार्मण वर्गणा के पुद्गल स्कंधो मे औपशमिक आदि भाव पाये जाते हैं लेकिन उनकी यहाँ विवक्षा नहीं की है।

इस प्रकार से जीव और अजीव द्रव्यो मे भावो का कथन करने के बाद गुणस्थानो मे भावो का निरूपण करते हैं।

सम्माइचउसु तिग चउ भावा चउ पणुवसामगुवसंते।
चउ खीणापुव्वि तिन्नि सेसगुणट्ठाणगेगजिए ॥७०॥

शब्दार्थ—सम्माइ—अविरति सम्यग्दृष्टि आदि, चउसु—चार गुणस्थानो मे, तिग चउभावा—तीन अथवा चार भाव, चउपण—चार या पाँच उवसामग—उपशमक मे (नौवें, दसवें गुणस्थान मे) उवसंते—उपशान्तमोह में चउ—चार खीणा—क्षीणमोह मे,

अपुव्वे—अपूर्वकरण में, तिन्नि—तीन भाव, सेस गुणट्ठाणग—शेष गुणस्थानों में, एगजिए—एक जीव में।

गाथार्थ—अविरति सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानों में चार भाव, चार या पाँच भाव उपशमक (नौवें, दसवें) और उपशांतमोह गुणस्थान में, क्षीणमोह और अपूर्वकरण गुणस्थान में चार भाव और शेष गुणस्थानों में तीन भाव। इस प्रकार एक जीव की अपेक्षा भाव समझना चाहिये।

विशेषार्थ—गाथा में एक जीव के आश्रय से गुणस्थानों में औपशमिक आदि मूल भावों का दिग्दर्शन कराया है।

गुणस्थानों में मूल भावों का निरूपण करते हुए सर्वप्रथम कहा है—'सम्माइचउसु तिग चउ'—अविरति सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानों में तीन या चार भाव होते हैं। यानी चौथे अविरति सम्यग्दृष्टि, पाँचवें देशविरति, छठे प्रमत्तविरत और सातवें अप्रमत्तविरत इन चार गुणस्थानों में तीन भाव ये हैं—१ औदयिक, २ पारिणामिक और ३ क्षायोपशमिक। औदयिक भाव मनुष्यगति आदि रूप में, पारिणामिक भाव जीवत्व आदि रूप में और क्षायोपशमिक भाव भावेन्द्रिय, सम्यक्त्व आदि रूप में पाया जाता है। लेकिन जब क्षायिक या औपशमिक सम्यक्त्व इन गुणस्थानों में हो तब इन दोनों में से कोई एक सम्यक्त्व तथा पूर्वोक्त तीन भावों के मिलाने से चार भाव समझना चाहिये। पाये जाने वाले चार भावों का विवक्षाभेद से इस प्रकार कथन किया जायेगा—

१ औदयिक, २ पारिणामिक, ३ क्षायोपशमिक और ४ औपशमिक, अथवा १ औदयिक, २ पारिणामिक, ३ क्षायोपशमिक और ४ क्षायिक।

नौवें, दसवें और ग्यारहवें इन तीन गुणस्थानों में चार या पाँच भाव पाये जाते हैं—भावा चउ पणुवसामगुवसंते। यानी—अनिवृत्तिबादर, सूक्ष्मसंपराय और उपशांतमोह इन गुणस्थानों में या तो

औदयिक, पारिणामिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व व चारित्र ये चार भाव अथवा औदयिक, पारिणामिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ये पाँच भाव पाये जाते हैं। चार या पाँच भाव पाये जाने की विभिन्नता का कारण यह है कि चार भाव तो उस समय पाये जाते हैं जबकि औपशमिक सम्यक्त्वी उपशम श्रेणि वाला हो और नौवें, दसवें गुणस्थानवर्ती जीव के औपशमिक चारित्र होने पर पाँच भाव माने जाते हैं।[1]

बारहवें क्षीणमोह और आठवें अपूर्वकरण इन दो गुणस्थानों में चार भाव होते हैं। बारहवें गुणस्थान में पाये जाने वाले चार भाव इस प्रकार हैं—औदयिक, पारिणामिक और क्षायोपशमिक, पूर्वोक्त इन तीनों के साथ क्षायिक सम्यक्त्व व क्षायिक चारित्र। आठवें गुणस्थान में पूर्वोक्त औदयिक, पारिणामिक, क्षायोपशमिक के साथ औपशमिक और क्षायिक इन दो में से कोई एक सम्यक्त्व के होने से चार भाव समझना चाहिये।

शेष गुणस्थानों (पहले, दूसरे, तीसरे, तेरहवें, चौदहवें) में तीन भाव हैं—तिग सेसगुणट्ठाणेगं। इन पाँच गुणस्थानों में से पहले, दूसरे, तीसरे गुणस्थान में औदयिक—मनुष्य आदि गति, पारिणामिक—जीवत्व आदि और क्षायोपशमिक—भावेन्द्रियाँ आदि ये तीन भाव पाये जाते हैं तथा तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में औदयिक—मनुष्यत्व, पारिणामिक—जीवत्व और क्षायिक—ज्ञान आदि ये तीन भाव हैं।

गाथा में एक जीव के आश्रय से गुणस्थानों में भावों का विचार किया गया है—एगजिए। पर औपाधिक भावों की व्याख्या जो इस गाथा

---

1 औपशमिक [illegible] उपशमश्रेण्याम् [illegible] औपशमिकचारित्र [illegible]। —चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ० १६७

मे है वैसी ही पंचसंग्रह २।६४ मे[1] भी है। किन्तु इस गाथा की टीका और पंचसंग्रह की उक्त गाथा की टीका मे थोडा-सा व्याख्याभेद है। जिसको यहाँ स्पष्ट किया जाता है।

गुणस्थानों में भाव सम्बन्धी पंचसग्रह का अभिमत

गाथा की स्वोपज्ञ टीका मे 'उपशमक', 'उपशांत' इन दो पदो से नौवा, दसवा और ग्यारहवां यह तीन गुणस्थान ग्रहण किये है और 'अपूर्व' पद से सिर्फ आठवां गुणस्थान। नौवें आदि तीन गुणस्थानो मे उपशम श्रेणि वाले औपशमिक सम्यग्दृष्टि को या क्षायिक सम्यग्दृष्टि को औपशमिक चारित्र माना है। आठवे गुणस्थान मे औपशमिक या क्षायिक किसी भी सम्यक्त्व वाले को औपशमिक चारित्र इष्ट नही है किन्तु क्षायोपशमिक है। जो गाथा मे 'अपूर्व' पद को अलग से ग्रहण करने से स्पष्ट है। क्योकि यदि आठवे गुणस्थान मे भी औपशमिक चारित्र इष्ट होता तो अपूर्व शब्द अलग से ग्रहण न करके उपशमक शब्द से ही नौवे आदि गुणस्थान की तरह आठवे का भी सकेत किया जाता। नौवे और दसवे गुणस्थान के क्षपकश्रेणि गत जीव सम्बन्धी भावो व चारित्र का उल्लेख टीका मे नही है।

लेकिन पंचसंग्रह २।६४ की टीका मे श्री मलयगिरि ने 'उपशमक' 'उपशान्त' पद से आठवे से ग्यारहवे तक उपशम श्रेणि वाले चार गुण-स्थान और 'अपूर्व' तथा 'क्षीण' पद से आठवा, नौवा, दसवा और बारहवा यह चार गुणस्थान ग्रहण किये है। उपशमश्रेणि वाले को औपशमिक चारित्र माना है किन्तु क्षपकश्रेणि वाले के लिये चारित्र का कोई उल्लेख नही किया है।

ग्यारहवें गुणस्थान मे मोहनीयकर्म का सम्पूर्ण उपशम हो जाने के

---

१ सम्माइ चउसु तिय चउ उवसममुवसतयाण चउ पच।
चउ खीणअपुव्वाण तिन्नि उ मावावसेसाण ॥

कारण सिर्फ औपशमिक चारित्र होता है। नौवें और दसवें इन दो गुणस्थानो मे औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो चारित्र होते हैं। क्योकि इन दो गुणस्थानो मे चारित्रमोहनीय की कुछ प्रकृतिया उपशान्त होती है, सभी नही। अतएव उपशात प्रकृतियो की अपेक्षा औपशमिक और अनुपशात प्रकृतियो की अपेक्षा क्षायोपशमिक चारित्र समझना चाहिए। यद्यपि यह बात स्पष्टता से नही कही गई है किन्तु पचसग्रह ३।२५ की टीका देखने से सन्देह नही रहता है। क्योकि उसमे सूक्ष्मसपराय चारित्र को जो दसवे गुणस्थान मे होता है, क्षायोपशमिक बताया है। पचसग्रह की गाथा पूर्व मे उल्लिखित है। इसी प्रकार क्षपकश्रेणि वाले के चारित्र मोहनीय की कुछ प्रकृतियो का क्षय और कुछ प्रकृतियो का क्षयोपशम होने से क्षायिक और क्षायोपशमिक चारित्र आठवें, नौवें, दसवें और बारहवें गुणस्थानो मे जानना चाहिए।[1]

एक जीव म भिन्न-भिन्न समय मे और अनेक जीवो मे एक समय या भिन्न भिन्न समय म पाये जाने वाले भावो का विवेचन इस प्रकार है—

इस गाथा मे किसी एक जीव मे विवक्षित समय मे पाये जाने वाले भावो का कथन किया गया है। अब एक जीव मे भिन्न भिन्न

---

१ दिगम्बर ग्रन्थो म उपशमश्रेणि वाले ८ ११ चार गुणस्थानो म औपशमिक चारित्र ही माना है तथा क्षपकश्रेणि वाले चार गुणस्थानो (८, ९ १०, १२) म क्षायिक चारित्र। दोनो म क्षायोपशमिक चारित्र का स्पष्ट निषेध है। तत्सम्बन्धी गो० कर्मकाड की गाथायें इस प्रकार हैं—

अयदुवसमगचउक्क एक्क दो उवसमस्स आदिपदो।
खाइगपदं तत्थेक्क खवगा जिणसिद्धगेसु दु पण चदू ॥८४५॥
मिच्छदुगिय मिस्सपदा तिण्णि य अयदम्मि होंति चत्तारि।
देसतिय पचपदा तत्तो खीणोत्ति तिण्णिपदा ॥८४६॥

समय मे पाये जाने वाले भावो और अनेक जीवों में एक समय मे या भिन्न-भिन्न समय मे पाये जाने वाले भावो का गुणस्थानो की अपेक्षा विवेचन प्रस्तुत करते है।

एक जीव मे भिन्न-भिन्न समय मे अथवा अनेक जीवो मे एक समय मे पाचो भाव हो सकते है और गुणस्थानो की अपेक्षा पहले तीन गुणस्थानो मे औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक यह तीन भाव होते है। चौथे से ग्यारहवे गुणस्थान तक आठ गुणस्थानो मे पाचो भाव, बारहवे गुणस्थान मे औपशमिक के सिवाय शेष चार भाव होते है, तेरहवे और चौदहवे गुणस्थान में क्षायिक, औदयिक, पारिणामिक यह तीन भाव है।

अनेक जीवों की अपेक्षा से गुणस्थानों में भावों के उत्तर भेद

औपशमिक—भाव के भेद इस प्रकार है—सम्यक्त्व चौथे से ग्यारहवे गुणस्थान पर्यन्त और चारित्र ९, १०, ११ इन तीन गुणस्थानो मे होता है।

क्षायोपशमिक—भाव के उत्तर भेद इस प्रकार है—पहले, दूसरे दो गुणस्थानो मे तीन अज्ञान, चक्षु-अचक्षु दर्शन, दानादि पाच लब्धियाँ, ये दस भेद होते है। तीसरे मिश्रदृष्टि गुणस्थान मे तीन ज्ञान (मिश्र), तीन दर्शन (यहाँ अवधिदर्शन सिद्धान्त की अपेक्षा माना है), सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि-मिश्रमोहनीय), दानादि पॉच लब्धियाँ, यह बारह भाव, चौथे गुणस्थान मे तीसरे गुणस्थान वाले बारह किन्तु मिश्रदृष्टि के स्थान पर सम्यक्त्व, पाँचवे गुणस्थान मे चौथे गुणस्थान वाले बारह तथा देशविरति कुल तेरह, छठे, सातवे गुणस्थान मे मनपर्यायज्ञान सहित तथा देशविरति के बदले सर्वविरति को मिलाने से चौदह यानी पाँचवे गुणस्थान के तेरह भावो मे से देशविरति के स्थान पर सर्वविरति का प्रक्षेप करने से तेरह तथा मनपर्यायज्ञान मिलाने से

चौदह भाव होते हैं। आठवें, नौवें और दसवें इन तीन गुणस्थानो मे सम्यक्त्व के विना तेरह भाव हैं। ग्यारहवें और बारहवे गुणस्थान मे चारित्र के विना बारह भाव होते है। तेरहवे और चौदहवें गुणस्थान मे घातिकर्म का क्षय होने से क्षायोपशमिक भाव नही होते हैं।

औदयिक—भाव के उत्तर भेद इस प्रकार हैं—पहले मिथ्यात्व गुणस्थान मे सभी २१ भाव (चार गति, चार कषाय, तीन वेद, छह लेश्या, अज्ञान, असिद्धत्व, अविरति और मिथ्यात्व) होते हैं। दूसरे सासादन गुणस्थान मे मिथ्यात्व के सिवाय बीस, तीसरे, चौथे गुण स्थान मे अज्ञान के सिवाय उन्नीस (मिश्र गुणस्थान मे ज्ञान और अज्ञान मिश्र होता है, कर्मग्रन्थकार अज्ञान मानते हैं और सिद्धातकार ज्ञान), पाचवें गुणस्थान मे देवगति व नरकगति के सिवाय उक्त उन्नीस मे से शेष सत्रह, छठे गुणस्थान मे तिर्यच गति और असयम को घटाने से पन्द्रह, सातवे गुणस्थान मे कृष्ण, नील कापोत इन तीन लेश्याओ के सिवाय उक्त पन्द्रह मे से शेष बारह, आठवें, नौवें गुण-स्थान मे तेज और पद्म लेश्या के सिवाय दस, दसवें गुणस्थान मे तीन वेद और क्रोध, मान, माया, कुल मिलाकर छह के सिवाय उक्त दस मे से शेष चार (मनुष्यगति, शुक्ललेश्या, सज्वलन लोभ और असिद्धत्व), ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान मे सज्वलन लोभ को छोड़-कर शेष तीन और चौदहवें गुणस्थान मे दो (मनुष्यगति, असिद्धत्व) भाव होते हैं।

पारिणामिक—भाव के उत्तर भेद इस प्रकार हैं—पहले मिथ्यात्व गुणस्थान मे जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व यह तीनो भेद होते हैं। दूसरे से बारहवें तक ग्यारह गुणस्थानो मे जीवत्व और भव्यत्व ये दो तथा तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान मे सिर्फ एक जीवत्व ही पारिणामिक भाव होता है। क्योकि भव्यत्व भाव अनादि-सान्त है, सिद्धावस्था मे उसका अभाव हो जाता है। घातिकर्म क्षय होने के बाद सिद्धअवस्था

प्राप्त होने मे बहुत विलम्ब नही लगता है, इस अपेक्षा से तेरहवे, चौदहवे गुणस्थान मे भव्यत्व भाव पूर्वाचार्यो ने नही माना है।

क्षायिक—भाव के उत्तर भेद इस प्रकार है—पहले तीन गुणस्थानो मे क्षायिक भाव नही है। चौथे से ग्यारहवे गुणस्थान तक आठ गुणस्थानो मे सम्यक्त्व, बारहवे गुणस्थान में सम्यक्त्व और चारित्र तथा तेरहवे, चौदहवे गुणस्थान मे सम्यक्त्व, चारित्र, ज्ञान, दर्शन, दानादि पाँच लब्धियाँ कुल नौ भाव होते है।[1]

---

१ दिगम्बर ग्रन्थ—गो० कर्मकाड गा० ८२० से ८७५ तक स्थानगत और पदगत भगो द्वारा भावो का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। सक्षेप मे वह वर्णन इस प्रकार है—

एक जीव आश्रित भावो के उत्तर भेद—

१. औपशमिक—चौथे से आठवे गुणस्थान तक सम्यक्त्व और नौवें से ग्यारहवें गुणस्थान तक सम्यक्त्व व चारित्र।

२ क्षायोपशमिक—पहले दो गुणस्थानो मे मति, श्रुत दो या विभगज्ञान सहित तीन अज्ञान, अचक्षु एक या चक्षु-अचक्षु दो दर्शन, दानादि पाच लब्धियाँ। तीसरे मे दो या तीन ज्ञान, दो या तीन दर्शन, मिश्रदृष्टि, पाँच लब्धि। चौथे मे दो या तीन ज्ञान, अपर्याप्त अवस्था मे अचक्षु एक या अवधि सहित दो दर्शन और पर्याप्त अवस्था मे दो या तीन दर्शन, सम्यक्त्व, पाँच लब्धि, पाँचवे मे दो या तीन ज्ञान, दो या तीन दर्शन, सम्यक्त्व, देशविरति, पाँच लब्धि, छठे-सातवें मे दो, तीन या मनपर्यायज्ञान पर्यन्त चार ज्ञान, दो या तीन दर्शन, सम्यक्त्व, सर्वविरति, पाच लब्धियाँ, आठवे, नौवें, दसवे गुणस्थान मे सम्यक्त्व को छोडकर छठे, सातवें गुणस्थान वाले सब क्षायोपशमिक भाव, ग्यारहवे, बारहवे मे चारित्र को छोड दसवें गुणस्थान वाले भाव।

क्षायिक—चौथे से ग्यारहवे गुणस्थान तक मे सम्यक्त्व, बारहवें मे सम्यक्त्व और चारित्र और तेरहवे, चौदहवें मे सभी (नौ) क्षायिक भाव।

औदयिक—पहले गुणस्थान मे अज्ञान, असिद्धत्व, असयम, एक लेश्या, एक कषाय, एक गति, एक वेद और मिथ्यात्व, दूसरे मे मिथ्यात्व को छोड़कर

इस प्रकार से गुणस्थानो मे भावो के जितने जितने भेद हैं, उनके सम्बन्ध से बनने वाले सान्निपातिक भेदो का यथासभव विचार कर लेना चाहिए। जैसे कि मिथ्यात्व गुणस्थान मे औदयिक भाव के २१, क्षायोपशमिक भाव के १० और पारिणामिक भाव के ३ भेद कुल मिलाकर ३४ भेद होते हैं।

गुणस्थानो मे भावो का विवरण पृष्ठ ३५० की तालिका मे दिया गया है।

गुणस्थानो मे भावो का विवेचन करने के बाद अब सख्या का विचार करते हैं।

सख्या का विचार

सखिज्जेगमसख परित्तजुत्तनियपयजुय तिविह ।
एवमणत पि तिहा जहन्नमज्झुक्कसा सव्वे ॥७१॥

शब्दार्थ—सखिज्जेग—सख्यात एक असख—असख्यात, परित्त—प्रत्येक असख्यात जुत्त—युक्त असख्यात, नियपयजुय—अपने पद से युक्त, (असख्यात असख्यात) तिविह—तीन प्रकार एव—इस प्रकार अणत—अनन्त पि—भी तिहा—तीन प्रकार जहन्न—जघन्य मज्झ—मध्यम उक्कसा—उत्कृष्ट सव्वे—सभी।

गाथार्थ—सख्यात एक है। असख्यात परीत्त, युक्त और निजपद युक्त इस तरह तीन प्रकार का है। इसी तरह

पहले गुणस्थान के सब भाव। तीसरे चौथे, पाचवें मे अज्ञान को छोड दूसरे गुणस्थान वाले सब भाव। छठे से नौवें तक मे असयम के सिवाय पाचवें वाले सब भाव। दसवें मे वेद के सिवाय नौवें वाले सब भाव। ग्यारहवें बारहवें में कषाय के सिवाय दसवें वाले सब भाव। तेरहवें मे असिद्धत्व लेश्या और गति। चौदहवें मे गति और असिद्धत्व।

पारिणामिक—पहले मे तीनो दूसरे से बारहवें गुणस्थान तक जीवत्व और भव्यत्व यह दो भाव। तेरहवें, चौदहवें मे केवल जीवत्व भाव।

गुणस्थानों में औपशमिक आदि भावो का विवरण[१]

क्रम संख्या	गुणस्थान	एक जीव मे कुल मूल भाव ५	सर्व जीवो मे कुल मूल भाव ५	औपशमिक २	क्षायिक ९	क्षायोपशमिक १८	औदयिक २१	पारिणामिक ३	कुल उत्तर भेद ५३
१.	मिथ्यात्व	३	३	०	०	१०	२१	३	३४
२	सासादन	३	३	०	०	१०	२०	२	३२
३	मिश्र	३	३	०	०	१२	१९	२	३३
४.	अविरति सम्यग्दृष्टि	३–४	५	१	१	१२	१९	२	३५
५	देशविरति	३–४	५	१	१	१३	१७	२	३४
६.	प्रमत्तसयत	३–४	५	१	१	१४	१५	२	३३
७	अप्रमत्तसंयत	३–४	५	१	१	१४	१२	२	३०
८.	अपूर्वकरण	४	५	२	१	१३	१०	२	२८
९	अनिवृत्तिकरण	४–५	५	२	१	१३	१०	२	२८
१०	सूक्ष्मसपराय	४–५	५	२	१	१३	४	२	२२
११.	उपशान्तमोह	४–५	५	२	१	१२	३	२	२०
१२	क्षीणमोह	४	४	०	२	१२	३	२	१९
१३	सयोगिकेवली	३	३	०	९	०	३	१	१३
१४	अयोगिकेवली	३	३	०	९	०	२	१	१२

१—इस विवरण मे गुणस्थानो मे भावो के जो उत्तर-भेद बतलाये है, वे सब जीवो की अपेक्षा समझना चाहिये।

अनन्त भी तीन प्रकार का जानना चाहिए। ये सब भेद जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद वाले हैं।

विशेषार्थ—गाथा मे सख्या का विचार प्रारम्भ किया गया है। शास्त्रो मे सख्या तीन प्रकार की वतलाई है—१ सख्यात, २ असख्यात, ३ अनन्त। उनमे से मूलभेद की अपेक्षा सख्यात एक ही है। असख्यात के तीन भेद हैं—परीत्त असख्यात, युक्त-असख्यात और निजपद-युक्त असख्यात अर्थात् असख्यातासख्यात। इसी तरह अनन्त के भी तीन भेद इस तरह होते है—परीत्त अनन्त, युक्त अनन्त और निजपद-युक्त-अनन्त यानी अनन्तानन्त। इस प्रकार से सख्या के मूल सात भेद होते हैं।

यह सातो भेद जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट की अपेक्षा से तीन-तीन प्रकार के हैं। जिससे सात को तीन से गुणित करने पर इक्कीस भेद हो जाते हैं। इक्कीस भेदो के नाम क्रमश इस प्रकार है—

१ जघन्य सख्यात, २ मध्यम सख्यात, ३ उत्कृष्ट सख्यात।

४ जघन्य परीत्त असख्यात—५ मध्यम परीत्त-असख्यात, ६ उत्कृष्ट परीत्त-असख्यात।

७ जघन्य युक्त-असख्यात, ८ मध्यम युक्त-असख्यात, ९ उत्कृष्ट युक्त असख्यात।

१० जघन्य असख्यात-असख्यात, ११ मध्यम असख्यात-असख्यात, १२ उत्कृष्ट असख्यात-असख्यात।

१३ जघन्य परीत्त अनन्त, १४ मध्यम परीत्त-अनन्त, १५ उत्कृष्ट परीत्त-अनन्त।

१६ जघन्य युक्त-अनन्त, १७ मध्यम युक्त अनन्त १८ उत्कृष्ट युक्त-अनन्त।

१९ जघन्य अनन्तानन्त, २० मध्यम अनन्तानन्त, २१ उत्कृष्ट अनन्तानन्त।

इस प्रकार से सख्या के भेदो को बतलाने के पश्चात् आगे की गाथा मे सख्यात के तीन भेदो का स्वरूप बतलाते है।

लहु संखिज्जं दु च्चिय अओ परं मज्झिमं तु जा गुरुयं।
जंबूद्दीवपमाणयचउपल्लपरूवणाइ इमं ॥७२॥

शब्दार्थ—**लहु**—जघन्य, **सखिज्जं**—सख्यात, **दुच्चिय**—दो ही, **अओ परं**—इसके उपरात, **मज्झिमं**—मध्यम, **तु**—तथा, **जा गुरुयं**—उत्कृष्ट तक, **जंबूद्दीवपमाणय**—जम्बूद्वीप प्रमाण, **चउ पल्ल**—चार पल्यो, **परूवणाइ**—प्ररूपणा करके, **इम**—इस उत्कृष्ट सख्यात को।

गाथार्थ—दो की सख्या ही जघन्य सख्यात है। इसके (दो के) उपरात उत्कृष्ट सख्यात तक मध्यम सख्यात जानना चाहिये। जम्बूद्वीप प्रमाण चार पल्यो की प्ररूपणा करके इस उत्कृष्ट सख्यात का प्रमाण जाना जाता है। (पल्यो के नाम, प्रमाण आदि आगे की गाथा मे कहे है)।

विशेषार्थ—गाथा मे सख्यात के जघन्य, मध्यम भेदो का स्वरूप और उत्कृष्ट भेद को स्पष्ट करने का सकेत किया गया है।

जघन्य सख्यात को बतलाते हुए कहा है 'लहु सखिज्ज दु च्चिय' दो की संख्या जघन्य संख्यात है। दो को जघन्य सख्यात कहने का कारण यह है कि संख्या का मतलब भेद (पार्थक्य) से है, अर्थात् जिसमे भेद प्रतीत हो, उसे सख्या कहते है। एक सख्या भेदरहित है, उसमें भेद प्रतीत नही होता है। क्योंकि जब एक घडा देखते है तब यह घड़ा है ऐसी प्रतीति तो उत्पन्न होती है किन्तु यह एक घडा है ऐसी प्रतीति उत्पन्न नही होती है। अथवा लेने-देने मे एक वस्तु की प्राय: कोई गणना करके लेता-देता नही है। इसीलिये सबसे जघन्य होने पर भी एक की जघन्य सख्यात के रूप मे गणना नही की है। भेद की प्रतीति दो आदि मे होती है इसीलिये दो को ही जघन्य संख्यात माना जाता है।

दो से ऊपर और उत्कृष्ट सख्यात तक बीच की सब सख्याये

मध्यम संख्यात हैं—'अओ पर मज्झिम तु जा गुरुय ।' यानी इसके बाद तीन से लेकर उत्कृष्ट संख्यात तक के मध्य में जितनी भी संख्यायें होंगी, वे सब मध्यम संख्यात मानी जायेंगी। कल्पना में मान लो कि १०० की संख्या उत्कृष्ट संख्यात है और दो की संख्या जघन्य संख्यात । तो २ और १०० के बीच ३ से लेकर ९९ तक जितनी भी संख्यायें होंगी वे सब मध्यम संख्यात हैं।

उत्कृष्ट संख्यात का प्रमाण जम्बूद्वीप के प्रमाण[1] जैसे चार पल्यों की प्ररूपणा द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है। जिसका संकेत आगे की गाथा में करते हैं।

पल्लाऽणवट्ठियसलागपडिसलागमहासलागक्खा ।
जोयणसहसोगाढा सवेइयंता ससिहभरिया ॥७३॥

शब्दार्थ—पल्ला—पल्य, अणवट्ठिय—अनवस्थित, सलाग—शलाका, पडिसलाग—प्रतिशलाका, महासलाग—महाशलाका, अक्खा—नाम के, जोयणसहस—हजार योजन, ओगाढा—गहरा सवेइयंता—वेदिका के अंत सहित, ससिह—शिखा तक, भरिया—भरना ।

गाथार्थ—अनवस्थित शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका यह चार पल्य हैं। ये चारों पल्य एक हजार योजन गहरे और वेदिका प्रमाण ऊंचे हैं जिन्हें शिखा पर्यन्त भरना चाहिये।

---

१ जम्बूद्वीप की लम्बाई चौड़ाई एक लाख योजन प्रमाण है और वृत्ताकार होने से उसकी परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताइस योजन तीन कोस अट्ठाईस धनुष कुछ अधिक साढ़े तेरह अंगुल प्रमाण है—

परिही तिलक्ख सोलस सहस्स दो य सय सत्तवीसहिया ।
कोसतिय अट्ठवीस धणुसय तेरंगुलद्धहियं ॥

—बृह० क्षे०, गा० ६

शलाका पल्य—एक-एक साक्षीभूत सरसो के दाने से भरे जाने के कारण इसको शलाका पल्य कहते हैं। शलाका पल्य में डाले गये सरसो के दानो की सख्या से यही जाना जाता है कि इतनी वार उत्तर अनवस्थित पल्य खाली हुए हैं।

प्रतिशलाका पल्य—प्रतिसाक्षीभूत सरसों के दाने से भरे जाने के कारण यह प्रतिशलाका पल्य कहलाता है। हर वार शलाका पल्य के खाली होने पर एक-एक सरसो का दाना प्रतिशलाका पल्य मे डाला जाता है। प्रतिशलाका पल्य मे डाले गये इन दानों की सख्या से यह ज्ञात हो जाता है कि इतनी वार शलाका पल्य भरा जा चुका है।

महाशलाका पल्य—महासाक्षी भूत सरसों के दानों द्वारा भरे जाने के कारण यह महाशलाका पल्य कहलाता है। प्रतिशलाका पल्य के एक-एक वार भर जाने और खाली हो जाने पर एक-एक सरसो का दाना महाशलाका पल्य मे डाल दिया जाता है। जिससे यह जाना जाता है कि इतनी वार प्रतिशलाका पल्य भरा गया और खाली किया गया।

अव आगे की गाथाओं में पल्यो के भरने आदि की विधि वतलाते है।

तो दीवुदहिसु इक्किक्क सरिसवं खिविय निट्ठिए पढमे।
पढमं व तदंतं चिय पुण भरिए तम्मि तह खीणे ॥७४॥
खिप्पइ सलागपल्लेगु सरिसवो इय सलागख (खि) वणेणं।
पुन्नो वीओ य तओ पुव्वं पिव तम्मि उद्धरिए ॥७५॥
खीणे सलाग तइए एवं पढमेंहि बीययं भरसु।
तेहि य तइयं तेहि य तुरियं जा किर फुडा चउरो ॥७६॥

शव्दार्थ—**तो**—उसके वाद, **दीवदहिसु**—द्वीप, समुद्र मे, **इक्किक्क**—एक-एक, **सरिसवं**—सरसो के दाने को, **खिविय**—डालकर, **निट्ठिए पढमे**—पहले पल्य के खाली होने पर, **पढमं व**—पहले पल्य

की तरह, सदत चिय—उस द्वीप या समुद्र के अंत तक भरिए—पुनः भरकर, तम्मि—उस पल्य का तह—वह ही। खाली होने पर।

खिप्पइ—डाल, सलागपल्ले—शलाका पल्य में, एगु—एक दाना सरिसवो—सरसों का इय—इस प्रकार, सलाग—शलाका में खवणेण—डालने के द्वारा, पुन्नो—पूर्ण बीओ—दूसरा य—और, तओ—उसके बाद पुव्व पिव—पहले की तरह तम्मि—उसको, उद्धरिए—लेकर के।

खीणे—खाली होने पर सलाग—शलाका, तइए—तीसरे में, एव—इस प्रकार पढमेहिं—पहले के द्वारा बीययं—दूसरा शलाका पल्य भरसु—भरना तेहि—उनके द्वारा य—और, तइयं—तीसरा तेहि य—उसके द्वारा और, तुरियं—चौथा, जा—जब तक, किर निश्चित, फुडा—स्फुट पूरी तरह चउरो—चारों।

गाथार्थ—उसके बाद अनवस्थित पल्य में से एक-एक द्वीप, समुद्र में एक-एक दाना डालने से पहले पल्य खाली होने पर जिस द्वीप या समुद्र में सरसों के दाने समाप्त हों उस द्वीप या समुद्र के अंत जितना पल्य बनाकर पहले की तरह सरसों के दानों से भरें और उसको भी पहले की तरह एक-एक द्वीप, समुद्र में एक-एक दाना डालकर खाली होने पर—

शलाकापल्य में एक सरसों का दाना डालें। इस प्रकार शलाकापल्य में साक्षीभूत सरसों के दाने डालने के द्वारा जब शलाकापल्य भर जाये तब पहले की तरह उसे लेकर—

उसमें से एक-एक दाना निकाल कर उसे खाली करना और प्रतिशलाका में एक दाना डालना। इस प्रकार के पहले के द्वारा दूसरा पल्य भरना और उसके द्वारा तीसरा और तीसरे के द्वारा चौथा भरना। इस प्रकार चारों पल्यों को निश्चित रूप से परिपूर्ण कर देना चाहिये।

विशेषार्थ—उत्कृष्ट सख्यात का प्रमाण बताने के लिये कल्पना का सहारा लेकर पहले चार पल्य बताये गये है। इन तीन गाथाओ मे उन पल्यो को भरने की विधि का निरूपण किया है।

सबसे पहला पल्य अनवस्थितपल्य है। यह दो प्रकार का है—मूल अनवस्थित और २ उत्तर अनवस्थित। मूल अनवस्थितपल्य तो जम्बूद्वीप-प्रमाण एक लाख योजन लम्बाई-चौडाई वाला वृत्ताकार त ऊँचा १००८३ योजन है। इसको सरसो के दानो से शिखा पर्यन्त ठासकर परिपूर्ण भर देने के बाद उसमें से एक-एक सरसो का दाना जम्बूद्वीप आदि प्रत्येक द्वीप, समुद्र मे डालना। इस प्रकार एक-एक सरसो का दाना डालने पर जिस द्वीप या समुद्र में यह मूल अनवस्थितपल्य खाली हो जाये तो मूल स्थान—जम्बूद्वीप से लेकर उतने लम्बे-चौड़े क्षेत्र प्रमाण और ऊँचाई मे मूल अनवस्थित पल्य जितना दूसरा अनवस्थित पल्य बनाना चाहिये। इसको सरसो के दानों से शिखा पर्यन्त परिपूर्ण भर दिया जाये।

इस प्रथम उत्तर-अनवस्थितपल्य मे से सरसों का एक-एक दाना मूल अनवस्थितपल्य के सरसो के दाने जिस द्वीप या समुद्र मे डालने पर समाप्त हुए थे, उन क्रम से आगे के द्वीप समुद्र मे डालना। इस प्रकार एक-एक सरसो का दाना डालने पर उस पल्य को खाली किया जाये। जब वह खाली हो जाये तब एक दाना शलाकापल्य मे डाल दिया जाये।

इस प्रकार करने से जब अनवस्थित पल्य खाली होता जाये तब एक-एक सरसो का दाना शलाकापल्य मे डालते जाना चाहिये और जिस द्वीप या समुद्र में वह पल्य खाली हुआ हो, उस द्वीप या समुद्र के बराबर के नये-नये अनवस्थितपल्य की कल्पना करते जाना चाहिये और उसे द्वीप या समुद्र में खाली करके एक दाना शलाका-पल्य मे डाले। इस प्रकार करते-करते जब शलाकापल्य पूर्ण भर

जाये तब जिस द्वीप या समुद्र मे अनवस्थितपल्य खाली हुआ हो, उस द्वीप या समुद्र के बराबर क्षेत्र के अनवस्थितपल्य की कल्पना करना और उसे सरसो से भरना। उसको खाली करने पर साक्षीभूत सरसो का दाना शलाकापल्य मे समान—रखे जाने की स्थिति मे न होने के कारण उसे जैसा का तैसा ही भरा रखना चाहिये और उस शलाकापल्य को लेकर एक एक द्वीप, समुद्र मे एक एक सरसो का दाना डालते जाना चाहिये। इस प्रकार शलाकापल्य खाली हो तब एक सरसो प्रतिशलाकापल्य मे डालना। इस समय अनवस्थितपल्य भरा हुआ, शलाकापल्य खाली और प्रतिशलाका मे एक सरसो का दाना होता है।

तदनन्तर अनवस्थितपल्य को लेकर आगे के द्वीप, समुद्र मे एक-एक सरसो डालते जाना चाहिये और खाली हो तब एक सरसो शलाकापल्य मे डालना और उस द्वीप या समुद्र जितने नये अनवस्थित पल्य की कल्पना करके भरना और पुन एक एक सरसो एक-एक द्वीप और समुद्र मे डालते जाना। इस प्रकार पुन दूसरी बार शलाकापल्य को पूरा भरना और जिस द्वीप या समुद्र मे अनवस्थितपल्य खाली हुआ हो, उस द्वीप समुद्र के बराबर के उत्तर-अनवस्थितपल्य की कल्पना करना और उसे सरसो से भरना।

ऐसा करने पर अनवस्थित और शलाका पल्य भरे हुए हैं और प्रतिशलाकापल्य मे एक सरसो का दाना है।

अब पुन शलाकापल्य को लेकर वहाँ से आगे के द्वीप, समुद्र मे एक-एक दाना डालकर उसे खाली करना और खाली होने पर एक सरसो प्रतिशलाका मे डालना। ऐसा होने पर प्रतिशलाका मे दो सरसो हैं, शलाकापल्य खाली है और अनवस्थित पल्य भरा हुआ है। अत इस भरे हुए अनवस्थितपल्य को लेकर वहा से आगे के द्वीप

समुद्रो मे एक-एक दाना डालना और खाली होने पर शलाकापल्य मे एक साक्षीभूत सरसो का दाना डालना और इस प्रकार शलाका-पल्य को पूरा भरना चाहिए। तब अनवस्थितपल्य भी भरा हुआ होता है। बाद मे शलाकापल्य को लेकर आगे के द्वीप समुद्रो मे खाली करना और खाली होने पर एक सरसो प्रतिशलाकापल्य मे डालना इस प्रकार अनवस्थितपल्य के द्वारा शलाका और शलाकापल्य के द्वारा प्रतिशलाकापल्य पूर्ण भरना चाहिए।

जब प्रतिशलाका पल्य पूरा भरा हुआ होता है तब अनवस्थित, शलाका और प्रतिशलाका यह तीनों पल्य भरे हुए होते है।

इसके पश्चात् प्रतिशलाकापल्य को लेकर आगे के द्वीप, समुद्रों मे खाली करना और जब खाली हो तब महाशलाका पल्य मे एक साक्षीभूत सरसो डालना। इस समय महाशलाकापल्य मे एक सरसो, प्रतिशलाका खाली और शलाका व अनवस्थित पल्य भरे हुए होते हैं। इस समय शलाकापल्य को लेकर आगे के द्वीप समुद्रों मे खाली करना और खाली होने पर एक सरसो प्रतिशलाका पल्य मे डालना। तब महाशलाका तथा प्रतिशलाका पल्य मे एक-एक सरसो और शलाका खाली तथा अनवस्थितपल्य भरा हुआ होता है।

इसके बाद अनवस्थितपल्य को लेकर आगे के द्वीप समुद्रो मे खाली करना और शलाकापल्य को पुनः भरना। जब शलाकापल्य भर जाये तब अनवस्थितपल्य को भरा हुआ रखना चाहिए और शलाका-पल्य को खाली करके एक सरसो प्रतिशलाकापल्य मे डालना चाहिये। इस रीति से अनवस्थित द्वारा शलाका और शलाका द्वारा प्रतिशलाकापल्य को पूर्ण भरना चाहिये। जब प्रतिशलाकापल्य पूर्ण हो जाए तब महाशलाकापल्य मे एक सरसो और शेष पल्य भरे हुए होते हैं। इसके बाद प्रतिशलाकापल्य को खाली करके महा-शलाकापल्य मे एक सरसो डालना और शलाका को खाली करके

प्रतिशलाकापल्य मे एक सरसो डालना तथा अनवस्थितपल्य को खाली करके एक सरसो शलाकापल्य मे डालना। इस प्रकार जब महाशलाकापल्य मे एक सरसो के दाने की वृद्धि होती है तब प्रतिशलाकापल्य खाली होता है और शलाका तथा अनवस्थितपल्य भरे हुए होते हैं।

इस प्रकार पूर्व-पूर्व पल्य खाली हो तब एक-एक साक्षी सरसो आगे-आगे के पल्य मे डालते जाना चाहिये। जब महाशलाकापल्य पूरा भर जाये तब प्रतिशलाकापल्य खाली और शलाका व अनवस्थितपल्य भरे हुए होते हैं। इसी प्रकार शलाका द्वारा प्रतिशलाका और अनवस्थित द्वारा शलाका को पूर्ण करते जाना चाहिये। जब महाशलाका और प्रतिशलाका पल्य पूर्ण होते हैं तब शलाकापल्य खाली होता है और अनवस्थितपल्य भरा हुआ।

इस समय अनवस्थितपल्य के द्वारा शलाकापल्य को पूर्ण भरना और शलाकापल्य जब पूरा भर जाये तब जो द्वीप या समुद्र हो, उस द्वीप या समुद्र के बराबर क्षेत्र जितने अनवस्थितपल्य की कल्पना करके उसे भी सरसो के द्वारा भर लेना चाहिये। इस प्रकार चारो पल्य पूर्ण भरे जाते हैं।

ग्रथकार ने स्वोपज्ञ टीका मे चारो पल्यो के भरे जाने की उक्त प्रणाली बतलाई है। लेकिन श्री जीवविजयजी महाराज ने अपने टबा मे यह बात अन्य प्रकार से बतलाई है। जो अन्य आचार्यों का मत है, ऐसा प्रतीत होता है। उसमे इस प्रकार बताया है—

पहले अनवस्थितपल्य द्वारा शलाकापल्य पूरा भरना, जब शलाकापल्य भर जाये तब अनवस्थितपल्य को खाली रखना और शलाका मे से एक एक सरसो डालना। शलाकापल्य खाली हो तब प्रतिशलाकापल्य मे एक सरसो डालना, यानी जब प्रतिशलाका मे एक सरसो हो तब शलाका और अनवस्थित पल्य खाली होते हैं।

इसके वाद जहाँ शलाकापल्य खाली हुआ है, उतने द्वीप समुद्रों के वरावर अनवस्थितपल्य की कल्पना करना और इस रीति से अनवस्थित द्वारा शलाकापल्य भरना, शलाका द्वारा प्रतिशलाकापल्य भरना। जव प्रतिशलाका पूर्ण भर जाये तव अनवस्थित और शलाकापल्य खाली होते हैं।

इसके वाद प्रतिशलाका को लेकर उसमें के दाने एक-एक द्वीप-समुद्र मे डालना और उसके खाली होने पर एक साक्षी सरसो महाशलाकापल्य मे डालना। महाशलाकापल्य मे जव एक सरसो होता है तव पहले के तीन पल्य खाली होते है। इसलिये जहाँ प्रतिशलाकापल्य खाली हुआ है। उतने द्वीप समुद्र के क्षेत्र वरावर के नये अनवस्थितपल्य की कल्पना करना और अनवस्थित द्वारा शलाका और शलाका द्वारा प्रतिशलाका और प्रतिशलाका द्वारा महाशलाकापल्य इस क्रम से पूर्ण भरना। जव महाशलाकापल्य पूरा भरा हुआ होता है तव प्रतिशलाका, शलाका और अनवस्थितपल्य खाली होते हैं।

अनन्तर जहाँ प्रतिशलाकापल्य खाली हुआ हो, वहाँ उतने ही वड़े अनवस्थितपल्य की कल्पना करके पुन. पूर्व क्रमानुसार एक-दूसरे को पूर्ण करना। इस प्रकार प्रतिशलाकापल्य पूर्ण भरा हुआ होता है तव महाशलाका और प्रतिशलाकापल्य भरे हुए होते है और शलाका व अनवस्थितपल्य खाली। इसके वाद जहाँ शलाकापल्य खाली हुआ हो उतने द्वीप या समुद्र के वरावर के अनवस्थितपल्य की कल्पना करना और अनवस्थितपल्य द्वारा शलाका को पूर्ण भरना चाहिये और जहाँ अनवस्थितपल्य खाली हुआ हो, उतने द्वीप समुद्र जितना अनवस्थितपल्य वनाकर उसको शिखा तक सरसो से पूर्ण भरना। इस प्रकार से चारो पल्य पूर्ण भरे जाते है।

इस प्रकार से टीका व टवा के मतानुसार अनवस्थित आदि चारो

पल्यों को भरने की विधि बतलाने के बाद आगे की गाथा में इन सरसों से परिपूर्ण पल्यों के उपयोग के बारे में संकेत करते हैं।

पढमतिपल्लुद्धरिया दीवुदही पल्लचउसरिसवा य।
सव्वो वि एस रासी रूवूणो परमसंखिज्जं ॥७७॥

शब्दार्थ—पढमतिपल्ल—पहले तीन पल्य, उद्धरिया—पूरे हुए हैं, दीवुदही—द्वीप और समुद्र में, पल्लचउ—चार पल्य के, सरिसवा—सरसों, य—और, सव्वो वि—सभी को, एस रासी—एक राशि समूह करने से, रूवोणो—एक रूप कम, परमसंखिज्जं—उत्कृष्ट संख्यात (है)।

गाथार्थ—पहले तीन पल्य जितने द्वीप समुद्रों में खाली हुए हैं, उनके सरसों के दानों और चारों पल्यों के सरसों के दानों की संख्या को मिलाने से जो संख्या हो उसमें से एक कम करने पर उत्कृष्ट संख्यात होता है।

विशेषार्थ—इस गाथा में उत्कृष्ट संख्यात की राशि का प्रमाण बतलाया है।

पूर्व में अनवस्थित, शलाका और प्रतिशलाका पल्य को बार-बार सरसों के दानों से भरकर उनको खाली करने की विधि बतलाई है। उसके अनुसार जितने द्वीपों और समुद्रों में सरसों का एक-एक दाना पड़ा, उन सब द्वीपों की और सब समुद्रों की जो संख्या हुई, उसमें चारों पल्यों में भरे हुए सरसों के दानों की संख्या को मिलाने से जो संख्या होती है, उसमें से एक को कम कर देने पर उत्कृष्ट संख्यात का प्रमाण निकलता है। अर्थात् प्रत्येक द्वीप, समुद्र में डाले गये सरसों के दानों और चारों पल्यों के दानों को एकत्रित करके उसमें से एक को कम करने पर प्राप्त राशि उत्कृष्ट संख्यात है।

जघन्य संख्यात दो और उत्कृष्ट संख्यात से पूर्व तक की जितनी भी बीच की संख्या है, उसे मध्यम संख्यात समझना चाहिये।

शास्त्र मे जहाँ कही भी संख्यात शब्द का व्यवहार हुआ है, वहाँ सब जगह मध्यम सख्यात से मतलब है।[1]

दो से लेकर दहाई, सैकडा, हजार, लाख, करोड, शीर्षप्रहेलिका आदि जो संख्यात की राशियाँ है, उनका तो किसी न किसी प्रकार वर्णन भी किया जा सकता है। लेकिन सख्यात सख्या इतनी ही नही है और इसके बाद की सख्या का कथन उपमा द्वारा ही सम्भव है।

इस प्रकार से सख्यात के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेदो का स्वरूप बतलाने के पश्चात अब आगे की दो गाथाओ मे असख्यात और अनन्त का स्वरूप स्पष्ट करते है।

रूवजुयं तु परित्तासख लहु अस्स रासि अब्भासे ।
जुत्तासंखिज्जं लहु आवलियासमयपरिमाणं ॥७८॥
वितिचउपंचमगुणणे कमा सगासंख पढमचउसत्त ।
णंता ते रूवजुया मज्झा रूवूण गुरु पच्छा ॥७९॥

शब्दार्थ—**रूवजुय**—रूप (एक) युक्त, **तु**—और, **परित्तासखं**—परीत्तासख्यात, **लहु**—लघु (जघन्य), **अस्स**—इसका, **रासि अब्भासे**—राशि अभ्यास करने पर, **जुत्तासंखिज्ज**—युक्तासख्यात, **लहु**—लघु (जघन्य), **आवलिया**—आवलिका के, **समयपरिमाण**—समय का परिमाण।

वितिचउपचस—दूसरे, तीसरे, चौथे और पाचवे का, **गुणणे**—अभ्यास करने पर, **कमा**—क्रम से, **सगासंख**—सातवाँ असख्यात (जघन्य असख्यात-असख्यात), **पढमचउसत्त**—पहला, चौथा और सातवा, **णता**—अनन्त, **तेरूवजुया**—एक रूप सहित, **मज्झा**—मध्यम, **रूवूण**—एक (रूप) कम करने पर, **गुरुपच्छा**—पिछला उत्कृष्ट (होता है)।

---

१ सिद्धाते य जत्थ जत्थ सखिज्जगगहण कत तत्थ तत्थ सव्व अजहन्नमणुक्कोसय दट्ठव्व।
—अनुयोगद्वार चूर्णि

गाथार्थ—उत्कृष्ट सख्यात मे रूप[1] (एक) को मिलाने से जघन्य परीत्तासख्यात होता है। इसकी राशि का (जघन्य परीत्तासख्यात की राशि का) अभ्यास करने से जघन्य युक्तासख्यात होता है। इसे आवलिका के समयो का परिमाण जानना चाहिये।

दूसरे, तीसरे, चौथे और पाचवें मूलभेद की राशि का अभ्यास करने पर अनुक्रम से सातवा असख्यात और पहला, चौथा एव पाचवा अनन्त होता है। उसको रूप सहित करने पर मध्यम और एक कम करने पर पिछली सख्या का उत्कृष्ट होता है।

विशेषार्थ—गाथा मे असख्यात और अनन्त की सख्या का परिमाण बताने की सूत्रविधि बतलाई है। पहली गाथा मे असख्यात के चार भेदो का और दूसरी गाथा मे उसके शेष भेदो व अनत के सब भेदो का स्वरूप बतलाया है।

पूर्व मे सख्यात के तीन भेदो—जघन्य, मध्यम उत्कृष्ट—का स्वरूप बतलाया है और यहा असख्यात व अनन्त के भेदो का स्वरूप बतलाते हैं।

असख्यात और अनन्त के क्रमश परीत्त, युक्त और निजपद-युक्त अर्थात असख्यात-असख्यात और अनत-अनत, यह तीन-तीन भेद होते हैं तथा यह तीन-तीन भेद भी जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट की अपेक्षा से तीन-तीन प्रकार के हैं। ये भेद कुल मिलाकर नौ नौ हैं। इनके पूरे नामो का उल्लेख पूर्व मे किया जा चुका है। यहाँ इन भेदो का

---

१ दिगम्बर साहित्य में भी रूप शब्द एक सख्या के अर्थ म प्रयुक्त हुआ है। जैसे—

एकुत्तरेण तत्ता आवलिया मसभाग गुणगारे।
तप्पाउग्गेजादे वाउस्सोग्गाहण कमसो ॥

—गो० जीवकाड ११०

पूरा नाम न देकर अक द्वारा क्रम का सकेत किया है। इसलिये इनके क्रम को जानने के लिये इस प्रकार से अंक स्थापना करते है—

जघन्य परीत्त असख्यात १, मध्यम परीत्त असंख्यात २
उत्कृष्ट परीत्त असंख्यात ३, जघन्य युक्त असंख्यात ४
मध्यम युक्त असख्यात ५, उत्कृष्ट युक्त असख्यात ६
जघन्य असख्यात-असंख्यात ७, मध्यम असख्यात-असख्यात ८
उत्कृष्ट असख्यात-असख्यात ९,

जघन्य परीत्त अनत १, मध्यम परीत्त अनन्त २
उत्कृष्ट परीत्त अनन्त ३, जघन्य युक्त अनन्त ४
मध्यम युक्त अनन्त ५, उत्कृष्ट युक्त अनंत ६
जघन्य अनन्त-अनन्त ७, मध्यम अनन्त-अनन्त ८
उत्कृष्ट अनन्त-अनन्त ९,

सर्वप्रथम जघन्य परीत्त असख्यात का स्वरूप निर्देश करते हुए कहा है कि—'रूवजुयं तु परित्तासख लहु' उत्कृष्ट संख्यात की राशि मे एक सख्या के मिलाने से जघन्य परीत्त असख्यात की राशि होती है। जैसे कि मान लो कि उत्कृष्ट सख्यात की राशि १०० है। इस राशि मे १ को और मिलाने पर जघन्य परीत्त असख्यात की संख्या होगी। यानी १०० उत्कृष्ट सख्यात है और १००+१=१०१ जघन्य परीत्त-असख्यात का प्रमाण होगा।

इस जघन्य परीत्त असख्यात की राशि का अभ्यास[1] करने पर

---

१ जिस सख्या का अभ्याम करना होता है, उसके अक को उतनी बार लिखकर आपस मे गुणा करना। अर्थात् पहले अक का दूसरे अक के साथ गुणा करना और जो गुणनफल आये उसका तीसरे अक के साथ गुणा करना और उसके गुणनफल का चौथे अक से गुणा करना। इस प्रकार पूर्व-पूर्व के गुणनफल का अगले अक के साथ गुणा करना और अत मे जो गुणनफल प्राप्त हो, वही विवक्षित सख्या का अभ्यास है। जैसे कि ५

जो सख्या आती है वह जघन्य युक्त असख्यात की सख्या है—अस्स रासि अब्भासे जुत्तासखिज्ज लहु। यही जघन्य युक्त असख्यात आवलिका के समय का परिमाण है। अर्थात् एक आवलिका मे असख्यात समय होते हैं। शास्त्र मे आवलिका के समयो को जो असख्यात कहा है, वह जघन्य युक्त असख्यात समझना चाहिये।

एक कम जघन्य युक्त असख्यात को उत्कृष्ट परीत्त असख्यात तथा जघन्य परीत्त असख्यात एव उत्कृष्ट परीत्त असख्यात के बीच की सब सख्याओ को मध्यम परीत्त असख्यात जानना चाहिये।

इस प्रकार से जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट परीत्त असख्यात और जघन्य युक्त असख्यात इन चार की सख्या का निर्देश करने के बाद शेष असख्यात व अनन्त के नौ भेदो का स्वरूप बतलाते हैं।

जघन्य युक्त असख्यात का दूसरी, तीसरी, चौथी और पाचवी बार अभ्यास करने पर अनुक्रम से 'सगासख' निज पद असख्यात अर्थात् असख्यात-असख्यात तथा पहला, चौथा और सातवा अनत होता है। वह इस प्रकार समझना चाहिये।

जघन्य युक्त असख्यात की राशि का अभ्यास करने पर जघन्य असख्यात-असख्यात होता है। उसका भी अभ्यास करने पर पहला जघन्य परीत्त अनत और उसका भी अभ्यास करें तो चौथा जघन्य युक्त अनन्त तथा उसका भी अभ्यास करने पर जघन्य अनन्त-अनन्त होता है। तीन असख्यात और तीन अनन्त इन छह के जघन्यो को एक

का अभ्यास ३१२५ है। इसकी विधि यह है कि—५ को पांच बार लिखना—५ ५,५,५ ५। पहले ५ को दूसरे पाँच से गुणने पर २५ हुए, २५ को तीसरे ५ के साथ गुणने पर १२५ और १२५ को चौथे ५ के साथ गुणने से ६२५ तथा ६२५ को पांचवें ५ से गुणने पर ३१२५ हुए। यही ५ का अभ्यास कहलायेगा।

—अनुयोगद्वार टीका

आदि से युक्त करने पर जहाँ तक उत्कृष्ट न हो जाये वहाँ तक छह मध्यम होगे और इन छह में से एक कम करने पर पिछले उत्कृष्ट भेद होते है, किन्तु सिद्धात के मतानुसार उत्कृष्ट अनन्त-अनन्त यह अनन्त का अतिम नौवा भेद नही होता है।

असंख्यात व अनन्त के भेदो की व्याख्या

उक्त कथन के अनुसार जघन्य परीत्त असंख्यात आदि की व्याख्या नीचे लिखे अनुसार जानना चाहिये—

१ जघन्य परीत्त असख्यात—उत्कृष्ट सख्यात को एक सख्या सहित करने पर जघन्य परीत्त असंख्यात होता है।

२ मध्यम परीत्त असख्यात—जघन्य परीत्त असंख्यात को एक संख्या से युक्त करने पर जहाँ तक उत्कृष्ट परीत्त असंख्यात न हो, वहाँ तक मध्यम परीत्त असंख्यात कहलाता है।

३ उत्कृष्ट परीत्त असंख्यात—जघन्य परीत्त असंख्यात राशि का अभ्यास करने से जघन्य युक्त असख्यात होता है और उसमे से एक कम करने पर उत्कृष्ट परीत्त असख्यात कहलाता है।

४ जघन्य युक्त असख्यात—जघन्य परीत्त असख्यात का राशि-अभ्यास करने से जघन्य युक्त असंख्यात होता है। एक आवलिका मे इतने समय होते हैं।

५. मध्यम युक्त असख्यात—जघन्य युक्त असंख्यात मे एक मिलाये, यानी वहाँ से लेकर जहाँ तक उत्कृष्ट युक्त असंख्यात न हो जाये, वहाँ तक की समस्त सख्या मध्यम युक्त असख्यात कहलाती है।

६ उत्कृष्ट युक्त असख्यात—जघन्य युक्त असंख्यात का राशि अभ्यास करने से सातवा जघन्य असख्यात-असख्यात कहलाता है, उसमे से एक को कम करने पर उत्कृष्ट युक्त असख्यात होता है।

७ जघन्य असंख्यात-असंख्यात—जघन्य युक्त-असंख्यात का राशि-अभ्यास करने से जघन्य असंख्यात-असंख्यात होता है।

८ मध्यम असंख्यात-असंख्यात—जघन्य असंख्यात-असंख्यात में एक को जोड़ने पर जहां तक उत्कृष्ट न हो जाये, वहां तक मध्यम असंख्यात-असंख्यात कहलाता है।

९ उत्कृष्ट असंख्यात असंख्यात—जघन्य असंख्यात-असंख्यात का राशि-अभ्यास करने से पहला जघन्य परीत्त अनन्त होता है और उसमें से एक को कम करने पर उत्कृष्ट असंख्यात-असंख्यात कहलाता है।

१ जघन्य परीत्त-अनन्त—सातवें जघन्य असंख्यात असंख्यात का राशि-अभ्यास करने से प्राप्त संख्या जघन्य परीत्त-अनन्त कहलाती है।

२ मध्यम परीत्त अनन्त—जघन्य परीत्त-अनन्त को एक आदि से युक्त करने पर जहाँ तक उत्कृष्ट संख्या न हो जाये, वहाँ तक को मध्यम परीत्त-अनन्त कहते हैं।

३ उत्कृष्ट परीत्त अनन्त—जघन्य परीत्त-अनन्त का राशि अभ्यास करने से जघन्य युक्त-अनन्त होता है और उसमें से एक कम करने पर उत्कृष्ट परीत्त-अनन्त कहलाता है।

४ जघन्य युक्त-अनन्त—जघन्य परीत्त-अनन्त का राशि-अभ्यास करने से जघन्य युक्त-अनन्त होता है। अभव्य जीवों की संख्या इस अनन्त संख्या प्रमाण है।

५ मध्यम युक्त अनन्त—जघन्य युक्त-अनन्त की संख्या को एकाधिक करते-करते जहाँ तक उत्कृष्ट युक्त-अनन्त न हो जाये वहाँ तक की संख्या को मध्यम युक्त-अनन्त कहते हैं।

६ उत्कृष्ट युक्त-अनन्त—जघन्य युक्त-अनन्त की राशि का अभ्यास

करने से जघन्य अनन्त-अनन्त होता है, उसमे से एक कम करने पर उत्कृष्ट युक्त-अनन्त होता है।

७ जघन्य अनन्त-अनन्त—जघन्य युक्त-अनन्त का राशि-अभ्यास करने पर जो सख्या प्राप्त होती है, वह जघन्य अनन्त-अनन्त है।

८ मध्यम अनन्त-अनन्त—जघन्य अनन्तानन्त को एकादिक से युक्त करने पर उसके बाद जो कुछ भी सख्या बनती है, वह सब मध्यम अनन्तानन्त होती है।

९. उत्कृष्ट अनन्त-अनन्त—अनुयोगद्वार सूत्र के अनुसार कि

एवं उक्कोसयं अणंताणतयं नत्थि—

उत्कृष्ट अनन्तानन्त नही होता है। जघन्य अनन्तानन्त के पश्चात सभी स्थान मध्यम अनन्तानन्त मे गर्भित हो जाते है। अर्थात् उत्कृष्ट अनन्तानन्त नही है।

इस प्रकार मे अनुयोगद्वार सूत्र मे बताई गई विधि के अनुसार असख्यात आदि का स्वरूप बतलाया है। अब असंख्यात एवं अनन्त के भेदो के विषय मे कार्मग्रन्थिक मत का सात गाथाओ द्वारा उल्लेख करते हुए ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं।

असंख्यात व अनन्त के भेदों सम्बन्धी कार्मग्रन्थिक मत

इय सुत्तुत्तं अन्ने वग्गियमिक्कसि चउत्थयमसंखं।
होइ असंखासंखं लहु रूवजुयं तु तं मज्झं ॥८०॥

शब्दार्थ—इय—यह, सुत्तुत्तं—सूत्रोक्त, अन्ने—अन्य आचार्य, वग्गियं—वर्ग करते समय, इक्कसि—एक बार, चउत्थयं—चौथा, असंखं—असख्यात, होइ—होता है, असंखासंखलहु—जघन्य असंख्यात-असख्यात, रूवजुयं—एक युक्त होने पर, तु—और, तं—वह, मज्झं—मध्यम असख्यात-असख्यात।

गाथार्थ—इस प्रकार से असख्यात आदि के बारे में सूत्रोक्त जानना चाहिये। कुछ आचार्यो का मत है कि चौथे

असंख्यात का एक बार वर्ग करने पर जघन्य असंख्यात असंख्यात होता है और उसे एक से युक्त करने पर मध्यम असंख्यात-असंख्यात होता है।

विशेषार्थ—पूर्व में अनुयोगद्वार सूत्रोक्त विधि के अनुसार संख्या का वर्णन किया गया है। लेकिन यहाँ सिद्धान्त के मत से भिन्न अन्य आचार्यों के मन्तव्य का 'अन्ने वग्गिय' पद से दिग्दर्शन कराना प्रारम्भ करते हैं।

उन आचार्यों का मत है कि जघन्य युक्त-असंख्यात का एक ही बार वर्ग करने पर यानी जघन्य युक्त-असंख्यात की जो राशि है उसका उसी राशि के साथ गुणा करने पर जैसे कि पाँच का पाँच से गुणा करने पर २५ होता है, वह जघन्य असंख्यात असंख्यात है—इयरासि चउत्थयमसंख होइ असंखासंख लहु।

इस जघन्य असंख्यात-असंख्यात को भी एक आदिक से युक्त करने पर जहाँ तक उत्कृष्ट न हो, वहाँ तक मध्यम असंख्यात-असंख्यात समझना चाहिये।

रूवूणमाइमं गुरु ति वग्गिउं तं इमे दस क्खेवे।
लोगागासपएसा धम्माधम्मेगजियदेसा ॥८१॥
ठिइबंधज्झवसाया अणुभागा जोगछेयपलिभागा।
दुण्ह य समाण समया पत्तेयनिगोयए खिवसु ॥८२॥
पुण तम्मि तिवग्गियए परित्तणंत लहु तस्स रासीणं।
अब्भासे लहु जुत्ताणंत अभव्वजियमाणं ॥८३॥

शब्दार्थ—रूवूण—एक रूप हीन आइमं—पहला, गुरु—उत्कृष्ट ति वग्गिउं—तीन बार वर्ग करके तं—उसमें इमे—यह दस—दस वस्तुएँ क्खेवे—डालें, मिलायें लोगागास—लोकाकाश पएसा—प्रदेश धम्माधम्म—धर्म और अधर्म अस्तिकाय, एगजिय—एक जीव के देसा—प्रदेश।

ठिइबंध—स्थितिबंध, अज्झवसाया—अध्यवसाय, अणुभागा—अनुभागबन्ध के स्थान, जोग—योग के, छेयपलिभागा—छेद पलिभाग (निर्विभाज्य भाग), दुण्ह—दोनो के (उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी के) य—और, समाण—समान, समया—समय, पत्तेय—प्रत्येक शरीर वाले जीव, निगोयए—निगोद के जीव, खिवसु—मिलाओ।

पुण—पुन, उसके बाद, तम्मि—उस राशि में, तिवग्गियए—तीन बार वर्ग करने पर, परित्तणत—परीत्त-अनन्त, लहु—जघन्य, तस्स—उस, रासीणं—राशि का, अब्भासे—अभ्यास करने से, लहु—जघन्य, जुत्ताणत—युक्त-अनन्त, अभव्व—अभव्य, जियमाणं—जीव का परिमाण।

गाथार्थ—उसके (जघन्य असख्यात-असख्यात के) एक रूप हीन करने पर, पूर्व का उत्कृष्ट होता है और उसका तीन बार वर्ग करके उसमे इन दस वस्तुओ को मिलायें—लोकाकाश के प्रदेश, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और एक जीव के प्रदेश तथा स्थितिबंध के अध्यवसाय स्थान, अनुभागबंध के अध्यवसाय स्थान, योग के निर्विभाज्य भाग, उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल के समय, प्रत्येक शरीर वाले जीव और निगोद के जीव, और उसके बाद—

उस राशि का तीन बार वर्ग करने पर जघन्य परीत्त-अनन्त होता है। उसकी राशि का अभ्यास करने पर जघन्य युक्त-अनन्त होता है। उसे अभव्य जीवों का परिमाण जानना चाहिये।

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओ मे उत्कृष्ट युक्त-असंख्यात, जघन्य परीत्त-अनन्त और जघन्य युक्त-अनन्त की संख्या का परिमाण बतलाया है।

उत्कृष्ट युक्त-असंख्यात की संख्या का परिमाण बतलाते हुए कहा है—'रूवूणमाइयं गुरु' यानी पूर्व में जो जघन्य असंख्यात-असंख्यात

का परिमाण बताया गया है, उसमें से एक कम करने पर उत्कृष्ट युक्त-असंख्यात की संख्या का परिमाण हो जाता है।

जघन्य परीत्त-अनन्त का परिमाण बतलाने के लिये पहला संकेत तो यह किया है–'तिवग्गिउं'–जघन्य असंख्यात-असंख्यात का तीन बार वर्ग[1] करो और वर्ग करने के पश्चात प्राप्त राशि में निम्नलिखित दस क्षेपक[2] मिलाये जायें—

१ लोकाकाश के प्रदेश,

२ धर्मास्तिकाय के प्रदेश,

३ अधर्मास्तिकाय के प्रदेश,

४ एक जीव के प्रदेश,

५ स्थितिबंध के अध्यवसाय स्थान,

६ अनुभागबंध के अध्यवसाय स्थान,

७ योग (मन, वचन, काय शक्ति) के छेद प्रतिभाग (जो सूक्ष्म निर्विभाज्य भाग होते हैं)

८ उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी इन दोनों कालों के समय,

९ प्रत्येक जीव के शरीर,

१० निगोद—साधारण वनस्पतिकाय के शरीर।

---

1 किसी संख्या का तीन बार वर्ग करना हो तो सर्वप्रथम उस संख्या का आपस में वर्ग करना, दूसरी बार फिर वर्गजन्य संख्या का वर्गजन्य संख्या से वर्ग करना, तीसरी बार दूसरी बार किये गये वर्ग से प्राप्त राशि का उसी के बराबर की राशि के साथ वर्ग करना। जैसे कि ५ का तीन बार वर्ग करना है तो ५ का पहला वर्ग ५×५=२५ हुआ। इस २५ का दूसरी बार इसी संख्या के साथ वर्ग करना २५×२५=६२५ यह दूसरा वर्ग हुआ। इस ६२५ का ६२५ से गुणा करना ६२५×६२५=३९०६२५ यह ५ का तीन बार वर्ग हुआ।

2 ये ही दस क्षेपक त्रिलोकसार गाथा ४२ से ४४ तक में भी निर्दिष्ट हैं।

उक्त दस क्षेपको के मिलाने पर जो राशि हो उसका तीन बार वर्ग करने पर प्राप्त संख्या जघन्य परीत्त-अनन्त है और इस जघन्य परीत्त-अनत की राशि का अभ्यास करने पर जघन्य युक्त-अनन्त कहलाता है। यही अभव्य जीवो का प्रमाण है अर्थात् इतनी अभव्य जीवो की संख्या है।

तव्वग्गे पुण जायइ णंताणंत लहु तं च तिक्खुत्तो ।
वग्गसु तह वि न तं होइ णंतखेवे खिवसु छ इमे ॥८४॥
सिद्धा निगोयजीवा वणस्सई काल पुग्गला चेव ।
सव्वमलोगनहं पुण ति वग्गिउं केवलदुगम्मि ॥८५॥
खित्ते णताणंतं हवेइ जिट्ठं तु ववहरइ मज्झं ।
इय सुहुमत्थवियारो लिहिओ देविंदसूरीहिं ॥८६॥

शब्दार्थ—**तव्वग्गे**—उसका वर्ग करने से, **पुण**—पुनः, **जायइ**—होता है, **णंताणतलहु**—जघन्य अनन्तानन्त, **तं**—उसको, **च**—और, **तिक्खुत्तो**—तीन वार, **वग्गसु**—वर्ग करने पर, **तहवि**—तो भी, **न तं होई**—वह (उत्कृष्ट अनन्तानन्त) नही होता है, **णंत**—अनत, **खेवे**—क्षेपक, **खिवसु**—मिलाओ, **छ इमे**—यह छह।

सिद्धा—सिद्ध जीव, **निगोयजीवा**—निगोद के जीव, **वणस्सई**—वनस्पतिकाय, **काल**—काल के समय, **पुग्गला**—पुद्गल परमाणु, **चेव**—और, **सव्वं**—सर्व, सभी, **अलोगनहं**—अलोकाकाश, **पुण**—पुन, **तिवग्गिउ**—तीन वार वर्ग करके, **केवलदुगम्मि**—केवल-द्विक के पर्याय।

खित्ते—मिलाने से, **णंताणंतं**—अनतानत, **हवेइ**—होता है, **जिट्ठ**—उत्कृष्ट, **तु**—और, **ववहरइ**—व्यवहार मे, **मज्झं**—मध्यम, **इय**—इस प्रकार, **सुहुमत्थवियारो**—सूक्ष्म अर्थ का विचार, **लिहिओ**—लिखा, **देविंदसूरीहिं**—देवेन्द्रसूरि ने।

गाथार्थ—उसका (जघन्य युक्तानन्त का) वर्ग करने

से जघन्य अनन्तानन्त होता है। जघन्य अनन्तानन्त का तीन बार वर्ग करने से ही उत्कृष्ट अनन्तानन्त नहीं हो जाता है किन्तु उसमें तीन बार वर्ग करके निम्नलिखित छह क्षेपक और मिलाना चाहिये—

सिद्ध, निगोद के जीव, वनस्पतिकायिक जीव, तीनों काल के समय, समस्त पुद्गल परमाणु, समग्र अलोकाकाश के प्रदेश। इन छह क्षेपकों को मिलाने के पश्चात तीन बार वर्ग करके उसमें केवलद्विक के पर्याय मिलायें।

उनके मिलाने से उत्कृष्ट अनन्तानन्त होता है। लेकिन व्यवहार में मध्यम अनन्तानन्त का ही प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार से श्री देवेन्द्रसूरि ने 'सूक्ष्म अर्थ विचार' प्रकरण लिखा है।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में जघन्य युक्तानन्त की राशि का प्रमाण बतलाया था। इन तीन गाथाओं में जघन्य अनन्तानन्त और उत्कृष्ट अनन्तानन्त का परिमाण बतलाते हुए ग्रंथ के नामोल्लेख पूर्वक प्रकरण-समाप्ति का संकेत किया है।

जघन्य अनन्तानन्त के परिमाण को बतलाते हुए कहा है कि 'तव्वग्गे पुण जायइ णंताणंत लहु' पूर्वोक्त जघन्य युक्तानन्त की संख्या का वर्ग करने से प्राप्त राशि जघन्य अनन्तानन्त की संख्या है और जघन्य अनन्तानन्त की राशि का तीन बार वर्ग करने से ही उत्कृष्ट अनन्तानन्त की संख्या का बोध नहीं हो जाता है। लेकिन उत्कृष्ट अनन्तानन्त की संख्या का ज्ञान करने के लिये सबसे पहले जघन्य अनन्तानन्त की संख्या का तीन बार वर्ग करके अनन्त संख्या वाली निम्नलिखित छह वस्तुओं (क्षेपकों)[1] को मिलाना चाहिये—

---

1 यही छह क्षेपक त्रिलोकसार की ४९वीं गाथा में भी वर्णित हैं।

१ सिद्ध जीव, २ निगोद के जीव, ३ वनस्पतिकाय के जीव, ४ काल (अतीत, अनागत और वर्तमान) के समय, ५ समग्र पुद्‌गल परमाणु और ६ समस्त लोक-अलोकाकाश के प्रदेश ।[1]

इन अनन्त सख्या वाली छः वस्तुओ को मिलाने के पश्चात् फिर से तीन बार वर्ग करके उसमे केवलद्विक—केवलज्ञान, केवलदर्शन की पर्यायों की संख्या[2] को मिलाने से उत्कृष्ट अनन्तानन्त की सख्या का परिमाण होता है। यह उत्कृष्ट अनन्तानन्त का परिमाण बोध के लिये है, लेकिन लोकालोक मे विद्यमान पदार्थो के मध्यम अनन्तानन्त प्रमाण होने से व्यवहार मे मध्यम अनन्तानन्त ही उपयोग मे लिया जाता है। उत्कृष्ट अनन्तानन्त निष्प्रयोजन होने से सिद्धान्त मे उपयोग मे न आने के कारण उसे ग्राह्य नही माना है।

इस प्रकार से ग्रथ के वर्ण्य विषय का विचार समाप्त हो जाने के पश्चात् ग्रथकार उपसहार करते है कि इस प्रकरण मे अनेक सूक्ष्म विषयो पर विचार व्यक्त किये जाने से इस प्रकरण का नाम भी सूक्ष्मार्थ विचार है और अब यह समाप्त किया जाता है।

गाथा ८० से ८६ तक कुल सात गाथाओ में असख्यात और अनन्त के भेदों व उसमे ग्रहण की गई असख्यात व अनन्त पर्याय वाली वस्तुओ के विषय मे कार्मग्रथिक मत का उल्लेख किया है। जिसका विशद स्पष्टीकरण यहाँ प्रस्तुत करते है—

गाथा ७१ से ७९ तक मे सैद्धान्तिक मत के अनुसार और गाथा ८० से ८६ तक कार्मग्रथिक मत के अनुसार सख्या का विचार किया गया है। पहले सख्यात के तीन, असख्यात के नौ और अनन्त के नौ,

१ मूल के 'अलोक' पद से लोक और अलोक दोनो प्रकार के आकाश विवक्षित है—अलोकाकाशमिति उपलक्षणत्वात् सर्वोऽपि लोकालोकप्रदेश-राशि ।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ० २१३

२ ज्ञेय पर्याय अनन्त होने से केवलज्ञान की पर्याये भी अनन्त है।

कुल इक्कीस भेद बतलाये हैं। इन इक्कीस भेदों में से पहले सात भेदों के स्वरूप में सैद्धांतिक और कार्मग्रंथिक दृष्टि से मत-भिन्नता नहीं है। लेकिन आठवें आदि शेष भेदों के स्वरूप के विषय में सैद्धांतिक और कार्मग्रंथिक मतभेद हैं।

संख्या विषयक सैद्धांतिक व कार्मग्रंथिक मत भिन्नता

कार्मग्रंथिक आचार्यों का कथन है कि जघन्य युक्त-असंख्यात का वर्ग करने से जघन्य असंख्यात-असंख्यात होता है लेकिन सैद्धांतिक मत में जघन्य युक्त-असंख्यात का अभ्यास करने पर जघन्य असंख्यात-असंख्यात बनता है। यानी कर्मग्रंथों में और सिद्धांत में जघन्य असंख्यात-असंख्यात की संख्या का परिमाण जानने के लिये जघन्य युक्त-असंख्यात की संख्या समान रूप से मानी है लेकिन कर्मग्रंथ में वर्ग करने और सिद्धान्त में अभ्यास करने का निर्देश किया है।

कर्मग्रंथों में जघन्य परीत्त-अनन्त की संख्या के परिमाण के लिये बताया है कि जघन्य असंख्यात-असंख्यात का तीन बार वर्ग करने के पश्चात असंख्यात प्रदेश, समय, अध्यवसाय स्थान वाली निम्नलिखित दस वस्तुओं को मिलाकर उस समस्त संख्या का फिर से तीन बार वर्ग करने से जो संख्या होती है, वह जघन्य परीत्त-अनन्त है—

(१) लोकाकाश के प्रदेश, (२) धर्मास्तिकाय के प्रदेश, (३) अधर्मास्तिकाय के प्रदेश, (४) एक जीव के प्रदेश, (५) स्थितिबंधजनक अध्यवसाय स्थान, (६) अनुभाग प्रदेश, (७) योग के निर्विभाग अंश, (८) अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी इन दोनों कालों के समय, (९) प्रत्येक शरीर और (१०) निगोद शरीर।

जबकि सिद्धांत में जघन्य असंख्यात-असंख्यात का राशि-अभ्यास करने से प्राप्त होने वाली संख्या को जघन्य परीत्त-अनन्त कहा है।

जघन्य युक्त-अनन्त का एक बार वर्ग करने से जघन्य अनन्तानन्त और जघन्य अनन्तानन्त का तीन बार वर्ग कर उसमें (१) सिद्ध जीव,

(२) निगोद के जीव, (३) वनस्पतिकायिक जीव, (४) तीनो कालों के समय, (५) सम्पूर्ण पुद्गल परमाणु और (६) समस्त आकाश के प्रदेश मिलाने के पश्चात तीन बार वर्ग करके उसमें केवलज्ञान और केवलदर्शन की संपूर्ण पर्यायो की सख्या मिलाने से उत्कृष्ट अनन्तानन्त की सख्या होती है।

लेकिन सिद्धान्त मे जघन्य परीत्त-अनन्त की सख्या के लिये जघन्य असख्यात-असख्यात का राशि-अभ्यास करना वतलाया गया है। इसी प्रकार जघन्य अनन्तानन्त की संख्या जघन्य युक्त-अनन्तानन्त क राशि का अभ्यास करने पर प्राप्त होती है।

कर्मग्रथ मे उत्कृष्ट अनन्त का परिमाण वताया है लेकिन सिद्धात मे उत्कृष्ट अनन्त नही माना है और इसका कारण वताते हुए कहा है कि जघन्य अनन्तानन्त के बाद के सभी स्थान मध्यम अनन्तानन्त मे समाविष्ट हो जाने से उत्कृष्ट अनन्तानन्त नही होता है—

एव उक्कोसय अणताणतयं नत्थि।

कार्मग्रथिक भी उत्कृष्ट अनन्तानन्त के परिमाण को वतलाते अवश्य है, लेकिन उसके लिये सिद्धात का मत ग्राह्य मानकर कहते है कि यह उत्कृष्ट अनन्तानन्त निष्प्रयोजन है। क्योकि लोकाकाश मे विद्यमान सभी पदार्थ मध्यम अनन्तानन्त प्रमाण ही है।

मध्यम या उत्कृष्ट सख्या का स्वरूप जानने की रीति मे सैद्धातिक और कार्मग्रथिकों मे मतभेद नही है किन्तु ७९वी और ८०वी गाथा मे वताये हुए दोनो मतो के अनुसार जघन्य असख्यात-असख्यात का स्वरूप भिन्न-भिन्न हो जाता है, अर्थात् सैद्धान्तिकमत से जघन्य युक्त-असख्यात का अभ्यास करने पर जघन्य असख्यात-असख्यात होता है और कार्मग्रथिक मत से जघन्य युक्त-असख्यात का वर्ग करने पर जघन्य असख्यात-असख्यात। इसी दृष्टिकोण की भिन्नता से मध्यम

युक्तासख्यात, उत्कृष्ट युक्तासख्यात आदि आगे की सख्याओ का स्वरूप भिन्न भिन्न बन जाता है। जघन्य असख्यात-असख्यात मे से एक घटाने पर उत्कृष्ट युक्त-असख्यात होता है और जघन्य युक्तासख्यात व उत्कृष्ट युक्तासख्यात के बीच की सख्यायें मध्यम युक्तासख्यात हैं।

इसी प्रकार आगे के भेदो की मध्यम सख्या के लिये समझना चाहिये कि जघन्य मे एक मिलाने के पश्चात से उत्कृष्ट से पूर्व तक की सब सख्यायें मध्यम हैं। जघन्य और उत्कृष्ट सख्याये एक-एक प्रकार की हैं लेकिन मध्यम सख्यायें एक प्रकार की नही हैं—मध्यम सख्यात के सख्यात भेद, असख्यात के असख्यात भेद और अनन्त के अनन्त भेद होते हैं। क्योकि जघन्य और उत्कृष्ट सख्या का मतलब तो किसी एक नियत सख्या से है किन्तु मध्यम सख्या के लिये यह बात नहीं है, क्योकि जघन्य और उत्कृष्ट के बीच सख्यात की सख्यात इकाइयां हैं असख्यात की असख्यात इकाइयाँ हैं और अनन्त की अनन्त इकाइयाँ हैं। यही इकाइयाँ क्रमश मध्यम सख्यात, मध्यम असख्यात और मध्यम अनन्त कहलाती हैं।

क्षेपकों की असख्यातता और अनन्तता का कारण

ग्रन्थकार ने जघन्य परीत्त-अनन्त की सख्या के लिये लोकाकाश के प्रदेश आदि असख्यात सख्या वाले दस क्षेपको को तथा उत्कृष्ट अनन्तानन्त की सख्या के परिमाण के लिये अनन्त सख्या वाले सिद्ध जीव आदि छह क्षेपकों को मिलाने के लिये सकेत किया है। यहाँ उनकी असख्यातता और अनन्तता का स्पष्टीकरण करते हैं।

लोकाकाश धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और एक जीव इन चारों के प्रदेश असख्यात-असख्यात हैं और आपस मे तुल्य हैं। जीवादि छह द्रव्यों के अवस्थान को लोक और जितने आकाश क्षेत्र मे छह द्रव्यों का अवस्थान है उसे लोकाकाश कहते हैं। वैसे तो जीव

अनन्त हैं लेकिन प्रत्येक जीव अपने प्रदेशत्व गुण की अपेक्षा से असख्यात प्रदेशी है, इसी प्रकार धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय भी असख्यात प्रदेशी हैं।[1]

ज्ञानावरण आदि प्रत्येक कर्म की स्थिति के जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त समय भेद से असख्यात भेद है। जैसे कि ज्ञानावरण कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है। इस जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति के बीच अन्तर्मुहूर्त से एक समय अधिक, दो समय अधिक, तीन समय अधिक आदि इस प्रकार एक-एक समय बढते-बढते एक समय कम तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम के बीच असख्यात समयों का अन्तर है। इसीलिये जघन्य और उत्कृष्ट स्थितियां निश्चित होने पर भी मध्यवर्ती स्थितियों के मिलाने से ज्ञानावरण की स्थिति के असंख्यात भेद हो जाते है। अन्य कर्मो की स्थिति के लिये भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए।

कर्मो की स्थिति के असख्यात भेद होने का कारण जीव के अध्यवसाय स्थानो का असख्यात होना है जो लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशो के बराबर हैं—

पइठिइम संखलोगसमा[2]

अनुभागबध के कारण जीव के कापायिक परिणाम हैं। इन कापायिक परिणामो के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मद, मन्दतर और मन्दतम आदि के भेद से असंख्यात भेद है। एक-एक कापायिक परिणाम से एक एक अनुभाग स्थान का बंध होता है। इसीलिये कापायिक परिणामजन्य अनुभागस्थान भी कापायिक परिणामो के तुल्य असख्यात ही माने जाते हैं।

---

१ असख्येया. प्रदेशा धर्माधर्मयो जीवस्य। —तत्त्वार्थसूत्र ५।७-८

२ पंचम कर्मग्रंथ गा० ५५ (देवेन्द्रसूरि कृत)

यहा यह भी समझ लेना चाहिये कि प्रत्येक स्थितिबन्ध मे असख्यात अनुभागस्थान होते हैं। क्योकि जितने अध्यवसाय उतने ही अनुभागस्थान होते हैं और प्रत्येक स्थितिबध मे कारणभूत अध्यवसाय असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण हैं।

योग के निर्विभाग अश असख्यात हैं। क्योकि योग मन, वचन, काय की शक्ति से जीव के प्रदेशो के परिस्पन्दन को कहते हैं और एक जीव के प्रदेश असख्यात होते हैं, इसका सकेत पहले किया जा चुका है। जिस अश का विभाग केवलज्ञान से भी न किया जा सके, उसको निर्विभाग अश कहते हैं।

यद्यपि अतीत, अनागत और वर्तमान की अपेक्षा काल द्रव्य अनन्त है, लेकिन जब उसमे से सिर्फ उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के समयो की सख्या का ग्रहण करते हैं तो उनके एक समय से लेकर बीस कोडा-कोडी सागरोपम के दो, तीन, चार आदि इस प्रकार से मध्यम असख्यात समयभेद हैं। इसीलिये उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के असख्यात भेद माने जाते हैं।

जिस शरीर का स्वामी एक ही जीव हो उसे प्रत्येक शरीर कहते हैं। प्रत्येक शरीर असख्यात ही हैं क्योकि पृथ्वीकायिक से लेकर त्रस काय पर्यन्त सब प्रकार के प्रत्येक जीव मिलाने से असख्यात ही होते हैं। जिस एक शरीर के धारण करने वाले अनन्त जीव हो वह निगोद शरीर है और ऐसे निगोद शरीर असख्यात ही हैं।

इस प्रकार से असख्यात सख्या वाले क्षेपको का विवेचन करने के बाद अनन्त सख्यक क्षेपको की अनन्तता बतलाते हैं।

अनादि-अनन्त इस लोक मे अनन्त जीव कर्मक्षय करके सिद्ध हो चुके हैं और अनन्त ही ससार मे विद्यमान हैं। इसीलिये सिद्ध जीवो के अनन्त मानने के साथ ससारस्थ जीवो—जिनमे निगोद व साधारण वनस्पतिकायिक जीवो का समावेश हो जाता है—की सख्या भी अनन्त

मानी है। काल द्रव्य अनन्त समय वाला है। पुद्गल द्रव्य के परमाणु और स्कन्ध यह दो भेद है। इनमे से स्कन्ध तो सख्यात और असख्यात प्रदेशी होने से सख्यात और असख्यात भी हो सकते है, लेकिन परमाणु रूप पुद्गल अनन्त सख्यक है। लोकाकाश के असख्यात प्रदेश हैं लेकिन उसके बाद का आकाश जो अलोकाकाश कहलाता है, उसके प्रदेशो का अन्त नही है, अनन्त प्रदेश हैं। इसीलिये आकाश के अनन्त प्रदेश माने जाते है।

कार्मग्रन्थिक मतानुसार असंख्यात, अनन्त के भेदों का स्वरूप

१ जघन्य परीत्त-असंख्यात—उत्कृष्ट संख्यात मे एक को मिलाने पर होता है।

२ मध्यम परीत्त-असख्यात—जघन्य परीत्त-असंख्यात मे एक के मिलाने के पश्चात जहाँ तक उत्कृष्ट परीत्त-असख्यात न हो जाये वहाँ तक की सख्या मध्यम परीत्त-असख्यात है।

३ उत्कृष्ट परीत्त-असख्यात—जघन्य युक्त-असख्यात में से एक को कम करने पर प्राप्त होने वाली सख्या।

४ जघन्य युक्त-असख्यात—उत्कृष्ट परीत्त-असख्यात मे एक सख्या मिलाने से होता है।

५ मध्यम युक्त-असख्यात—जघन्य और उत्कृष्ट युक्त असख्यात के वीच की सख्या।

६ उत्कृष्ट युक्त-असख्यात—जघन्य असख्यात-असख्यात में से एक से न्यून सख्या।

७ जघन्य असख्यात-असख्यात—जघन्य युक्त-असख्यात की संख्या का एक ही वार वर्ग करने पर प्राप्त सख्या।

८ मध्यम असख्यात-असख्यात—जघन्य और उत्कृष्ट असख्यात-असख्याल के वीच की सख्या।

६ उत्कृष्ट असंख्यात असंख्यात—जघन्य परीत्त अनन्त में से एक संख्या न्यून को कहते हैं।

१ जघन्य परीत्त-अनन्त—जघन्य असंख्यात-असंख्यात की संख्या का तीन बार वर्ग करके उसमें लोकाकाश के प्रदेश आदि दस असंख्यात संख्या वाली वस्तुओं (क्षेपकों) को मिलाने के पश्चात् समग्र राशि का पुनः तीन बार वर्ग करने से प्राप्त होने वाली संख्या को जघन्य परीत्त-अनन्त कहते हैं।

२ मध्यम परीत्त-अनन्त—जघन्य और उत्कृष्ट परीत्त-अनन्त के बीच की संख्या को कहते हैं।

३ उत्कृष्ट परीत्त-अनन्त—जघन्य युक्त-अनन्त में से एक न्यून संख्या उत्कृष्ट परीत्त-अनन्त है।

४ जघन्य युक्त-अनन्त—जघन्य परीत्त-अनन्त की राशि का अभ्यास करने से जघन्य युक्त अनन्त की संख्या होती है।

५ मध्यम युक्त-अनन्त—जघन्य व उत्कृष्ट युक्त-अनन्त की मध्यवर्ती संख्या है।

६ उत्कृष्ट युक्त-अनन्त—जघन्य अनन्तानन्त में से एक (रूप) कम संख्या उत्कृष्ट युक्त अनन्त कहलाती है।

७ जघन्य अनन्त-अनन्त—जघन्य युक्त-अनन्त का एक बार वर्ग करने से जघन्य अनन्त अनन्त होता है।

८ मध्यम अनन्त-अनन्त—जघन्य अनन्तानन्त को एकादि से युक्त करने के पश्चात उत्कृष्ट अनन्तानन्त तक की संख्या के पूर्व तक की संख्या मध्यम अनन्तानन्त कहलाती है।

६ उत्कृष्ट अनन्त-अनन्त—जघन्य अनन्तानन्त की संख्या का तीन बार वर्ग करके उसमें अनन्त संख्या वाले छह क्षेपक—सिद्ध जीव निगोद जीव, वनस्पतिकायिक जीव, तीन काल त्रिकालिक समय, पुद्गल परमाणु, आकाश के प्रदेश—की अनन्त संख्या को मिलाकर उस राशि

का पुनः तीन बार वर्ग करके केवलद्विक की पर्यायों के मिलाने से उत्कृष्ट अनन्तानन्त होता है। लेकिन इसको उपयोग की दृष्टि से अग्राह्य माना है।

इस प्रकार से कार्मग्रन्थिक दृष्टि से संख्यात, असंख्यात और अनन्त के प्रभेदों का निरूपण किया गया है।

ग्रन्थ में छियासी गाथायें होने से यह 'षडशीति' कहा जाता है तथा विभिन्न सूक्ष्म विषयों का विवेचन किये जाने से इसका दूसरा नाम 'सूक्ष्मार्थविचार' भी है। लोक-प्रचलित भाषा में इसे चतुर्थ कर्मग्रंथ भी कहा जाता है।

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि ने प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रंथ के आधार से इसकी रचना की है और संक्षेप में उसके सभी विषयों का दिग्दर्शन करा दिया है।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ समाप्त।

परिशिष्ट

- चतुर्थ कर्मग्रन्थ की मूल गाथायें
- कषायमार्गणा के लेश्या व आयु बन्धाबन्ध की अपेक्षा भेद
- परिहारविशुद्धि संयम विषयक संक्षिप्त विवरण
- सम्यक्त्वत्रिक का अपर्याप्त संज्ञी अवस्था में पाये जाने का स्पष्टीकरण
- मार्गणाओं के अल्पबहुत्व सम्बन्धी आगम पाठ
- उत्तर प्रकृतियों और तीर्थंकर, आहारकद्विक के बंधहेतुओं विषयक पंचसंग्रह का मंतव्य
- गाथाओं की अकाराद्यनुक्रमणिका

परिशिष्ट १

चतुर्थ कर्मग्रन्थ की मूल गाथाएँ

नमिय जिण जियमग्गणगुणठाणुवओगजोगलेसाओ।
बन्धऽप्पवहूभावे सखिज्जाई किमवि वुच्छ ॥१॥
इह सुहुमवायरेगिदिवितिचउअसन्निसन्निपचिंदी।
अपजत्ता पज्जत्ता कमेण चउदस जियट्ठाणा ॥२॥
वायरअसन्निविगले अपज्जि पढमविय सन्निअपजत्ते।
अजयजुय सन्निपज्जे सव्वगुणा मिच्छ सेसेसु ॥३॥
अपजत्तछक्कि कम्मुरलमीस जोगा अपज्जसन्निसु ते।
सविउव्वमीस एसु तणुपज्जेसु उरलमन्ने ॥४॥
सव्वे सन्निपजत्ते उरल सुहुमे सभासु तं चउसु।
वायरि सविउव्विदुग पजसन्निसु वार उवओगा ॥५॥
पज चउरिंदिअसन्निसु दुदस दुअनाण दससु चक्खुविणा।
सन्निअपज्जे मणनाण चक्खु केवलदुग विहूणा ॥६॥
सन्निदुगि छलेस, अपज्जवायरे पढमचउ ति सेसेसु।
सत्तट्ठ वन्धुदीरण सतुदया अट्ठ तेरससु ॥७॥
सत्तट्ठछेग वंधा संतुदया सत्त अट्ठ चत्तारि।
सत्त-ट्ठ-छ-पंच-दुगं उदीरणा सन्नि पज्जत्ते ॥८॥
गइइदिए य काए जोए वेए कसायनाणेसु।
संजमदसणलेसा भवसम्मे सन्निआहारे ॥९॥
सुरनरतिरिनिरयगइ इगवियतियचउपणिंदि छक्काया।
भूजलजलणाऽनिलवणतसा य मणवयणतणुजोगा ॥१०॥
वेय नरित्थिनपुसा कसाय कोहमयमायलोभ त्ति।
मइसुयऽवहिमणकेवलविभगमइसुअनाण सागारा ॥११॥

सामइय छेय परिहार सुहुम अहखाय देस जय अजया ।
चक्खु अचक्खू ओही केवलदसण अणागारा ॥१२॥
किण्हा नीला काऊ तेऊ पम्हा य सुक्क भव्वियरा ।
वेयग खइगुवसम मिच्छ मीम सासाण सन्नियरे ॥१३॥
आहारेयर भेया सुरनरयविभगमइसुओहिदुगे ।
सम्मत्ततिगे पम्हा सुक्का सन्नीसु सन्निदुग ॥१४॥
तमसन्नि अपज्जजुय नरे सवायर अपज्ज तेऊए ।
थावर इगिंदि पढमा चउ वार असन्नि दु दु विगले ॥१५॥
दस चरम तसे अजयाहारग तिरि तणु कसाय दु अनाणे ।
पढमतिलेसा भवियर अचक्खु नपु मिच्छि सव्वे वि ॥१६॥
पजसन्नी केवलदुग सजयमणनाणदेसमणमीसे ।
पण चरम पज्ज वयणे तिय छ व पज्जियर चक्खुम्मि ॥१७॥
थीनरपणिंदि चरमा चउ अणहारे दु सन्नि छ अपज्जा ।
ते सुहुमअपज्ज विणा सासणि इत्तो गुणे वुच्छ ॥१८॥
पण तिरि चउ सुरनरए नर सन्नि पणिंदि भव्व तसि सव्वे ।
इग विगल भू दग वणे दु दु एग गइतस अभव्वे ॥१९॥
वेय ति कसाय नव दस लोभे चउ अजइ दु ति अनाणतिगे ।
बारस अचक्खुचक्खुसु पढमा अहखाइ चरम चउ ॥२०॥
मणनाणि सग जयाई समइय छेय चउ दुन्नि परिहारे ।
केवलदुगि दो चरमाऽजयाइ नव मइसु ओहिदुगे ॥२१॥
अड उवसमि चउ वेयगि खइगे इक्कार मिच्छतिगि देसे ।
सुहुमे य सठाण तेर जोग आहार सुक्काए ॥२२॥
अस्सन्निसु पढमदुग पढमतिलेसासु छच्च दुसु सत्त ।
पढमतिमदुगअजया, अणहारे मग्गणासु गुणा ॥२३॥
सच्चेयर मीस असच्चमोस मण वइ विउव्वियाहारा ।
उरल मीसा कम्मण इय जोगा कम्ममणहारे ॥२४॥

नरगइ पणिंदि तस तणु अचक्खु नर नपु कसाय सम्मदुगे ।
सन्नि छलेसाहारग भव्व मइ सुओहिदुगि सव्वे ॥२५॥
तिरि इत्थि अजय सासण अनाण उवसम अभव्व मिच्छेसु ।
तेराहारदुगूणा ते उरलदुगूण सुरनरए ॥२६॥
कम्मुरलदुग थावरि ते सविउव्विदुग पंच इगि पवणे ।
छ असन्नि चरमवइजुय ते विउविदुगूण चउ विगले ॥२७॥
कम्मुरलमीस विणु मणवइ समइय छेय चक्खु मणनाणे ।
उरलदुग कम्म पढमतिम मणवइ केवलदुगम्मि ॥२८॥
मणवइउरला परिहारि सुहुमि नव ते उ मीसि सविउव्वा ।
देसे सविउव्विदुगा सकम्मुरलमिस्स अहखाए ॥२९॥
तिअनाण नाण पण चउ दसण बार जिय लक्खणुवओगा ।
विणु मणनाण दुकेवल नव सुरतिरिनिरयअजएसु ॥३०॥
तस जोय वेय सुक्काहार नर पणिंदि सन्नि भवि सव्वे ।
नयणेयर पण लेसा कसाइ दस केवलदुगूणा ॥३१॥
चउरिंदिऽसन्नि दुअनाणदंस इग बि ति थावरि अचक्खू ।
तिअनाण दसणदुग अनाणतिग अभव मिच्छदुगे ॥३२॥
केवलदुगे नियदुग नव तिअनाण विणु खइय अहखाए ।
दसणनाणतिग देसि मीसि अन्नाणमीस तं ॥३३॥
मणनाणचक्खुवज्जा अणहारे तिन्नि दस चउ नाणा ।
चउनाणसजमोवसम वेयगे ओहिदसे य ॥३४॥
दो तेर तेर बारस मणे कमा अट्ठ दु चउ चउ वयणे ।
चउ दु पण तिन्नि काए जियगुणजोगोवओगऽन्ने ॥३५॥
छसु लेसासु सठाण एगिंदि असन्नि भूदगवणेसु ।
पढमा चउरो तिन्नि उ नारय विगलग्गि पवणेसु ॥३६॥
अहखाय सुहुम केवलदुगि सुक्का छावि सेसठाणेसु ।
नरनिरयदेवतिरिया थोवा दु असखऽणतगुणा ॥३७॥

पण चउ ति दु एगिंदी थोवा तिन्नि अहिया अणतगुणा ।
तस थोव असखऽग्गी भूजलनिल अहिय वणऽणता ॥३८॥
मणवयणकायजोगी थोवा अस्सखगुण अणतगुणा ।
पुरिसा थोवा इत्थी सखगुणाऽणतगुण कीवा ॥३६॥
माणी कोही माई लोही अहिय मणनाणिणो थोवा ।
ओहि असखा मइसुय अहिय सम असख विब्भगा ॥४०॥
केवलिणो णतगुणा मइसुयअन्नाणि णतगुण तुल्ला ।
सुहुमा थोवा परिहार सख अहखाय सखगुणा ॥४१॥
छेय समईय सखा देस असखगुण णतगुण अजया ।
थोव असख दु णता ओहि नयण केवल अचक्खू ॥४२॥
पच्छाणुपुव्वि लेसा थोवा दो सख णत दो अहिया ।
अभवियर थोव णता सासण थोवोवसम सखा ॥४३॥
मीसा सखा वेयग असखगुण खइय मिच्छ दु अणता ।
सनियर थोव णताऽणहार थोवेयर असखा ॥४४॥
सव्वजियठाण मिच्छे सग सासणि पण अपज्ज सनिदुग ।
सम्मे सन्नी दुविहो सेसेसु सनिपज्जत्तो ॥४५॥
मिच्छदुग अजइ जोगाहारदुगूणा अपुव्वपणगे उ ।
मणवइउरल सविउव्व मीसि सविउव्वदुग देसे ॥४६॥
साहारदुग पमत्ते ते विउवाहारमीस विणु इयरे ।
कम्मुरलदुगताइममणवयण सजोगि न अजोगी ॥४७॥
तिअनाण दुदसाइमदुगे अजइ देसि नाणदसतिग ।
ते मीसि मीस समणा जयाइ केवलिदुगतदुगे ॥४८॥
सासणभावे नाण विउव्वगाहारगे उरलमिस्स ।
नेगिंदिसु सासाणो नेहाहिगय सुयमय पि ॥४९॥
छसु सव्वा तेउतिग इगि छसु सुक्का अजोगि अल्लेसा ।
बधस्स मिच्छअविरइकसायजोग त्ति चउ हेऊ ॥५०॥

अभिगहियमणभिगहियाऽऽभिनिवेसिय ससइयमणाभोग ।
पण मिच्छ वार अविरइ मणकरणानियमु छजियवहो ॥५१॥
नव सोल कसाया पनर जोग इय उत्तरा उ सगवन्ना ।
इगचउपणतिगुणेसु चउतिदुइगपच्चओ वन्धो ॥५२॥
चउमिच्छमिच्छअविरइपच्चइया सायसोलपणतीसा ।
जोग विणु तिपच्चइयाऽऽहारगजिणवज्ज सेसाओ ॥५३॥
पणपन्न पन्न तियछहिय चत्त गुणचत्त छचउदुगवीसा ।
सोलस दस नव नव सत्त हेउणो न उ अजोगिम्मि ॥५४॥
पणपन्न मिच्छि हारगदुगूण सासाणि पन्न मिच्छ विणा ।
मिस्सदुगकम्मअण विणु तिचत्त मीसे अह छचत्ता ॥५५॥
सदुमिस्सकम्म अजए अविरइकम्मुरलमीसविकसाए ।
मुत्तु गुणचत्त देसे छवीस साहारदु पमत्ते ॥५६॥
अविरइ इगार तिकसायवज्ज अपमत्ति मीसदुगरहिया ।
चउवीस अपुव्वे पुण दुवीस अविउव्वियाहारा ॥५७॥
अछहास सोल वायरि सुहुमे दस वेयसजलणति विणा ।
खीणुवसति अलोभा सजोगि पुव्वुत्त सग जोगा ॥५८॥
अपमत्तता सत्तट्ठ मीस अप्पुव्ववायरा सत्त ।
वधइ छ स्सुहमो एगमुवरिमाऽवधगाऽजोगी ॥५९॥
आसुहुम सतुदए अट्ठ वि मोह विणु सत्त खीणम्मि ।
चउ चरिमदुगे अट्ठ उ सते उवसति सत्तुदए ॥६०॥
उइरति पमत्तना सगट्ठ मीसट्ठ वेयआउ विणा ।
छग अपमत्ताइ तओ छ पच सुहुमो पणुवसतो ॥६१॥
पण दो खीण दु जोगी णुदीरगु अजोगि थेव उवसता ।
संखगुण खीण सुहुमा नियट्टिअप्पुव्व सम अहिया ॥६२॥
जोगि अपमत्त इयरे सखगुणा देससासणामीसा ।
अविरय अजोगिमिच्छा असख चउरो दुवे णता ॥६३॥

उवसमखयमीसोदयपरिणामा दु नव ठार इगवीसा।
तियभेय सन्निवाइय सम्म चरण पढम भावे ॥६४॥
बीए केवलजुयलं सम्मं दाणाइलद्धि पण चरणं।
तइए सेसुवओगा पण लद्धी सम्म विरइदुगं ॥६५॥
अन्नाणमसिद्धत्तासंजमलेसाकसायगइवेया।
मिच्छं तुरिए भव्वाभव्वत्तजियत्तपरिणामे ॥६६॥
चउ चउगईसु मीसगपरिणामुदएहिं चउ सखइएहिं।
उवसमजुएहिं वा चउ केवलि परिणामुदयखइए ॥६७॥
खयपरिणामे सिद्धा नराण पणजोगुवसमसेढीए।
इय पनर सन्निवाइयभेया वीसं असंभविणो ॥६८॥
मोहेव समो मीसो चउघाइसु अट्ठकम्मसु य सेसा।
धम्माइ पारिणामिय भावे खंधा उदइए वि ॥६९॥
सम्माइचउसु तिग चउ भावा चउ पणुवसामगुवसंते।
चउ खीणापुव्वि तिन्नि सेसगुणट्ठाणगेगजिए ॥७०॥
संखिज्जेगमसंखं परित्तजुत्तनियपयजुयं तिविहं।
एवमणंतं पि तिहा जहन्नमज्झुक्कसा सव्वे ॥७१॥
लहु संखिज्जं दु च्चिय अओ परं मज्झिमं तु जा गुरुयं।
जंबूद्दीवपमाणयचउपल्लपरूवणाइ इमं ॥७२॥
पल्लाऽणवट्ठियसलागपडिसलागमहासलागक्खा।
जोयणसहसोगाढा सवेइयंता ससिहभरिया ॥७३॥
तो दीवुदहिसु इक्किक्कं सरिसवं खिविय निट्ठिए पढमे।
पढमं व तदंतं चिय पुण भरिए तम्मि तह खीणे ॥७४॥
खिप्पइ सलागपल्लेगु सरिसवो इय सलागखव(खि)वणेणं।
पुन्नो बीओ य तओ पुव्वं पिव तम्मि उद्धरिए ॥७५॥
खीणे सलाग तइए एवं पढमेहिं बीययं भरसु।
तेहिं य तइयं तेहि य तुरियं जा किर फुडा चउरो ॥७६॥

पढमतिपल्लुद्धरिया दीवुदही पल्लचउसरिसवा य।
सव्वो वि एस रासी रूवूणो परमसखिज्ज ॥७७॥
रूवजुय तु परित्तासख लहु अस्स रासि अब्भासे।
जुत्तासखिज्ज लहु आवलियासमयपरिमाण ॥७८॥
वितिचउपचमगुणणे कमा सगासख पढमचउसत्त।
णंता ते रूवजुया मज्झा रूवूण गुरु पच्छा ॥७९॥
इय सुत्तुत्त अन्ने वग्गियमिक्कसि चउत्थयमसख।
होइ असखासख लहु रूवजुय तु त मज्झ ॥८०॥
रूवूणमाइम कुरु ति वग्गिउ त इम दस क्खेवे।
लोगागासपएसा धम्माधम्मेगजियदेसा ॥८१॥
ठिइबधज्झवसाया अणुभागा जोगछेयपलिभागा।
दुण्ह य समाण समया पत्तेयनिगोयए खिवसु ॥८२॥
पुण तम्मि तिवग्गियए परित्तणत लहु तस्स रासीण।
अब्भासे लहू जुत्ताणत अब्भव्वजियमाण ॥८३॥
तव्वग्गे पुण जायइ णताणत लहु त च तिक्खुत्तो।
वग्गसु तह वि न त होइ णतखेवे खिवसु छ इमे ॥८४॥
सिद्धा नियोगजीवा वणस्सई काल पुग्गला चेव।
सव्वमलोगनह पुण ति वग्गिउ केवलदुगम्मि ॥८५॥
खित्ते णताणत हवेइ जिट्ठ तु ववहरइ मज्झ।
इय सुहुमत्थवियारो तिहिओ देविदसूरीहि ॥८६॥

□

परिशिष्ट २

कषायमार्गणा के लेश्या व आयु बंधाबंध की अपेक्षा भेद

काषायिक शक्ति के तीव्र मंद भाव की अपेक्षा क्रोधादि प्रत्येक कषाय के अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण आदि चार चार भेद कर्मग्रंथ और दिगम्बर साहित्य (गो० जीवकांड) में एक रूप हैं। लेकिन गो० जीवकांड में लेश्या की अपेक्षा से चौदह-चौदह और आयु बंधाबंध की अपेक्षा बीस बीस भेद भी किए गये हैं। यह विचार श्वेताम्बरीय ग्रंथों में देखने में नहीं आया है।

दिगम्बर साहित्य का कषायमार्गणा के उक्त भेदों संबंधी दृष्टिकोण मननीय होने से यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

कषाय की व्याख्या इस प्रकार की है—जीव के सुख-दुःख आदि रूप अनेक प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले कर्म रूपी क्षेत्र का जिसके द्वारा कर्षण होता है उसे कषाय कहते हैं।

कषाय परिणामों द्वारा आत्मिक गुणों का घात होता है। आत्मा का मुख्य कार्य है आत्मस्वरूप का बोध, प्रतीति और आत्मलाभ, स्वस्थिति और कषाय विशेषों द्वारा स्वरूप बोध और प्राप्ति को न होने देने का कार्य करती है। स्वरूपबोध न होने देने वाले काषायिक परिणाम अनन्तानुबंधी तथा लाभ के विघातक परिणाम अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण एवं संज्वलन हैं। स्वरूपबोध होना प्रमुख है और लाभप्राप्ति तो क्रमशः होती है। इसीलिए स्वरूपबोध के विघातक परिणाम का लिए एक अनन्तानुबंधी प्रकार है जबकि लाभप्राप्ति की आंशिक सार्वदेशिक आदि अपेक्षाओं की क्रमिक स्थिति के कारण अप्रत्याख्यानावरण आदि तीन प्रकार हैं। अर्थात् अनन्तानुबंधी कषाय परिणामों के द्वारा सम्यक्त्व (स्वरूपबोध) का और अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण एवं संज्वलन रूप काषायिक परिणामों द्वारा क्रमशः स्वरूप लाभ रूप देशचारित्र सकलचारित्र और यथाख्यातचारित्र का घात होता है।

उक्त अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण आदि चारों प्रकार के काषायिक परिणामों के शक्ति की अपेक्षा से कषायों के मूलभेद क्रोध मान, माया और लोभ

मे से क्रोध के क्रमश. पत्थर की रेखा, पृथ्वी की रेखा, धूलिरेखा और जल-रेखा के समान परिणाम होते है। मान के पत्थर के समान, हड्डी के समान, काष्ठ के समान और वेत के समान, माया के वास की जड के समान, मेढे के सीग के समान, गोमूत्र के समान और खुरपा के ममान और लोभ के क्रिमिराग, चक्रमल, शरीरमल और हल्दी के रग के समान परिणाम होते है। ये परिणाम क्रमश नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति मे जन्मप्राप्ति के कारण है।

श्वेताम्वर साहित्य मे भी अनन्तानुवन्धी क्रोध आदि के लिए उक्त दिगम्बर ग्रन्थ के समान उपमाओ को दिया है। लेकिन किन्ही-किन्ही उपमाओ मे विभिन्नता है, परन्तु उससे क्रोध आदि के यथार्थ स्वरूप के वारे मे किसी प्रकार का अन्तर नही आता है।

इस प्रकार से शिलाभेद आदिक चार प्रकार का क्रोध, शैल आदिक के समान चार प्रकार का मान, वेणुमूल आदि के समान चार प्रकार की माया और क्रमिराग आदि के समान चार प्रकार का लोभ, यह क्रम से शक्ति की अपेक्षा चार-चार स्थान है। अव लेश्या की अपेक्षा चौदह-चौदह और आयु वधावध की अपेक्षा वीस-वीम भेद वतलाते है।

लेश्या की अपेक्षा चौदह भेद इस प्रकार वनते हैं—

शिलाभेद के ममान क्रोध मे केवल कृष्णलेश्या की अपेक्षा से एक ही स्थान होता है। पृथ्वी समान क्रोध मे कृष्ण आदिक लेश्याओ की अपेक्षा छह स्थान है। धूलि समान क्रोध मे कृष्ण से लेकर शुक्ल तक छह स्थान होते है और जल ममान क्रोध मे केवल शुक्ललेश्या का ही एक स्थान होता है। इसी प्रकर मान, माया और लोभ के भी उनके उपमानो की अपेक्षा लेश्या सम्वन्धी चौदह-चौदह भेद समझना चाहिये

लेश्या के आधार से क्रोध आदि लोभ पर्यन्त चारो कषायो के वनने वाले चौदह-चौदह भेदो को क्रोध कषाय के शक्ति की अपेक्षा होने वाले चार प्रकारो द्वारा स्पष्ट करते हैं।

शिलाभेद समान क्रोध मे केवल कृष्णलेश्या का एक ही स्थान होता है। पृथ्वीभेद ममान क्रोध मे छह स्थान होते है—पहला कृष्णलेश्या का, दूसरा कृष्ण-नील लेश्या का, तीसरा कृष्ण-नील-कापोत लेश्या का, चौथा कृष्ण-

नील-कापोत पीत लेश्या का, पाँचवां कृष्ण-नील-कापोत-पीत-पद्म लेश्या का, छठा कृष्ण नील-कापोत पीत-पद्म शुक्ल लेश्या का। धूलिरेखा समान क्रोध में भी छह स्थान होते हैं—पहला कृष्णादि छह लेश्या का, दूसरा कृष्ण रहित पांच लेश्या का, तीसरा कृष्ण नील रहित चार लेश्या का, चौथा कृष्ण-नील-कपोत रहित तीन शुभ लेश्या का, पांचवां पद्म और शुक्ल लेश्या का, छठा केवल शुक्ललेश्या का। जलरेखा समान क्रोध में एक शुक्ल लेश्या का ही स्थान होता है। जिस प्रकार क्रोध के लेश्याओं की अपेक्षा ये चौदह स्थान बताये हैं, इसी प्रकार मानादिक कषायों में भी चौदह-चौदह भेद समझना चाहिए।

आयु के बंधाबंध की अपेक्षा बीस-बीस स्थान क्रमशः इस प्रकार बताते हैं—

शैलभेद गत क्रोध में सिर्फ एक कृष्णलेश्या का स्थान होता है। उस कृष्णलेश्या में कुछ स्थान ऐसे हैं जहां पर आयु बंध नहीं होता है। इसके अनन्तर कुछ स्थान ऐसे हैं कि जिनमें नरक आयु का बंध होता है। इसके बाद पृथ्वीभेद गत पहले और दूसरे स्थान में नरक आयु का ही बंध होता है। इसके बाद कृष्ण-नील-कापोत लेश्या के तीसरे भेद में कुछ स्थान ऐसे हैं जहां नरक आयु का ही बंध होता है और कुछ स्थान ऐसे हैं जहां पर नरक तिर्यंच दो आयु का बंध हो सकता है तथा कुछ स्थान ऐसे हैं जहां पर नरक, तिर्यंच और मनुष्य तीनों ही आयु का बंध हो सकता है। शेष तीनों स्थानों में चारों आयु का बंध हो सकता है।

धूलिभेद गत छह लेश्या वाले प्रथम भेद के कुछ स्थानों में चारों आयु का बंध होता है। इसके अनन्तर कुछ स्थानों में नरक आयु को छोड़कर तीन आयु का और कुछ स्थानों में नरक, तिर्यंच को छोड़कर दो आयु का बंध होता है। कृष्ण लेश्या को छोड़कर पांच लेश्या वाले दूसरे स्थान में तथा कृष्ण नील लेश्या को छोड़कर चार लेश्या वाले तीसरे स्थान में केवल देवायु का बंध होता है। अन्त की तीन लेश्या वाले चौथे भेद के कुछ स्थानों में देवायु का बंध होता है और कुछ स्थानों में आयु का अबंध है। पद्म और शुक्ल लेश्या वाले पांचवें स्थान में और केवल शुक्ललेश्या वाले छठे स्थान में आयु का अबंध है। जलरेखा गत केवल शुक्ललेश्या वाले एक स्थान में भी आयु का अबंध है।

इस प्रकार कषायों के शक्ति की अपेक्षा चार भेद, लेश्याओं की अपेक्षा चौदह भेद, आयु के बन्धाबन्ध की अपेक्षा बीस भेद होते हैं। इनमें प्रत्येक के अवान्तर भेद असंख्यात लोकप्रमाण हैं तथा अपने-अपने उत्कृष्ट में अपने-अपने जघन्य तक क्रम से असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे हीन हैं।

लेश्या की अपेक्षा चौदह-चौदह स्थानों और आयु बन्धाबन्ध की अपेक्षा बीस-बीस भेदों सम्बन्धी गो० जीवकांड की गाथायें इस प्रकार हैं—

किण्ह सिलासमाणे किण्हादि छक्कमेण भूमिम्हि।
छक्कादी सुक्कोत्ति य धूलिम्मि जलिम्मि सुक्केक्का ॥ २९२

सेलगकिण्हे सुण्ण णिरयं च य भूगएगविट्ठाणे।
णिरयं इगिविति‌आऊ तिट्ठाणे चारि सेसपदे ॥ २९३

धूलिगछक्कट्ठाणे चउराऊतिगदुगं च उवरिल्लं।
पणचदुट्ठाणे देवं देवं सुण्णं च तिट्ठाणे ॥ २९४

सुण्ण दुगइगिठाणे जलम्हि सुण्णं असंखभजिदकमा।
चउचोदसवीसपदा असंखलोगा हु पत्तेयं ॥ २९५

कषाय के चार, चौदह, बीस भेदों के स्पष्टीकरण के लिये संलग्न यंत्र को देखिए—

कषायो के शक्तिस्थान, लेश्यास्थान और आयुबन्धस्थान

गावनस्थान ८	निद्राभेद १		पृथ्वीभेद २							
लेश्यास्थान १४	कृष्ण लेश्या १		कृष्ण १	कृष्ण नील २	कृष्ण नील का० ३			कृष्ण नील का पी ४	कृष्ण नील क पी प ५	कृष्ण नील का पी प शु ६
आयुबन्धस्थान २०	०	१ नरक	१ नरक	१ नरक	१ नरक	२ नरक तिर्यच	३ नरक तिर्यच मनुष्य	४ नरक तिर्यच मनुष्य देव	४ नरक तिर्यच मनुष्य देव	४ नरक तिर्यच मनुष्य देव

शक्तिस्थान ४	घूलिभेद ३									जलरेखा ४
लेश्यास्थान १४	कृ नी का पी प. शु ६			नी का पी. प. शु ५	का.पी.प शु ४	पी. प. शु ३		प शु. २	शु १	शुक्ललेश्या ०
आयु बन्ध बध स्थान २०	४ नरक तिर्यंच मनुष्य देव	३ तिर्यंच मनुष्य देव	२ मनुष्य देव	१ देव	१ देव	१ देव	०	०	०	०

परिशिष्ट ३

परिहारविशुद्धि सयम विषयक सक्षिप्त विवरण

परिहारविशुद्धि सयम धारक आदि के बारे म यथास्थान सक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत की है। विशेष यह चारित्र वाला कब और किस क्षेत्र मे होता है तत्सबधी वर्णन आगमो म निम्नलिखित २० द्वारो से किया है—

१ क्षेत्रद्वार २ कालद्वार ३ चारित्रद्वार ४ तीर्थद्वार ५ पर्यायद्वार, ६ आगमद्वार ७ वेदद्वार ८ कल्पद्वार ९ लिगद्वार, १० लेश्याद्वार, ११ ध्यानद्वार, १२ गणद्वार १३ अभिग्रहद्वार १४ प्रव्रज्याद्वार, १५ मुडापनद्वार १६ प्रायश्चित्तविधिद्वार १७ कारणद्वार १८ निष्प्रतिकर्मद्वार, १९ भिक्षाद्वार २० वधद्वार।

उक्त बीस द्वारो का विवरण क्रमश इस प्रकार है—

(१) क्षेत्र—जन्म और सद्भाव की अपेक्षा क्षेत्र का दो प्रकार से विचार किया गया है। जिस क्षेत्र म जन्म होता है वह जन्मक्षेत्र और जहाँ कल्पस्थित होकर विद्यमान रहते हैं वह सद्भावक्षेत्र कहलाता है।

परिहारविशुद्धि चारित्र अगीकार करने वाले मुनियो का जन्मक्षेत्र ५ भरत और ५ ऐरावत क्षेत्र हैं महाविदेह क्षेत्र नहीं। इस चारित्र को अगीकार करने के बाद भी ५ भरत और ५ ऐरावत हैं। जिनकल्पियो की तरह इस चारित्र के धारकों का भी सहरण न होने स सर्वक्षेत्रों का ग्रहण नहीं किया है। सारांश यह है कि परिहारविशुद्धि चारित्र के धारको का जन्म और सद्भाव क्षेत्र ५ भरत व ५ ऐरावत क्षेत्र हैं—

खित्ते दुविहे मग्गण जम्मणओ चेव सति भावे य।
जम्मणओ जहिं जाओ सतीभावो य जहिं कप्पो।[1]
भरहे एरवएसु हु ति सहरणवज्जिया नियमा।[2]

(२) काल—अवसर्पिणी के तीसरे और चौथे आरे म इनका जन्म होता है

---

१ पचवस्तुक गा० १४८४
२ वही गा० १५२८

और सद्भाव अवसर्पिणी के तीसरे, चौथे और पांचवें आरे में तथा उत्सर्पिणी के दूसरे, तीसरे और चौथे आरे में। जन्म तथा सद्भाव तीसरे, चौथे आरे में भी। नोउत्सर्पिणी और नोअवसर्पिणी में नहीं होते हैं।

(३) चारित्र—सामायिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र के संयम स्थान से ऊपर के जो असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण परिहारविशुद्धि के संयम स्थान हैं उनमें विद्यमान जीव को ही यह चारित्र होता है। यानी परिहारविशुद्धि कल्प की प्रतिपत्ति स्वकीय संयमस्थान में वर्तमान जीव को ही होती है, दूसरों को नहीं।

(४) तीर्थ—जिनेश्वर का शासन प्रवर्तमान हो तभी होता है। तीर्थ के उच्छेद, अनुत्पत्ति में नहीं होता है और न तीर्थ के अभाव में जातिस्मरण आदि ज्ञान के द्वारा भी होता है।

(५) पर्याय—पर्याय के दो भेद हैं—गृहस्थपर्याय (अवस्था) और यति-पर्याय। यह दोनों पर्यायें भी उत्कृष्ट व जघन्य—दो-दो प्रकार की हैं। गृहस्थ-पर्याय जघन्य से २९ वर्ष और यतिपर्याय २० वर्ष और दोनों की उत्कृष्ट स्थिति देशोन पूर्वकोटि वर्ष।

(६) आगम—नया अध्ययन, पठन-पाठन नहीं करते हैं किन्तु पहले के पढे हुए का नित्य ही एकाग्र मन से सम्यक्तया अनुस्मरण करते हैं।

(७) वेद—प्रवृत्ति के समय पुरुषवेद या नपुंसकवेद होता है। स्त्री-वेदी को इस कल्प का निषेध है।

(८) कल्प—स्थितकल्प ही होता है। आचेलक्य आदि दस स्थानों में जो स्थित हैं वे स्थितकल्प कहलाते हैं। आचेलक्य आदि दस नाम पहले बतलाये जा चुके हैं।

(९) लिंग—द्रव्यलिंग (मुनिवेश) और भावलिंग दोनों ही होते हैं। क्योंकि दोनों में से किसी एक के अभाव में भावना करना सम्भव नहीं है।

(१०) लेश्या—कल्प अंगीकार करते समय तेज. आदि तीन शुभ लेश्यायें होती हैं। उसके पश्चात् छहों लेश्यायें सम्भव हैं लेकिन अशुद्ध लेश्यायें भी अति संक्लिष्ट नहीं होती हैं।

(११) ध्यान—अंगीकार करते समय धर्म-ध्यान होता है। उसके बाद आर्त, रौद्र और धर्म यह तीन ध्यान सम्भव हैं। अशुभ योग की उत्कृष्ट दशा में आर्त-रौद्र ध्यान आते हैं किन्तु वे निरनुबन्ध होते हैं।

(१२) गण—जघन्य से तीन गण, उत्कृष्ट से शत संख्या वाला गण अंगीकार के समय में सब क्षेत्र में मिलकर होते हैं। अंगीकार करने के बाद जघन्य अथवा उत्कृष्ट सर्वकाल में वर्तता सकडो गण होते हैं। उनमें अंगीकार के समय पुरुष संख्या जघन्य २७ और उत्कृष्ट १००० होती है। उसके बाद जघन्य से सकडो और उत्कृष्ट से हजारो होते हैं। प्रवेश करने वाले और निकलने वाले दोनो समकाल में जघन्य में एक और उत्कृष्ट में पृथक्त्व प्रमाण होते हैं।

(१३) अभिग्रह—द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव के भेद से अभिग्रह चार प्रकार का है। इस कल्प के स्वयं अभिग्रह रूप होने से उक्त चारो प्रकार के अभिग्रहो में से कोई भी अभिग्रह नही होता है।

(१४) प्रव्रज्या—किसी को दीक्षा नही दी जाती है किन्तु यथाशक्ति उपदेश देना सम्भव है।

(१५) मुंडापना—यह मुनि किसी का मुंडापन नही करता है। क्योकि प्रव्रज्या के पश्चात तत्काल ही मुण्डन होता है ऐसा नियम नही है। अयोग्य को दीक्षा दी हो तो बाद मे मालूम पडने पर मुण्डन नही करता है। इसीलिए मुण्डापनद्वार अलग से कहा।

(१६) प्रायश्चित्त—मन द्वारा भी सूक्ष्म अतिचार लगने पर भी प्रायश्चित्त आता है। क्योकि यह कल्प एकाग्रता प्रधान है।

(१७) कारण—आलम्बन को कारण कहते हैं। इस कल्प का पालन करना यही कर्मक्षय का कारण है जिससे दूसरा अन्य कोई आलम्बन नही होता है।

(१८) निष्प्रतिकर्मता—इस संयम के आराधक महात्मा शरीर संस्कार नहीं करते हैं। आंख में पड़े हुए तृण को भी नही निकालते हैं और प्राणान्त का विकट समय आने पर भी अपवाद का सेवन नहीं करते हैं।

(१९) भिक्षा—तीसरे प्रहर में गोचरी और विहार करते हैं। शेष समय में कायोत्सर्ग करते हैं। निद्रा अति अल्प लेते हैं। कदाचित विहार न कर सकें तो भी कल्पमर्यादा का बराबर पालन करते हैं।

(२०) कल्प—परिहारकल्प समाप्त होने के बाद पुनः उसी कल्प में अथवा स्थविरकल्प में या जिनकल्प में प्रवेश करते हैं। पुनः दूसरी बार उसी कल्प में अथवा स्थविर कल्प में रहने वाले इत्वरपरिहारी कहलाते हैं।

इस प्रकार परिहारविशुद्धि चारित्र सम्बन्धी आगमिक २० द्वारो की संक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत की गई है।

परिशिष्ट ४

सम्यक्त्वत्रिक का अपर्याप्त संज्ञी अवस्था में पाये जाने का स्पष्टीकरण

आयु बांधने के पश्चात् क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने वाला जीव आयु के अनुसार चारो गतियो मे से किसी भी गति मे जाता है। इसी अपेक्षा से अपर्याप्त संज्ञी अवस्था मे क्षायिक सम्यक्त्व माना जाता है। इसी प्रकार अपर्याप्त अवस्था मे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मानने का कारण यह है कि भावी तीर्थंकर आदि जब देवगति से चयकर मनुष्य जन्म ग्रहण करते है तब वे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व सहित होते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व के लिए यह जानना चाहिए कि आयु के पूरे हो जाने से जब कोई औपशमिक सम्यक्त्वी ग्यारहवें गुणस्थान से च्युत होकर अनुत्तर विमान मे पैदा होता है, तब अपर्याप्त अवस्था मे औपशमिक सम्यक्त्व पाया जाता है।

अपर्याप्त संज्ञी अवस्था मे सम्यक्त्वत्रिक के पाये जाने की उक्त स्थिति है। क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को अपर्याप्त अवस्था मे मानने मे मत-भिन्नता नही है लेकिन मतभिन्नता औपशमिक सम्यक्त्व मे अपर्याप्त संज्ञी जीव-स्थान मानने के बारे मे है।

पंचसंग्रह १।२५ की निम्नलिखित गाथा की टीका मे इस मतभिन्नता का उल्लेख करते हुए जो स्पष्टीकरण किया है, वह यहां प्रस्तुत करते हैं—

> तेउ लेसाइसु दोन्नि संजमे एक्कमट्ठमणहारे।
> सन्नी सम्मंमि य दोन्नि सेसयाइं असंनिम्मि॥

तेजः आदि तीन लेश्याओ मे दो, संयम मे एक, अनाहारक मे आठ, संज्ञी और सम्यक्त्व मे एक तथा असंज्ञी मे बाकी के जीवस्थान होते हैं।

इस गाथा की टीका मे श्री मलयगिरि ने 'सन्नी सम्मंमि य दोन्नि' पद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि संज्ञी और क्षायिक, क्षायोपशमिक तथा औप-शमिक इन तीन सम्यक्त्वो मे पर्याप्त-अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय रूप दो जीव-स्थान होते हैं।

उक्त सम्यक्त्वत्रिक मे से औपशमिक सम्यक्त्व मे अपर्याप्त संज्ञी जीवस्थान मानने को लेकर जिज्ञासु प्रश्न करता है कि—क्षायिक, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के

साथ भवान्तर में जाने वाला होने से इन दो सम्यक्त्वों में सनी अपर्याप्त जीव स्थान माना जा सकता है किन्तु औपशमिक सम्यक्त्व में सनी अपर्याप्त जीव स्थान मानना कसे सम्भव है ? क्योंकि अपर्याप्त अवस्था मे तदयोग्य अध्यवसाय का अभाव होने से कोई भी नया सम्यक्त्व उत्पन्न होता नही है। कदाचित् ऐसा माना जाय कि अपर्याप्त अवस्था में नवीन सम्यक्त्व की उत्पत्ति भले ही न हो परन्तु क्षायिक, क्षायोपशमिक की तरह परभव से साथ लाया अपर्याप्त अवस्था में होना है इसका कौन निषेध कर सकता है ? यह कथन भी योग्य नहीं है क्योंकि जो मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व गुणस्थान में तीन करण करके औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है वह जब तक रहता है, तब तक कोई जीव मरण को प्राप्त नहीं होता है और आयु को भी नही बाँधता है। आगमों में कहा है—

अणबंधोदयमाउग बंध कालं च सासणो कुणई।
उवसमसम्मदिट्ठी चउण्हमिक्कंपि नो कुणई॥

सासादन सम्यग्दृष्टि अनंतानुबंधी का बंध अनंतानुबंधी का उदय आयु का बंध और मरण इन चार कार्यों को करता है किन्तु औपशमिक सम्यग्दृष्टि इन चारो मे से एक भी कार्य नही करता है।

यदि यह माना जाये कि उपशम श्रेणि का उपशम सम्यक्त्व अपर्याप्त अवस्था में होता है, तो यह भी योग्य नही है। क्योंकि उपशम श्रेणि पर चढी हुई जो आत्मा वहाँ मरण करके अनुत्तर विमान में उत्पन्न होती है उसे देवायु के पहले ही समय मे सम्यक्त्व मोहनीय के पुद्गलों का उदय होने से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है औपशमिक सम्यक्त्व नही होता है। इसी बात का शतक (पंचम कर्मग्रन्थ) की बृहत् चूर्णी में संकेत किया गया है—

जो उवसमसम्मदिट्ठी उवसमसेढीए कालं करेइ सो पढमसमए चेव सम्मत्तपुंज उदयावलियाए छोढूण सम्मत्तपुग्गलं वेएइ। तेण न उवसमसम्मदिट्ठी अपज्जगो लब्भई।

—जो उपशम सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणि में मरता है वह मरण के प्रथम समय में ही सम्यक्त्व मोहनीय पुंज को उदयावलिका में लाकर वेदन करता है, जिससे उपशम सम्यग्दृष्टि अपर्याप्त नही होता है। अर्थात् अपर्याप्त अवस्था में औपशमिक सम्यक्त्व नही पाया जाता है।

इसी प्रसंग में श्री जीवविजयजी ने अपने टबे में ग्रन्थ का नामोल्लेख किये बिना यह एक गाथा उद्धृत की है—

उवसम सेढि पत्ता मरंति उवसमगुणेसु जे सत्ता।
ते लवसत्तम देवा सव्वट्ठे खय सम्मतजुआ ॥

—अर्थात् जो जीव उपशमश्रेणि को पाकर ग्यारहवें गुणस्थान मे मरते हैं वे सर्वार्थसिद्धि मे क्षायिक सम्यक्त्व युक्त ही पैदा होते है और 'लवसत्तम देव' (सात लव आयु अधिक होती तो मुक्ति प्राप्त कर लेते, इतनी आयु के न्यून होने से सर्वार्थसिद्धि विमान मे उत्पन्न हुए देव) कहलाते हैं। तथा इस गाथा के प्रसग से स्पष्ट किया है कि औपशमिक सम्यक्त्वी ग्यारहवे गुणस्थान से गिरता है किन्तु उसमे मरता नही है, मरने वाला क्षायिक सम्यक्त्वी ही होता है।

इस प्रकार अपर्याप्त अवस्था मे किसी तरह के औपशमिक सम्यक्त्व के सम्भव न होने से औपशमिक सम्यक्त्व मे सिर्फ एक पर्याप्त सज्ञी जीवस्थान माना जाना चाहिए।

परन्तु कोई-कोई आचार्य श्रेणि मे भव के क्षय से मरण होने पर अनुत्तर विमान मे उत्पन्न होने वाले को अपर्याप्त अवस्था मे उपशम सम्यक्त्व मानते है। इस सम्बन्ध मे पचसग्रह के टीकाकार आचार्य मलयगिरि का मतव्य है कि—सप्ततिका (छठे कर्मग्रन्थ) की चूर्णि मे गुणस्थानो मे जहाँ नामकर्म के बन्ध और उदय स्थान का विचार किया है वहाँ चौथे गुणस्थान के उदयस्थानो के विचार के प्रसग मे पच्चीस और सत्ताईस प्रकृतियो का उदयस्थान देव और नारको के आधार से बतलाया है। उसमे नारको को क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि और देवो को तीन प्रकार का सम्यक्त्वी कहा है। इस ग्रन्थ के पाठ का अर्थ इस प्रकार है—पच्चीस और सत्ताईस का उदय देव और नारको को लेकर कहा है, उसमे नारक क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी होते है और देव तीनो सम्यक्त्व वाले होते है। उसमे पच्चीस का उदय शरीरपर्याप्ति करने के समय होता है और सत्ताईस का उदय शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त और शेष पर्याप्तियो से अपर्याप्त को होता है। इस तरह यह दोनो उदयस्थान अपर्याप्त अवस्था मे होने से अपर्याप्त अवस्था मे भी औपशमिक सम्यक्त्व ग्रहण किया है। शतक चूर्णि (पचम कर्मग्रन्थ की चूर्णि) मे उपशम सम्यक्त्व मे सज्ञी पर्याप्त एक जीवस्थान कहा है और सप्ततिका की चूर्णि मे उपशम श्रेणि के उपशम सम्यक्त्व को लेकर अनुत्तर विमान मे उत्पन्न होने वाले की अपेक्षा सज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त यह दो जीवस्थान बताये है, इस प्रकार दो मत है, तत्त्व तो केवलज्ञानी गम्य है।

उक्त मतभिन्नता का सारांश यह है कि अपर्याप्त अवस्था मे औपशमिक सम्यक्त्व नही मानने वाले आचार्यों का यह मत है कि औपशमिक सम्यक्त्व मे

केवल पर्याप्त सनी जीवस्थान ही मानना चाहिए। क्योकि अपर्याप्त अवस्था म योग्य अध्यवसाय न होन से औपशमिक सम्यक्त्व नवीन तो उत्पन्न नही हो सकता है और रहा पूर्व भव म प्राप्त किया हुआ सो उसका भी अपर्याप्त अवस्था तक रहना शास्त्रसम्मत नही है। क्योकि औपशमिक सम्यक्त्व दो प्रकार का है—ग्रन्थिभेदजन्य और उपशमश्रेणि मे होने वाला। प्रथम प्रकार का तो अनादि मिथ्यात्वी को पहले पहल होता है। इस सम्यक्त्व के सहित तो जीव मरता ही नही है और दूसरे प्रकार के उपशम सम्यक्त्व के विषय में यह नियम है कि उसम जीव मरता तो है परन्तु जन्म ग्रहण करते ही सम्यक्त्व मोहनीय का उदय होने से औपशमिक सम्यक्त्वी न रहकर क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी बन जाता है।

लेकिन अपर्याप्त अवस्था म भी औपशमिक सम्यक्त्व मानने वाले आचार्यो का मत है कि नामकर्म के बन्ध और उदय स्थानो के विचार के प्रसग म चौथे गुणस्थान म पच्चीस और सत्ताईस प्रकृतियो का उदय देव और नारको को बतलाया है। उनम स नारको को क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी और देवो को तीनो प्रकार के सम्यक्त्व वाला कहा है। यह बात सप्ततिका की चूर्णि और पचसग्रह म स्पष्ट की गई है। इसलिए अपर्याप्त सनी अवस्था म उपशम सम्यक्त्व मानना युक्तिसगत है।

दिगम्बर ग्रन्थ गो० जीवकाड म भी इसी मत को माना है कि उपशम श्रेणि भावी—उपशम सम्यक्त्व जीवो को अपर्याप्त अवस्था म होता है। तत्स म्बन्धी गाथा इस प्रकार है—

विदियुवसमसम्मत्त सेढीदोदिण्णि अविरदादीसु।
सगसगलेस्सामरिदे देवअपज्जत्तगेव हवे ॥७३०॥

उपशम श्रेणि स उतरकर अविरति आदि गुणस्थानो को प्राप्त करने वाला म से जो अपनी अपनी लेश्या के अनुसार मरण करके देवपर्याय को प्राप्त करता है उसी के अपर्याप्त अवस्था म द्वितीयोपशम सम्यक्त्व (उपशमश्रेणि भावी) होता है।

इस मतभिन्नता के तीन फलितार्थ निकलते हैं—(१) अपर्याप्त अवस्था म क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का उदय या (२) क्षायिक सम्यक्त्व का उदय या, (३) उपशम सम्यक्त्व का उदय। इन तीन मतो म से ग्रन्थकार न अपर्याप्त अवस्था म भी उपशम सम्यक्त्व को मानकर सम्यक्त्वत्रिक म अपर्याप्त पर्याप्त सनी यह दो जीवस्थान माने हैं।

परिशिष्ट ५

मार्गणाओं के अल्पबहुत्व संबंधी आगम पाठ

गतिमार्गणा

जहन्नपए (सखेज्जा) सखिज्जाओ कोडाकोडाकोडिओ । उक्कोसपए असखिज्जा असखिज्जाहिं उसप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खित्तओ उक्कोसपए रूवपक्खित्तेहिं मणूसेहिं सेढी अवहीरइ, असंखेज्जाहिं अवसप्पिणीहिं उस्सप्पिणीहिं कालओ, खित्तओ अगुलपढमवग्गमूलं तइयवग्गमूलपडुप्पन्नं ।

—अनुयोगद्वार सूत्र

उक्कोसपए जे मणुस्सा हवंति तेसु इक्कम्मि मणूसरूवे पक्खित्ते समाणे तेहिं मणुस्सेहिं सेढी अवहीरइ । तीसे य सेढीए कालखित्तेहिं अवहारो मग्गिज्जइ—कालओ ताव असखिज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं, खित्तओ अगुलपढमवग्गमूल तइयवग्गमूलपडुप्पन्न । किं भणियं होइ ? तीसे सेढीए अगुलायए खडे जो पएसरासी तस्स ज पढमवग्गमूलपएसरासिमाण त तइयवग्गमूलपएसरासिपडुप्पाइए समाणे जो पएसरासी हवइ एवइएहिं खडेहिं अवहीरमाणी अवहीरमणी जाव निट्ठाइ ताव मणुस्सा वि अवहीरमाणा अवहीरमाणा निट्ठ ति । आह कहमेगा सेढी एद्दहमित्तेहिं खण्डेहिं अवहीरमाणी अवहीरमाणी असखेज्जाहिं उस्सप्पिणिओसप्पिणीहिं अवहीरइ ? आयरिओ आह—खेत्तस्स सुहुमत्तणओ । सुत्ते वि ज भणियं—

सुहुमो य होइ कालो तत्तो सुहुमयरयं हवइ खित्तं ।
अगुलसेढी मित्ते ओसप्पिणीओ असंखिज्जा ॥

—अनुयोगद्वार चूर्णि

नेरइयाण भंते ! केवइया वेउव्वियसरीरा पन्नत्ता ? गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता, त जहा—बद्धिल्लया मुक्किल्लया य । तत्थ ण जे ते बद्धिल्लया ते णं असंखेज्जा असखिज्जाहिं उस्सप्पिणिअवसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खेत्तओ असखेज्जाओ सेढीओ पयरस्स असखेज्जइभागो । तासि ण सेढीण विक्खंभसूई अगुलपढमवग्गमूल बीयवग्गमूलपडुप्पन्न अहव ण अगुल बिइयवग्गमूलघणपमाणमित्ताओ सेढीओ ।

—अनुयोगद्वार सूत्र

एएसि ण भते ! नेरइयाण तिरिक्खजोणियाण मणुस्साण देवाण सिद्धाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्व थोवा मणुस्सा नेरइया असंखेज्जगुणा, देवा असंखेज्जगुणा सिद्धा अणंतगुणा, तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।

—प्रज्ञापना सूत्र

इन्द्रियमार्गणा

एएसि ण भते ! एगिन्दियबेइंदियतेइंदियचउरिंदियपंचिंदियाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचिंदिया चउरिंदिया विसेसाहिया, तेंदिया विसेसाहिया, बेइंदिया विसेसाहिया, एगिन्दिया अणंतगुणा ।

—प्रज्ञापना सूत्र

कायमार्गणा

एएसि ण भते ! सकाइयाण पुढविकाइयाण आउकाइयाण तेउकाइयाण वाउकाइयाण वणस्सइकाइयाण अकाइयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा तसकाइया, तेउकाइया असंखिज्जगुणा, पुढविकाइया विसेसाहिया आउकाइया विसेसाहिया वाउकाइया विसेसाहिया, अकाइया अणंतगुणा वणस्सइकाइया अणंतगुणा ।

—प्रज्ञापना सूत्र

योगमार्गणा

एएसि ण भते ! जीवाण सजोगीण मणजोगीण वइजोगीण कायजोगीण अजोगीण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा मणजोगी, वइजोगी असंखेज्जगुणा अजोगी अणंतगुणा, कायजोगी अणंतगुणा, सजोगी विसेसाहिया ।

—प्रज्ञापना सूत्र

वेदमार्गणा

एएसि ण भते ! जीवाण सवेयगाण इत्थीवेयगाण पुरिसवेयगाण नपुंसकवेयगाण अवेयगाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा पुरिसवेयगा, इत्थीवेयगा संखेज्जगुणा अवेयगा अणंतगुणा, नपुंसकवेयगा अणंतगुणा, सवेयगा विसेसाहिया ।

—प्रज्ञापना सूत्र

कषायमार्गणा

एएसि णं भंते ! जीवाणं सकसाईणं कोहकसाईणं माणकसाईणं मायाकसाईणं लोभकसाईणं अकसाईण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा अकसाई, माणकसाई अणन्तगुणा, कोहकसाई विसेसाहिया, मायाकसाई विसेसाहिया, लोभकसाई विसेसाहिया, सकसाई विसेसाहिया ।

—प्रज्ञापना सूत्र

ज्ञानमार्गणा

एएसि णं भंते ! जीवाणं आभिणिबोहियनाणीणं सुयनाणीणं ओहिनाणीणं मणपज्जवनाणीणं केवलनाणीणं मइअन्नाणीणं सुयअन्नाणीणं विभंगनाणीण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा मणपज्जवनाणी, ओहिनाणी असंखेज्जगुणा आभिणिबोहियनाणी सुयनाणी दो वि तुल्ला विसेसाहिया, विभंगनाणी असंखिज्जगुणा, केवलनाणी अणंतगुणा, मइअन्नाणी सुयअन्नाणी य दो वि तुल्ला अणन्तगुणा ।

—प्रज्ञापना सूत्र

संयममार्गणा

एएसि णं भंते ! जीवाणं संजयाणं असंजयाणं संजयासंजयाणं नोसंजयनोअसंजयनोसंजयासंजयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा संजया, संजयासंजया संखेज्जगुणा नोसंजयनोअसंजयनोसंजयासंजय अणंतगुणा, असंजया अणंतगुणा ।

—प्रज्ञापना सूत्र

दर्शनमार्गणा

एएसि णं भंते ! जीवाणं चक्खुदंसणीणं अचक्खुदंसणीणं ओहिदंसणीणं केवलदंसणीण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा ओहिदंसणी, चक्खुदंसणी असंखिज्जगुणा, केवलदंसणी अणन्तगुणा, अचक्खुदंसणी अणंतगुणा ।

—प्रज्ञापना सूत्र

लेश्यामार्गणा

एएसि णं भंते ! जीवाणं सलेस्साणं किण्हलेस्साणं नीललेस्साणं काउलेस्साणं तेउलेस्साणं पम्हलेस्साणं सुक्कलेस्साणं अलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा

बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा सुक्कलेस्सा, पम्हलस्सा संखिज्जगुणा, तेउलेस्सा संखिज्जगुणा अलेस्सा अणंतगुणा, काउलेस्सा अणंतगुणा नीललेस्सा विसेसाहिया किण्हलेस्सा विसेसाहिया सलेस्सा विसेसाहिया ।
—प्रज्ञापना सूत्र

भव्यत्वमार्गणा

एएसि णं भन्ते ! जीवाणं भवसिद्धियाणं अभवसिद्धियाणं नोभवसिद्धियाणं नोअभवसिद्धियाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा अभवसिद्धिया नोभवसिद्धिया नोअभवसिद्धिया अणंतगुणा, भवसिद्धिया अणंतगुणा ।

—प्रज्ञापना सूत्र

सम्यक्त्वमार्गणा

एएसि णं भन्ते ! जीवाणं सम्मदिट्ठीणं मिच्छादिट्ठीणं सम्मामिच्छादिट्ठीणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा सम्मामिच्छादिट्ठी सम्मदिट्ठी अणंतगुणा मिच्छादिट्ठी अणंतगुणा ।
—प्रज्ञापना सूत्र

संज्ञीमार्गणा

एएसि णं भन्ते ! जीवाणं सन्नीणं असन्नीणं नोसन्नीणं नोअसन्नीणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा! सव्वत्थोवा जीवा सन्नी, नोसन्नीनोअसन्नी अणंतगुणा असन्नी अणंतगुणा ।

—प्रज्ञापना सूत्र

आहारकमार्गणा

एएसि णं भन्ते ! जीवाणं आहारगाणं अणाहारगाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा अणाहारगा आहारगा असंखिज्जगुणा ।
—प्रज्ञापना सूत्र

परिशिष्ट ६

उत्तर प्रकृतियों और तीर्थंकर, आहारकद्विक के बंधहेतुओं विषयक पंचसंग्रह का मंतव्य

कर्मग्रन्थकार श्रीमद् देवेन्द्रसूरि ने चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा० ५३ मे उत्तर प्रकृतियो के मूल बधहेतुओ को बतलाया है कि सोलह प्रकृतियो का बधहेतु मिथ्यात्व, पैंतीस प्रकृतियो के बधहेतु मिथ्यात्व और अविरति, पैंसठ प्रकृतियो के बधहेतु मिथ्यात्व, अविरति और कषाय तथा साता वेदनीय के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चारो बधहेतु हैं। टीका मे जो प्रकृति जिस गुणस्थान तक बधती है, उस गुणस्थान तक अन्वय-व्यतिरेक सबध को घटाते हुए हेतुओ की विवक्षा की है। किन्तु पचसग्रह मे एक-एक हेतु की ही विवक्षा की है तथा टीका मे तीर्थंकर नाम और आहारकद्विक का कषाय बधहेतु होने पर भी सम्यक्त्व आदि दूसरे अतरग कारण होने से चार मे मे किस हेतु से बध होता है, को स्पष्ट नही किया है। तत्सबधी पचसग्रह के मतव्य को यहा प्रस्तुत करते हैं—

> सोलस मिच्छनिमित्ता वज्झहि पणतीस अविरइए य।
> सेसा उ कसाएहि वि जोगेहिंपि सायवेयणीयं ॥४।१६

सोलह कर्मप्रकृतियाँ मिथ्यात्व रूप हेतु द्वारा बाधी जाती हैं तथा पैंतीस प्रकृतिया अविरति रूप हेतु द्वारा और शेष प्रकृतिया कषाय द्वारा एव साता वेदनीय योग रूप हेतु द्वारा बधती है। उक्त कथन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

कारण के सद्भाव होने पर कार्य के सद्भाव को अन्वय और कारण के अभाव मे कार्य के अभाव को व्यतिरेक कहते है। नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, एकेन्द्रिय जाति, विकलेन्द्रिय जातित्रिक, मिथ्यात्व, नपुसकवेद, हुडसस्थान, सेवार्त सहनन, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण और अपर्याप्त नाम, यह सोलह प्रकृतिया अन्वयव्यतिरेक का विचार करने पर मिथ्यात्व निमित्तक है। क्योकि ये सोलह प्रकृतिया मिथ्यात्व रूप हेतु के होने पर अवश्य बधती हैं और मिथ्यात्व रूप हेतु का अभाव होने पर नही बधती है। यह कर्म प्रकृतिया मिथ्यात्व गुणस्थान मे बधती है और मिथ्यात्व

गुणस्थान मे चारो बंधहेतु होते हैं। यद्यपि इन सोलह प्रकृतियो के बंध मे अविरति आदि हेतुओ का भी उपयोग होता है, लेकिन उनके साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध नही घटता है और मिथ्यात्व के साथ घटता है। क्योकि मिथ्यात्व रूप हेतु जब तक है तब तक ही इन प्रकृतियो का बंध होता है और मिथ्यात्व के क्षय होने किन्तु अविरति आदि हेतु होने पर भी उनका बंध नही होता है। अत यथार्थतया मिथ्यात्व ही उन प्रकृतियो का बंधहेतु है, अविरति आदि नहीं। अर्थात् इन सोलह प्रकृतियो के बंध मे मिथ्यात्व ही मुख्य हेतु है और अविरति आदि गौण। इसी प्रकार से आगे के और बंधहेतुओ के बारे मे समझना चाहिए।

स्त्यानर्द्धित्रिक, स्त्रीवेद अनन्तानुबंधी चतुष्क, तिर्यचत्रिक, पहले और अन्तिम के सिवाय चार संस्थान और अंतिम के बिना पांच संहनन उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति दुभग, अनादेय, दु स्वर नीचगोत्र अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, मनुष्यत्रिक और औदारिकद्विक ये पैंतीस प्रकृतिया अविरति के निमित्त से बंधती हैं अर्थात् इन पैंतीस प्रकृतियो का मुख्य हेतु अविरति है तथा साता वेदनीय के सिवाय अड़सठ प्रकृतिया कषाय द्वारा बंधती है। इन अड़सठ प्रकृतियो का खास बंधहेतु कषाय है क्योकि कषाय के साथ उनका अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध बनता है तथा जहा तक योग है वहा तक सातावेदनीय का बन्ध होता है और योग के अभाव मे बंध नही होता है, अत सातावेदनीय का योग बंधहेतु है।

तीर्थंकर प्रकृति के बंध मे सम्यक्त्व और आहारकद्विक के बंध मे संयम हेतु है—तित्थयराहाराणं बंधे सम्मत्तसंजमा हेऊ। इस प्रकार उक्त तीन प्रकृतिया—तीर्थंकर और आहारकद्विक के बंध मे सम्यक्त्व और संयम को हेतु मानने पर जिज्ञासु इस विषय मे प्रश्न पूछता है कि—

तीर्थंकर नामकर्म का बंधहेतु जो सम्यक्त्व कहा जाता है तो क्या औपशमिक सम्यक्त्व है अथवा क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व हेतु है? यदि औपशमिक सम्यक्त्व को बंधहेतु के रूप मे माना जाय तो उपशान्त मोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान मे भी उसका बंध मानना पड़ेगा। क्योकि वहा भी औपशमिक सम्यक्त्व का सद्भाव है। यदि क्षायिक सम्यक्त्व हेतु है तो सिद्धों का भी उसका बंधक स्वीकार करना होगा, क्योकि सिद्धों मे क्षायिक

सम्यक्त्व ही पाया जाता है। यदि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व माना जाये तो अपूर्वकरण के पहले समय मे भी उसके वधविच्छेद का प्रसग होगा, क्योकि उस समय उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व नही होता है और तीर्थंकर नामकर्म के वध का विच्छेद तो अपूर्वकरण के छठे भाग मे होता है। इसलिए किसी भी सम्यक्त्व को तीर्थंकर नामकर्म के वध मे हेतु रूप मानना युक्तिसगत नही है तथा आहारकद्विक का वधहेतु जो सयम को माना है, तो क्षीणमोह आदि गुणस्थानो मे भी उसका वध सम्भव है। इसका कारण यह है कि उन गुणस्थानो मे विशेषत अति निर्मल चारित्र का सद्भाव है और उन गुणस्थानो मे वध होता नही है, अत आहारकद्विक का भी सयम वधहेतु नही वन सकता है।

इसका समाधान यह है कि 'तित्थयराहाराण वधे सम्मत्त सजमा हेऊ' पद द्वारा साक्षात् सम्यक्त्व और सयम को ही तीर्थंकर और आहारकद्विक का वधहेतु नही कहा है किन्तु सहकारी कारणभूत विशेष हेतु रूप मे वतलाया है। इन दोनो मे मूल कारण तो कषाय विशेष ही है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है—सेसाउ कसाएहि—शेष प्रकृतिया कषायो द्वारा, कषाय रूप वध हेतु द्वारा वाधी जाती है और तीर्थंकर नामकर्म के वध मे हेतु रूप होने वाली वे कषायविशेष औपशमिक आदि सम्यक्त्वो से रहित नही होती है अर्थात् औपशमिक आदि किसी भी सम्यक्त्व से रहित मात्र कषायविशेष ही तीर्थंकर के वध मे हेतुभूत नही वनती है तथा औपशमिकादि सम्यक्त्व युक्त वे कषायविशेष भी सभी जीवो को उन प्रकृतियो के वध मे कारणभूत नही है और अपूर्वकरण के छठे भाग के वाद भी वध मे हेतु रूप नही वनती है तथा अप्रमत्त गुणस्थान से लेकर अपूर्वकरण के छठे भाग तक मे ही समावित कतिपय प्रतिनियत कषायविशेष ही आहारकद्विक के वध मे हेतु है। तात्पर्य यह है कि चौथे से आठवे गुणस्थान के छठे भाग तक के कषायविशेष औपशमिक आदि सम्यक्त्व युक्त आत्माओ को तीर्थंकर प्रकृति के वध मे हेतु होते है और आहारकद्विक के वध मे भी पूर्व मे कही गई विशिष्ट कषाये हेतु रूप होती है, अत इसमे किसी प्रकार का दोष नही है।

परिशिष्ट ७

गाथाओ की अकाराद्यनुक्रमणिका

ख

ग

च

छ

ज

ठ

त

थ

द

न

प

थ

म

श्रीमरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति,

(प्रवचन प्रकाशन विभाग)

सदस्यो की शुभ नामावली

विशिष्ट सदस्य

१ श्री घीसुलाल जी मोहनलाल जी सेठिया मसूर
२ श्री वच्छराज जी जोधराज जी सुराणा, सेला, (सोजत सिटी)
३ श्री रेखचन्द जी साहब राका मद्रास (बगडी-नगर)
४ श्री बलवतराज जी लाटा, मद्रास (बगडी-नगर)
५ श्री नेमीचन्द जी बाठिया, मद्रास (बगडी-नगर)
६ श्री मिश्रीलाल जी लूकड, मद्रास (बगडी-नगर)
७ श्री माणकचन्द जी कात्रेला, मद्रास (बगडी-नगर)
८ श्री रतनलाल जी केवलचन्द जी कोठारी मद्रास (निम्बोल)
९ श्री अनोपचन्द जी किशनलाल जी बोहरा अटपडा
१० श्री गणेशमल जी खींवसरा मद्रास (पूजलू)
११ शा० रतनलाल जी पारसमल जी चतर चतर एण्ड कम्पनी, ब्यावर
१२ शा० बस्तीमल जी बोहरा C/o गिरेमल जी धुनाजी
गाणा की गली उदयपुरिया बाजार, पाली
१३ शा० आलमचन्द जी मदनलाल जी शका, सिकन्द्राबाद, (रायपुर)
१४ शा० धूलचन्द जी अमयराज जी बोल्निया, पुलन्दा (मारवाड)
१५ शा० चम्पालाल जी कन्हैयालाल जी छलाणी मद्रान्तकम मद्रास
१६ शा० बादूराम जी हस्तीमल जी मुथा रायचूर

प्रथम श्रेणी

१ म० री गी सोमवान जवाहर रोड रत्नागिरी (सिरियारी)
२ शा० नरसिंह जी मुनोत जालोरी गेट जोधपुर
३ शा० मादूराम जी छाजड ब्यावर (राजस्थान)

४ शा० चम्पालाल जी डूगरवाल, नगरथपेठ, बेंगलोर सिटी (करमावास)
५ शा० कामदार प्रेमराज जी, जुमामस्जिद रोड, बेंगलोर सिटी (चावडिया)
६ शा० चादमल जी मानमल जी पोकरना, पेरम्बूर मद्रास, ११ (चावडिया)
७ जे० वस्तीमल जी जैन, जयनगर, बेंगलोर ११ (पूजलू)
८ शा० पुखराज जी सीसोदिया, ब्यावर
९ शा० वालचद जी रूपचद जी वाफना,
११८/१२० जवेरी बाजार बम्बई—२ (सादडी निवासी)
१० शा० वालावगस जी चपालाल जी वोहरा, राणीवाल
११ शा० केवलचद जी सोहनलाल जी वोहरा राणीवाल
१२ शा० अमोलकचद जी धर्मीचद जी आच्छा, वडाकाचीपुरम्, मद्रास (सोजत रोड)
१३ शा० भूरमल जी मीठालाल जी वाफना, तिरकोयलूर, मद्रास (आगेवा)
१४ शा० पारसमल जी कावेडिया, आरकाट, मद्रास (सादडी)
१५ शा० पुखराज जी अनराज जी कटारिया, आरकोनम्, मद्रास (सेवाज)
१६ शा० मिसरतमल जी सखलेचा, मद्रास (वीजाजी का गुडा)
१७ शा० प्रेमसुख जी मोतीलाल जी नाहर, मद्रास (कालू)
१८ शा० गूदडमल जी शातिलाल जी तलेसरा, एनावरम्, मद्रास
१९ शा० चपालाल जी नेमीचद, जवलपुर, (जैतारण)
२० शा० रतनलाल जी पारसमल जी चतर, ब्यावर
२१ शा० सम्पतराज जी कन्हैयालाल जी मूथा, कूपल (मारवाड-मादलिया)
२२ शा० हीराचद जी लालचद जी धोका, नक्शावाजार, मद्रास
२३ शा० नेमीचद जी धर्मीचद जी आच्छा, चगलपेट, मद्रास
२४ शा० एच० घीसुलाल जी, पोकरना, एण्ड सन्स, आरकाट—NADT (वगडी-नगर)
२५ शा० घीसुलाल जी पारसमल जी सिंघवी, चागलपेट, मद्रास
२६ शा० अमोलकचद जी भवरलाल जी विनायकिया, नक्शावाजार, मद्रास
२७ शा० पी० वीजराज नेमीचद जी धारीवाल, तीरुवेलूर
२८ शा० रूपचद जी माणकचद जी वोरा, वुगी
२९ शा० जेठमल जी राणमल जी सर्राफ, वुगी
३० शा० पारसमल जी सोहनलाल जी सुराणा कुमकोणम्, मद्रास

३१ सा० हस्तीमल जी मुणोत, पाटमार्केट सिकन्द्राबाद (आन्ध्र)
३२ सा० भैवराज जी माहानलाल जी चौधरी, तीरुकोईलूर, मद्रास
३३ सा० चन्द्रराज जी जोधराज जी सुराणा सोजनसिटी
३४ सा० मेवरचन्द जी जगराज जी गोलेछा बेंगलोर सिटी
३५ सा० डी० छगनलाल जी नोरतमल जी बव बेंगलोर सिटी
३६ सा० एम० मगनचन्द जी कटारिया मद्रास
३७ सा० मगलचन्द जी दरडा C/o मदनलाल जी मोतीलाल जी, शिवराम पेठ, मैसूर
३८ पी० नेमीचन्द जी धारीवाल N क्रास रोड, राबटसन पेठ, K G F
३९ सा० पन्नालालजी प्रतापमल जी छत्राणी न० ५७ नगरथ पेठ, बेंगलोर–२
४० सा० आर विजयराज जागडा, न० १ क्रास रोड राबटसन पेट K G F
४१ सा० गजराज जी दोलमल जी ११८३, रविवार पेठ पूना
४२ श्री पुखराज जी किसनलाल जी लालवाणी, पॉट मार्केट, सिकन्द्राबाद—A P
४३ श्री पैमरीमल जी मिश्रीमल जी आच्छा बाराजाबाद, मद्रास
४४ श्री बाबूराम जी हस्तीमल जी मूथा शोलीगोर रायचूर
४५ श्री रतनीमल जी बोहरा C/o मीरैमल जी धुलाजी भाणा की गली उदय पुरिया बाजार पाली
४६ श्री सुवनराज जी मोहनलाल जी कटारिया चिकपेट बेंगलोर
४७ श्री किशनीराम जी ताराचन्द जी मरलेचा, मद्रास
४८ श्री उदयराज जी केवलचन्द जी आच्छा मद्रास (बर)
४९ श्री मदनलाल जी बस्तीमल जी दूगड कुम्भकोणम
५० सा० मदनचन्द जी नेमराज जी रुणवाल १२ रामानुजम् अयर स्ट्रीट, मद्रास १
५१ सा० गोबरलाल जी दुगड ४० कालाडी पीटर स्ट्रीट साहूकार पेट मद्रास १
५२ सा० धनराज जी रतनचन्द जी, ४ पुन्नेर स्ट्रीट आवाडुर मद्रास १६
५३ सा० रतनचन्द जी पारलिया C/o म लाल रूम हाउस न १८ पानेन्दगरा स्ट्रीट ५ वां बाग ओरवार श्रीनिवासरावी रोड पो० ७६४४, हैदराबाद ५१
५४ सा० सुरेन्द्र कुमार जी सुगालचन्द जी काले मु० पो० पोगी जि० नासिक (महाराष्ट्र)

५५ शा० मिश्रीलाल जी उत्तमचन्द जी ४२४/३ चीकपेट-बैंगलोर २ A
५६ शा० एच० एम० कांकरिया २९९, O P H. रोड, बैंगलोर १
५७ शा० सन्तोषचद जी प्रेमराज जी सुराणा मु० पो० मनमाड जि० नासिक (महाराष्ट्र)
५८ शा० जुगराज जी जवाहरलाल जी नाहर, नेहरू बाजार न० १६ श्रीनिवास अयर स्ट्रीट, मद्रास १
५९ मदनलाल जी राका (वकील), ब्यावर
६० पारसमल जी राका C/o वकील भवरलाल जी राका, ब्यावर
६१ शा० वनराज जी पन्नालाल जी जागडा नयामोडा, जालना (महाराष्ट्र)
६२ शा० एम० जवाहरलाल जी वोहरा ६९ स्वामी पण्डारम् स्ट्रीट, चीन्ताधरपेट, मद्रास २
६३ शा० नेमीचद जी आनन्दकुमार जी राका C/o जोहरीलाल जी नेमीचंद जी जैन, वापूजी रोड, सलूरपेठ (A P)
६४ शा० जुगराज जी पारसमल जी छोदरी, २५ नारायण नायकन स्ट्रीट, पुडुपेट मद्रास २
६५ चैनराज जी सुराणा गाधी बाजार, शिमोगा (कर्नाटक)
६६ पी० वस्तीमल जी मोहनलाल जी वोहरा (जाडण), रावर्टसन पेठ (K G F)
६७ सरदारमल जी उमरावमल जी सचेती, सरदारपुरा (जोधपुर)
६८ चपाराम जी मीठालाल जी सकलेचा, जालना (महाराष्ट्र)
६९ पुखराज जी ज्ञानचद जी मुणोत, मद्रास
७० संपतराज जी प्यारेलाल जी जैन, मद्रास
७१ चपालाल जी उत्तमचद जी गाधी जवाली, मद्रास
७२ पुखराज जी किशनलाल जी तातेड, सिकन्दराबाद (रायपुर वाले)
७३ श्रीमान् शा० चेनराजी सुराना वर्धमान क्लोथ स्टोर, गाधी बाजार, सीमोगा (कर्नाटक)
७४ शा० वस्तीमल जी मोहनलाल जी वोहरा जाडण No 1, क्रासरोड रावर्टसन पेट (K G F)
७५ श्रीमान् शा० सरदारमल जी उमरावमल जी संचेती, सरदारपुरा, जोधपुर

७६ शा० चपालाल जी मीठालाल जी सकलेचा (वडूरा) ट्रस्ट —
जालना, महाराष्ट्र
७७ शा० पुखराज जी मानचद जी मुथोत C/o F, पुखराज —
वेलावरी रोड, ताम्बरम, मद्रास 59
७८ शा० सपतराज जी प्यारेलाल जी जैन No 3 —
मद्रास 61
७९ शा० C चपालाल जी उत्तमचद जी गाधी (जवाना) —
No C 114 T H रोड, मद्रास
८० शा० पुखराज जी किशनलाल जी तातेड पोट मार्केट —
८१ शा० लालचद जी भवरलाल जी मथती कुरीवावास —
८२ शा० जी ०सुखालाल जी महावीरचद जी करणावट, —
८३ शा० मुखराजी चाम्मन जी गुगलीया, जसनगर (—
८४ श्रीमान् शा० सुगनचद जी गणेशमल जी भडारी (—
८५ श्री टी० बचदलाल जी कर्णावट अमरावरम, मद्रास
८६ श्री जवरीलाल जी पारसमल जी रांनिया मु० पाली (—
८७ श्री चुन्नीलाल जी कन्हैयालाल जी रुपरिया भुवानर्दि —

द्वितीय श्रेणी

१ श्री लालचद जी श्री श्रीमान ब्यावर
२ श्री सूरजमल जी इन्दरचद जी सकलेचा, जोधपुर
३ श्री मुन्नालाल जी प्रतापमल जी नम्बरिया मीमा
४ श्री प्रेमराज जी रातडिया नाथद्वारा
५ श्री मगनावरमल जी अमलाल जी गौकमरा —
६ श्री हुक्मचद जी गायबचद जी गौकमरा, बो—
७ श्री गणतमल जी मगनमल जी भडारी, भी— ।दवा
८ श्री माणकचद जी गुलदा ब्यावर
९ श्री पुखराज जी बाहुरा रानावास —
१० श्री धर्मीचद जी कोठारी —
११ श्री नथमल जी माहनलाल
१२ श्री पारसमल जी ॥—

१३ श्री जुगराज जी मुणोत, मारवाड जकशन
१४ श्री रतनचद जी शान्तीलाल जी मेहता, सादडी (मारवाड)
१५ श्री मोहनलाल जी पारसमल जी भडारी, विलाडा
१६ श्री चपालाल जी नेमीचद जी कटारिया, विलाडा
१७ श्री गुलाबचद जी गभीरमल जी मेहता, गोलवड
[तालुका डेणु—जिला थाणा (महाराष्ट्र)]
१८ श्री भवरलाल जी गौतमचद जी पगारिया, कुशालपुरा
१९ श्री चनणमल जी भीकमचंद जी राका, कुशालपुरा
२० श्री मोहनलाल जी भवरलाल जी बोहरा, कुशालपुरा
२१ श्री सतोकचद जी जवरीलाल जी जामड,
१४६ बाजार रोड, मदरान्तकम्
२२ श्री कन्हैयालाल जी गादिया, आरकोणम्
२३ श्री धरमीचद जी ज्ञानचंद जी मूथा, बगडानगर
२४ श्री मिश्रीमल श्री नगराज जी गोठी, विलाडा
२५ श्री दुलराज इन्दरचद जी कोठारी
११४ तैयप्पा मुदली स्ट्रीट, मद्रास-१
२६ श्री गुमानलाल जी मागीलाल जी चोरडिया चिन्ताधरी पैठ मद्रास-१
२७ श्री सायरचद जी चोरडिया, ६० एलीफेन्ट गेट मद्रास-१
२८ श्री जीवराज जी जवरचद जी चोरडिया, मेडतासिटी
२९ श्री हजारीमल जी निहालचद जी गादिया १६२ कोयम्बतूर, मद्रास
३० श्री केसरीमल जी झूमरलाल जी तलेसरा, पाली
३१ श्री धनराज जी हस्तीमल जी आच्छा, मु० कावेरी पाक
३२ श्री मोहनराज जी शान्तिप्रकाश जी सचेती, जोधपुर
३३ श्री चपालाल जी भवरलाल जी सुराना, कालाऊना
३४ श्री मागीलाल जी शकरलाल जी भसाली,
२७ लक्ष्मीअमन कोयल स्ट्रीट, पैरम्बूर मद्रास-१२
३५ श्री हेमराज जी शान्तिलाल जी सिंघी,
११ बाजार रोड, राय पेठ मद्रास-१४
३६ शा० अम्बूलाल जी प्रेमराज जी जैन, गुडियातम
३७ शा० रामसिंह जी चौधरी, ब्यावर

३८ शा० प्रतापमल जी मगराज जी मलवर—केसरीसिंह जी का गुडा
३९ शा० सुगनराज जी चौरडिया, मद्रास
४० शा० पारसमल जी कोठारी, मद्रास
४१ शा० मोहनचन्द जी चौरडिया, मद्रास
४२ शा० शान्तिलाल जी कोठारी, उतशेटे
४३ शा० जवरचन्द जी गोकलचन्द जी कोठारी, ब्यावर
४४ शा० जवरीलाल जी धरमीचन्द जी गादिया, लाविया
४५ श्री ससमल जी धारीवाल, बगडीनगर (राज०)
४६ ज० नोरतमल जी बोहरा १०१८ के० टी० स्ट्रीट, मसूर १
४७ उदयचन्द जी नोरतमल जी मूथा
C/o हजारीमल जी विरधीचन्द जी मूथा मवाडी बाजार ब्यावर
४८ हस्तीमल जी तपस्वीचन्द जी नाहर, पा० कोसाना (जोधपुर)
४९ श्री आर० पारसमल जी लुणावत ४१-बाजार रोड, मद्रास
५० श्री मोहनलाल जी मीठालाल जी बम्बई ३
५१ श्री पारसमल जी मोहनलाल जी पोरवाल, बेंगलोर
५२ श्री मीठालाल जी ताराचन्द जी छाजड, मद्रास
५३ श्री अमराज जी शान्तिलाल जी विनायकिया मद्रास ११
५४ श्री चान्दमल जी लालचन्द जी ससवाणी मद्रास १४
५५ श्री लालचन्द जी तजराज जी नलवाणी त्रिवेलोलूर
५६ श्री सुगनराज जी मोतीचन्द जी जैन तमिलनाडु
५७ श्री के० मागीलाल जी कोठारी मद्रास १६
५८ श्री एम० जवरीलाल जी जैन मद्रास ५२
५९ श्री कसरीमल जी जुगराज जी सिंघवी बंगलूर १
६० श्री पुखराज जी शान्तिलाल जी गोलछा तीरुवलुर
६१ श्री पुखराज जी जुगराज जी कोठारी, मु० पो० पावडिया
६२ श्री भवरलाल जी प्रकाशचन्द जी बग्गाणी मद्रास
६३ श्री हरखचंद जी बाफणा चडावल
६४ श्री पुखराज जी रिखबचन्द जी राका मद्रास
६५ श्री मानमल जी प्रकाशचन्द जी चौरडिया, पीचियार
६६ श्री मीठालाल जी शामसुन्दर जी सूरिया, पाचियार

८७ शा० मदनलालजी धाजड मोती ट्रेडर्स १५७ जोधनवारा स्ट्रीट कोयम्बतूर (मद्रास)
८८ शा० भीकमचन्दजी पारसमलजी कातरेला जूना जलखाना के सामने सिकन्दराबाद (A P)
८९ शा० एम० पुखराजजी एण्ड कम्पनी क्लास बाजार दूकान न० ६ कुनूर (नीलगिरी)
९० शा० चम्पालालजी मूलचन्दजी नागोतरा सोलंकी मु० पोस्ट—राणा बायापाली (राजस्थान)
९१ शा० वस्तीमलजी सम्पतराजजी खारीवाल (पाली)
C/o लक्ष्मी इलक्ट्रीकल्स न० ६५ ननाजी सुभाषचन्द्र रोड, मद्रास १
९२ माणकचन्दजी नलवानी (मद्रासिटी) मद्रास
९३ मांगीलालजी टीपरावत (टाकरवास) मद्रास
९४ सायरचन्दजी गांधी पाली (मारवाड़)
९५ मांगीलालजी नुणावत, उदयपुर (राज०)
९६ सरदारचन्दजी अजितचन्दजी भंडारी त्रिपोलीया बाजार (जोधपुर)
९७ गुलाबचन्दजी अनराजजी मूथा मद्रास
९८ लालचन्दजी गणपतराजजी कोठारी, बैंगलोर
९९ माणकचन्दजी महेन्द्रकुमारजी ओस्तवाल, बैंगलोर
१०० बख्तावरमलजी अनराजजी छजाणी (जालोर) राबटसन पट K G F
१०१ शा० माणकचन्दजी नलवाणी मद्रासिटी (मद्रास)
१०२ शा० मांगीलालजी टपरावत टाकरवास (मद्रास)
१०३ शा० सायरचन्दजी गांधी पाली (मारवाड़)
१०४ शा० मांगीलालजी नुणावत उदयपुर (मारवाड़)
१०५ शा० भंडारी सरदारचन्दजी अजीतचन्दजी जोधपुर
१०६ शा० गुलाबचन्दजी अनराजजी मूथा मद्रास (चरमपुर)
१०७ शा० लालचन्दजी गणपतराजजी कोठारी बैंगलोर
१०८ माणकचन्दजी महेन्द्रकुमार ओस्तवाल बैंगलोर
१०९ B अनराजजी छजाणी, राबटसन पट K G F
११० शा० [illegible] चौरडीया मेड़ता
१११ शा० धनराजजी [illegible] बैंगलोर

११२ शा० बुधराजी रूपचदजी ग्रामड मेडतामीटी
११३ शा० भवरलालजी खीवराजी मेहता पाली, मारवाड
११४ शा० माणकचदजी लाभचदजी गुलेछा, पाली
११५ शा० घीमुलालजी सम्पतराजजी चोपडा, पाली
११६ शा० उदयराजजी पारसमलजी तिलेसरा, पाली
११७ शा० जसराजी धनराजी घारोलीया, पाली
११८ शा० धनराजी भीकमचदजी पगारीया, पाली
११९ शा० फुलचदजी महावीरचदजी वोरुन्दीया जमनगर, केकिन्द
१२० शा० चतुरभुजी सम्पतराजी गादीया जमनगर, केकिन्द (मदुरीन्तरम)
१२१ शा० सेसमलजी महावीरचदजी सेठीया वेंगलोर
१२२ सेसमलजी सीरेमलजी वोहरा पीमागन (सीरकाली)
१२३ श्रीमान मोतीलालजी वोरुन्दिया, मदुरान्तकम् मद्रास
१२४ श्रीमान शुकलचदजी मुन्नालालजी लोढा, पाली (राज०)
१२५ श्रीमान सूरजकरणजी माणकचदजी आँचलिया, जसनगर (राज०)
१२६ श्रीमान घीमूलालजी धर्मीचदजी गादिया, हैद्रावाद
१२७ श्रीमान वी० रामचद्रजी वस्तीमलजी पटवा, पुदुपेट, मद्रास

तृतीय श्रेणी

१ श्री नेमीचद जी कर्णावट, जोधपुर
२ श्री गजराज जी भडारी, जोधपुर
३ श्री मोतीलाल जी सोहनलाल जी वोहरा, व्यावर
४ श्री लालचद जी मोहनलाल जी कोठारी, गोठन
५ श्री सुमरेमल जी गावी, सिरियारी
६ श्री जवरचद जी वम्व, सिन्धनूर
७ श्री मोहनलाल जी चतर, व्यावर
८ श्री जुगराज जी भवरलाल जी राका, व्यावर
९ श्री पारसमल जी जवरीलाल जी धोका, सोजत
१० श्री छगनमल जी वस्तीमल जी वोहरा, व्यावर
११ श्री चनणमलजी थानमल जी खीवसरा, मु० वोपारा
१२ श्री पन्नालाल जी भवरलाल जी ललवाणी, विलाडा

१३ श्री अनराज जी लखमीचन्द जी ललवाणी, आगेवा
१४ श्री अनराज जी पुखराज जी गान्धिया, आगेवा
१५ श्री पारसमल जी धरमीचन्द जी जागड, जिलाड़ा
१६ श्री चम्पालाल जी धरमीचद जी सारीवाल, कुशालपुरा
१७ श्री जवरचद जी नाथि नलाल जी बोहरा, कुशालपुरा
१८ श्री चम्पालाल जी हीराचन्दजी गुन्देचा, सोजतरोड
१९ श्री हिम्मतमाल जी प्रेमचन्द जी सार्वरिया साडेराव
२० श्री पुखराज जी रिखबाजी सार्वरिया, साडेराव
२१ श्री बाबूलाल जी धनीचद जी बरलोटा पालना स्टेशन
२२ श्री मागीलाल जी सोहनराज जी राठाड सोजतरोड
२३ श्री मोहनलाल जी गांधी, केसरसिंह जी का गुडा
२४ श्री पन्नालाल जी नथमल जी मसाली जाजणवास
२५ श्री शिवराज जी लालचन्द जी बोरडिया पाली
२६ श्री चांदमल जी हीरालाल जी बोहरा ब्यावर
२७ श्री जसराज जी मुन्नीलाल जी मूथा पाली
२८ श्री रमीचद जी भवरलाल जी डक मारण
२९ श्री ओटरमल जी दीपाजी, साण्डेराव
३० श्री निहालचन्द जी कपूरचद जी, सांडेराव
३१ श्री नेमीचद जी शान्तिलाल जी सिमोन्धिया, इन्द्रावड
३२ श्री विजयराज जी आणन्दमल जी सिमोन्धिया, इन्द्रावड
३३ श्री मूलचन्द जी पुखराज जी मूथा बिग-बाजार, कोयम्बतूर
३४ श्री किस्तूरचन्द जी सुराणा कान्तरोड कटक (उड़ीसा)
३५ श्री मूलचन्द जी बुधमल जी कोठारी बाजार स्ट्रीट, मण्ड्या (मसूर)
३६ श्री चम्पालाल जी गौतमचन्द जी कोठारी मारवाड स्टेशन
३७ श्री कन्हैयालाल जी गौतमचन्द जी कांवरिया, मन्नार (मदतागिरी)
३८ श्री मिश्रीमल जी मानिकचन्द जी गांधी केसरसिंह जी का गुडा
३९ श्री अनराज जी चान्दमल जी कोठारी सवामपुरा
४० श्री चम्पालाल जी अमरचन्द जी कोठारी सवामपुरा
४१ श्री पुखराज जी दोलचद जी कोठारी सवामपुरा
४[illegible] श्री० [illegible] जी कावरिया, [illegible]

४३ शा० मिट्ठालाल जी कातरेला, वगडीनगर
४४ शा० पारसमल जी लक्ष्मीचद जी काठेड, व्यावर
४५ शा० धनराज जी महावीरचद जी खीवसरा, बैंगलोर-३०
४६ शा० पी० एम० चोरडिया, मद्रास
४७ शा० अमरचद जी नेमीचद जी पारसमल जी नागोरी, मद्रास
४८ शा० वनेचद जी हीराचद जी जैन, सोजतरोड (पाली)
४९ शा० झूमरमल जी मागीलाल जी गूदेचा, सोजतरोड (पाली)
५० श्री जयतीलाल जी सागरमल जी पुनमिया, सादडी
५१ श्री गजराज जी भडारी एडवोकेट, वाली
५२ श्री मागीलाल जी रैंड, जोधपुर
५३ श्री ताराचद जी वम्ब, व्यावर
५४ श्री फतेहचद जी कावडिया, व्यावर
५५ श्री गुलावचद जी चोरडिया, विजयनगर
५६ श्री मिश्रराज जी नाहर, व्यावर
५७ श्री गिरधारीलाल जी कटारिया, सहवाज
५८ श्री मीठालाल जी पवनकवर जी कटारिया, सहवाज
५९ श्री मदनलाल जी सुरेन्द्रराज जी ललवाणी, विलाडा
६० श्री विनोदीलाल जी महावीरचद जी मकाणा, व्यावर
६१ श्री जुगराज जी सम्पतराज जी वोहरा, मद्रास
६२ श्री जीवनमल जी पारसमल जी रेड, तिरुपति (आ० प्रदेश)
६३ श्री वकतावरमल जी दानमल जी पूनमिया, सादडी (मारवाड)
६४ श्री मै० चन्दनमल पगारिया, औरगावाद
६५ श्री जसवतराज जी सज्जनराज जी दुगड, कुरडाया
६६ श्री वी० भवरलाल जैन, मद्रास (पाटवा)
६७ श्री पुखराज जी कन्हैयालाल जी मूथा, वेडकला
६८ श्री आर० प्रसन्नचद चोरडिया, मद्रास
६९ श्री मिश्रीलाल जी सज्जनलाल जी कटारिया, सिकन्द्रावाद
७० श्री सुकनचद जी चादमल जी कटारिया, इलकल
७१ श्री पारसमल जी कातीलाल जी वोरा, इलकल
७२ श्री मोहनलाल जी भवरलाल जी जैन (पाली) वैगलूर

७३ शा० बी० एम० मङ्गलचन्द जी जैन (गोडवाडी)
C/o मङ्गल टेक्सटाईल्स २६/२८ फर्स्ट फ्लोर मूलचंद मारकेट
गोविन्दप्पा नायकन स्ट्रीट, मद्रास १

७४ श्रीमती राजकंवर बाई धर्मपत्नी नाथीमलजी कटारिया C/o पृथ्वीराजजी
प्रतापचन्द जी कटारिया की पोल मु० पो० पाली (राज०)

७५ शा० भागराज जी रूपचन्द सींवसरा C/o रूपचन्द विमलकुमार
पो० परमाकुडी, जिला रामनाड

७६ शा० माणकचन्द जी भंवरीलाल जी पगारिया C/o रमीचंद मोहनलाल जैन
१७ चिक्की पेट मेन रोड, बेंगलोर ५३

७७ शा० नारायण जी जवरीलाल जी जैन कपड़ा बाजार, जोधपुर (महामंदिर)

७८ शा० कुन्दनमलजी भण्डारी—मु० पो० रीयांज

७९ शा० मोहनचन्द जी पारख १६ गोविन्दप्पा स्ट्रीट मद्रास १

८० शा० चम्पालाल जी रतनचन्दजी जैन (मद्रास)
C/o शा० रतनचंद जैन—४०३/७ बाजार रोड मैलापुर मद्रास ४

८१ शा० भंवरलाल जी मांगीलाल जी बागरी मु० पो० गांधीनगर वाया पीपाड़
सिटी (राज०)

८२ शा० सुगनराज जी चम्पालाल जी नाहर C/o पन्ना इम्पोरियम ६६५
चीकपेट बेंगलोर ५३

८३ शा० मदनलाल जी पुखराज जी रोशनलाल जी नाहर C/o हीरालाल एण्ड
कम्पनी नं० ८६ मामूलपेट मुनिस्वामी गारडन बेंगलोर २

८४ शा० एम० मांगीलाल जी नथमलजी समदड़िया नागराज पेट नं०
६८/३ मेन रोड बेंगलोर १८

८५ शा० मोहनलाल जी धर्मीचन्दजी बोहरा C/o मागीराम रोशनलाल नं० ६ म
नं० ४६ नगरथ स्ट्रीट बेंगलोर २

८६ शा० धनराज जी चम्पालाल जी समदड़िया नं० २२६ मीलरोड
बेंगलोर ५३

८७ शा० किशोर जी पुखराज जी बाफना C/o पुखराज मोतीलाल नं०,
बसवन गुड़ी

८८ शा० भागचन्द जी शान्तीलाल जी सीनी (सोलिसिटर) C/o श्रीपाल कुमार
हैदराबाद ३/६/२६८, ४/१ हैदराबाद (A P)

८९ शा० जे० बीजेराज जी कोठारी C/o कीचयालेन काटन पेट, बेंगलोर-५३
९० शा० बी० पारसमल जी मोलकी C/o श्री विनोद ट्रेडर्स राजास्ट्रीट कोयम्बतूर
९१ शा० कुशालचंद जी रीखबचंद जी सुराणा ७२९ सदर बाजार, बोलारम (आ० प्र०)
९२ शा० प्रेमराज जी भीकमचंद जी गोखरू मु० पो० बोपारी वाया, राणावास
९३ शा० पारसमल जी डक (सारन) C/o मायवचंद जी पारसमल जैन म० नं० १२/५/१४८ मु० पो० लालागुडा सिकन्द्राबाद (A. P)
९४ शा० सोभाचंद जी प्रकाशचंद जी गुगलीया C/o जुगराज हीराचंद एण्ड कं० मण्डीपेट—दावनगिरी—कर्णाटक
९५ श्रीमती सोभागनी जी राका C/o भवरलाल जी राका मु० पो० ब्यावर
९६ श्रीमती निरमलादेवी राका C/o वकील भवरलाल जी रांका मु० पो० ब्यावर
९७ शा० जम्बूकुमार जैन दालमील, भैरो बाजार, बेलनगंज, आगरा-४
९८ शा० सोहनलाल जी-मेडतीया सिंहपोल मु० पो० जोधपुर
९९ भवरलाल जी श्यामलाल जी बोरा, ब्यावर
१०० चम्पालाल जी काटेड, पाली (मारवाड)
१०१ सम्पतराज जी जयचंद जी सुराणा पाली मारवाड (सोजत)
१०२ हीरालाल जी खाबीया पाली मारवाट
१०३ B चैनराज जी तातेड अलसुर, बेंगलोर (बीलाडा)
१०४ रतनलाल जी घीसुलाल जी समदडीया, खडकी पूना
१०५ मी० नितन्द्र कुमार जी जैन मु० पो० धार (म० प्र०)
१०६ श्रीमान भवरलाल जी श्यामलाल जी बोहरा ब्यावर
१०७ श्रीमान चपालाल जी खांटेर (दलाल) पाली
१०८ श्रीमान सपतराज जी जयचंद जी सुराणा (सोजत) पाली
१०९ श्रीमान हीरालाल जी खाबीया पाली
११० श्रीमान B चेनराज पांन ब्रोकर, बेंगलोर
१११ श्रीमान रतनलाल जी घीसुलाल जी समदड़ीया (केलवाज) पूना

११२ श्रीमान निलेन्द्र कुमार सराफ धार M P
११३ श्रीमान सौरेमल जी पारसमल जी पगारिया, निमार खेडी
११४ श्रीमान पुखराज जी मुथा पाली (मारवाड)
११५ श्रीमान मुकनराज जी भवरलाल जी (पच) सुराणा, पाली
११६ श्रीमान सोहनराज जी हेमावसवाला, पाली
११७ श्रीमान रागमल जी घनराज जी कोठेड पाली
११८ श्रीमान भेरमल जी तनेसरा पाली
११९ श्रीमान वस्तीमल जी शान्तीलाल जी धोका, पाली
१२० श्रीमान जुगराज जी मानराज जी मुथा पाली
१२१ श्रीमान ताराचद जी हुकमीचन्द जी तातेड पाली
१२२ श्रीमान मोहनराज जी बरडीया पाली
१२३ श्रीमान वस्तीमल जी शामी पाली
१२४ श्रीमान K. बस्तीमल जी राजेन्द्रकुमार बोहरा जसनगर (मद्रास)
१२५ श्रीमान बस्तीमल जी जुगराज जी गोलेछिया जसनगर (मद्रास)
१२६ श्रीमान से० गजराज जी मडलेचा मुनाई रत्थलम (मद्रास)

हमारा महत्त्वपूर्ण साहित्य

१	प्रवचन-सुधा	५)
२	प्रवचन-प्रभा	५)
३	धवल ज्ञान धारा	५)
४	साधना के पथ पर	५)
५	जैनधर्म मे तप स्वरूप और विश्लेपण	१०)
६	दशवैकालिक सूत्र [व्याख्या पद्यानुवाद]	१५)
७	तकदीर की तस्वीर	—
८	कर्मग्रन्थ [प्रथम—कर्मविपाक]	१०)
९	कर्मग्रन्थ [द्वितीय—कर्मस्तव]	१०)
१०	कर्मग्रन्थ [तृतीय—बन्ध-स्वामित्व]	१०)
११	कर्मग्रन्थ (चतुर्थ-षडशीति)	१५)
१२	कर्मग्रन्थ (पचम-शतक)	१५)
१३	कर्मग्रन्थ (षष्ठ-सप्ततिका प्रकरण)	१५)
१४	तीर्थंकर महावीर	१०)
१५	विश्ववन्धु वर्धमान	१)
१६	सुधर्म प्रवचनमाला [१ से १०] [दस श्रमण-धर्म पर दस पुस्तकें]	६)

श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति,

पीपलिया बाजार, ब्यावर